ওঁ

নিগমানন্দ

सारस्वत ग्रन्थावली—संख्या ३

ॐ जयगुरु ॐ

# ज्ञानीगुरु

अथवा

## ज्ञान और साधना-पद्धति

अनाद्यन्तावभासात्मा परमात्मेह विद्यते।
इत्येव निश्चयं स्फारं सम्यग् ज्ञानं विदुर्बुधाः॥

—योगवाशिष्ठ

प्रणेता

परिव्राजकाचार्य परमहंस

**श्रीमत् स्वामी निगमानन्द सरस्वती**

अनुवादक पं० जयकान्त झा 'श्रुतधर'

प्रकाशक

स्वामी सिद्धानन्द सरस्वती

आसाम-बङ्गीय सारस्वत मठ, हालिशहर

२४ परगणा, पश्चिम बङ्ग, ७४३१३४



द्वितीय संस्करण—अक्षय तृतीया, सम्वत् २०४४

मूल्य ३०.०० रु०

पुस्तक मिलने का पता :—

१। आसाम वंगीय सारस्वत मठ, पो० हालिशहर (७४३१३४)
जिला : २४ परगना, प० बङ्गाल

२। महेश लाईब्रेरी २।१ श्यामाचरण दे स्ट्रीट, कलकत्ता—७३

३। डी. २८।१८०, पाण्डे हवेली, वाराणसी—२२१००१

४। अम्बिका पुस्तक सदन, शङ्कर आश्रम, पो०-ज्वालापुर, हरिद्वार।

५। धार्मिक पुस्तकालय, विश्राम बाजार, मथुरा, उ० प्रदेश।

---

मुद्रक : डिवाइन प्रिन्टर्स, बी. १३/४४ सोनारपुरा, वाराणसी
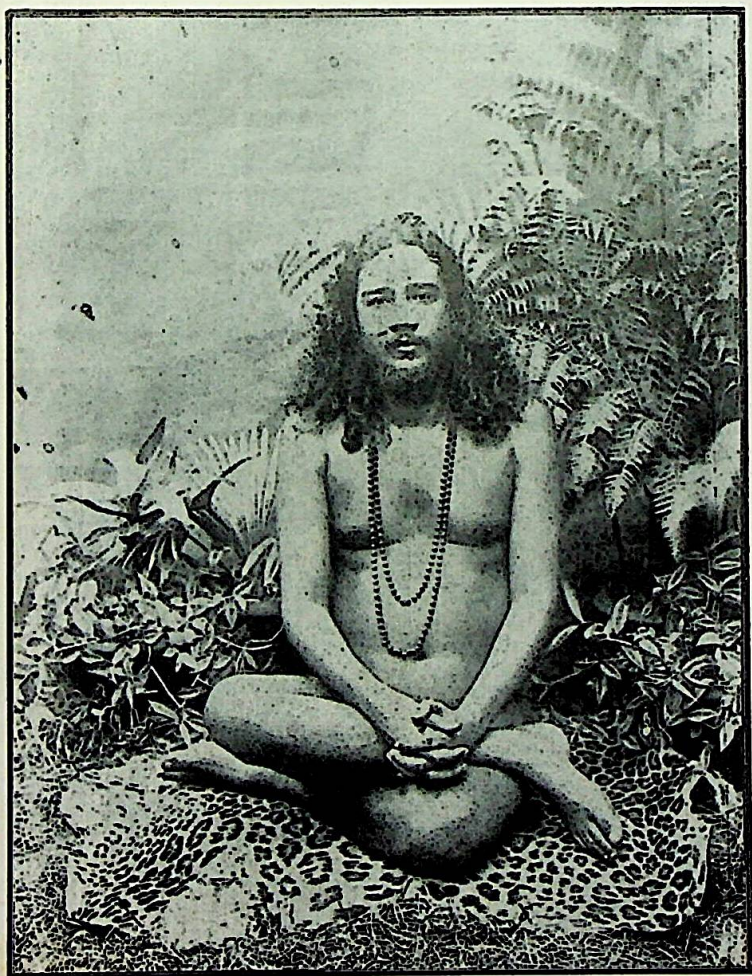
श्रीश्री१०८ स्वामी निगमानन्द सरस्वती परमहंसदेव

ॐ तत् सत्

# उत्सर्गपत्र

## पूज्यपाद पितृदेव की सेवा में

देव !

नितान्त अकृतज्ञ की भाँति आप लोगों का परित्याग कर मैंने जिस कठोर पथ का अवलम्बन किया है, उसमें सफलता लाभ करना आपके आशीर्वाद पर ही पूर्णरूप से निर्भर है।

क्योंकि शास्त्रानुसार—

पिता स्वर्गः पिता धर्मः पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥

पुत्र समस्त दोषों से युक्त होने पर भी पिता के निकट क्षमा पात्र ही होता हैं। इसी कारण आपके आशीर्बाद से जगत्पिता मुझे मंगलपथ पर जिस प्रकार ले जा रहे हैं, उसीके निदर्शन-स्वरूप यह पुस्तक आपके चरणों में निवेदित कर रहा हूँ।

शास्त्रों में पढ़ा है कि, पुत्र के होने पर ही मानव पितृ-ऋण से मुक्त होता है। किन्तु मैं तो इस समय अध्यात्म जगत् का संसारी (गृहस्थ) हूँ—"साधना" ही मेरी पत्नी है। उसके गर्भ

से "ज्ञान" नाम का पुत्र और "भक्ति" नाम की कन्या का लाभ हुआ है। कन्या को तो मैं जीवन भर हृदय से लगाकर रखूँगा और पुत्र को आपके चरणों में अर्पण करते हुए आज मैं पितृ-ऋण से मुक्त हुआ। जब हतभाग्य सन्तान की स्मृति जाग्रत होगी, अथवा सांसारिक अशान्ति का हृदय पर अधिकार होगा, तब इस पौत्र को अपने पास बुला लेंगे। जिससे इहकाल में परा शान्ति और परकाल में परमगति लाभ कर सकेंगे। मेरी अन्तिम प्रार्थना यही है कि बाल्यकाल की भाँति चिरकाल तक मुझ पर मंगल दृष्टि रखेंगे।

आपका ज्येष्ठ पुत्र
**श्री नलिनीकान्त**

# ग्रन्थकार का वक्तव्य

नमः परमहंसाय सच्चिदानन्दमूर्त्तये।
भक्ताभीष्टप्रदायाशु साक्षाच्चैतन्यरूपिणे ॥

शिरस्थित श्वेतकमल में हंसासन पर विराजमान नित्याराध्य श्रीश्रीसच्चिदानन्द गुरुदेव के पाद-पङ्कजों में प्रणाम करते हुए उनकी कृपा से प्राप्त ज्ञानगम्य "ज्ञानीगुरु" अथवा "ज्ञान और साधना-पद्धति" आज साधारण पाठकों के अमल-कर-कमलों में निर्मलानन्द पूर्वक अर्पण करता हूँ।

अपनी छात्रावस्था में जब कि मैं विद्यार्थीरूप से पाठ का अध्ययन करता था, उस समय प्राकृतिक भूगोल या भूविद्या पाठ में ग्रहण-भूकम्प आदि के कारण अवगत होने पर हृदय में एक दारुण दुःख के बोझ से दब गया था। वह दुःख मैंने किसी को नहीं बताया और न कोई उसे जान ही सका। समय समय पर मैं अपने मन में सोचा करता था कि ग्रहण-भूकम्प आदि की भाँति हिन्दूधर्म की समस्त बातें ही "नानी की कहानी" के समान हैं। इससे पूर्व अड़ोस-पड़ोस के लोगों से धर्मकथा श्रवण और विधवा मौसी-माता के साथ वटवृक्ष की छाया में पढ़े जानें वाले रामायण-महाभारत के सिवाय किसी भी धर्मशास्त्र का अस्तित्व भी ज्ञात नहीं था। किन्तु तभी से मन में धर्म और साधन-रहस्य की अनुसंधित्सा ( खोज करने की इच्छा ) वृत्ति जाग्रत हो गई थी। मैं अत्यन्त गुप्त रूप से उदासीन की भाँति नीरव भाव से धर्मोपदेश श्रवण और शास्त्रपाठ में मन लगाने लगा। उस समय स्वधर्म ( प्रवृत्ति मार्ग ) में विशेष आस्था न होते हुए भी हिन्दुओं के शास्त्र व्यर्थ की बातें और धर्म को बच्चों के गुड्डे-गुड्डी

के खेल के रूप में सोचना भी महान् कष्टकर हो जाता था। साथ ही यह बात भी मन में स्थान नहीं पाती थी कि—"मैंने कुसंस्कार-ग्रस्त हिन्दूकूल में जन्म लिया है।" इसे चाहें तो आप जातीय अभिमान कह दें, किन्तु परमाराध्य गुरुदेव ने कहा है "यही हमारे पूर्वजन्म का संस्कार है।"

उसके बाद तो कितने ही वर्ष व्यतीत हो गए—इस हृदय में अनेक आशा और उद्योगों की कामना रखकर कितनी ही उछल कूद की। दासत्व की शृङ्खला को गले में पहन कर कूद-फाँद में कितना ही रङ्ग-भङ्ग कर डाला है। महामाया के सम्मोहन मन्त्र से मुग्ध होजर सहस्रावधि सांसारिक घात-प्रतिघातों को सहते हुए भी निद्रित रहा था। सहसा काल के कराल द्रंष्ट्राघात के कारण सुख-स्वप्न भंग होने पर चारों ओर अन्धकार दिखाई देने लगा। दूसरा तो पागल हो जाता, किन्तु मैं तो प्रकृति—देवी के युद्ध से मुंह मोड़ संसार त्याग कर भाग निकला। निभृत वन-जंगल, पहाड़-पर्वतों में साधु-संयासियों के अड्डे में घूमते-घूमते एक दिन शुभलग्न में परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमत् स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती ने गुरुरूप में दर्शन देकर हृदय में अमृत की वर्षा-सी कर दी। मैं कृतार्थ हो गया। उनकी कृपा से भारतीय सनातन शास्त्रों के जटिल रहस्यों का उद्भेदन करने की उचित शिक्षा प्राप्त की। उसी समय बाल्यावस्था की वही अनुसन्धान-वृत्ति जाग उठी और उसके फल-स्वरूप यह जान सका कि पृथ्वी के त्रिकोण, चतुष्कोण या समतल होने आदि की जो बातें अशिक्षितों के मुंह से सुनी थी, वे हिन्दूधर्म की बात नहीं थी; क्योंकि हिन्दूशास्त्र के मतानुसार तों पृथ्वी—

"कपित्थफलवद् विश्वं दक्षिणोत्तरयोः समम्"

—गोलाध्याय

कैथफल के समान दक्षिण और उत्तर की ओर समरूप में है।

जो हिन्दू सूर्यदेव को रथ पर आरूढ़ करवा कर उदयाचल से अस्ताचल की ओर ले जाते हैं, वे भी हिन्दूशास्त्र के यथार्थतत्त्व को नहीं जानते। क्योंकि शास्त्रों में स्पष्ट रूप से लिखा गया है :—

चला पृथ्वी स्थिरा भाति भूगोलो ब्योम्नि तिष्ठति।

—गोलाध्याय

चलती हुई पृथ्वी स्थिर प्रतीत होती है और भूगोल आकाश में स्थिर हैं। इसी प्रकार भास्कराचार्य के गोलाध्याय ग्रन्थ के एक श्लोक को पढ़कर तो विस्मय चकित तथा आनन्द से एकदम पूर्ण हो गया। जिस मध्याकर्षण-शक्ति का आविष्कार करके न्यूटन महाशय ने पाश्चात्य जगत् में युगान्तर उपस्थित कर दिया था और अंग्रेजों के शिष्य भारतीयों में भी अनेक व्यक्ति उस गौरव से ही अपना गौरव समझते हुए ऊर्ध्व-पुच्छ होकर अपने पूर्व-पुरुषों को अस्वाभाविक दोष के दोषी बनाने से नहीं चूके थे, वह तत्त्व आर्य—ऋषियों ने बहुत पहले ही मालूम कर लिया था। यथा :—

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् स्वस्थं गुरु स्वाभिमुखंस्वशक्त्या।
आकृष्यते तत् पततीति भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे॥

"पृथ्वी आकाशस्थ पदार्थ को अपनी आकर्षण शक्ति से नीचे की ओर खींच लेती है। उसका वह आकर्षण पदार्थ के गिरने के रूप में प्रतीत होता है। यदि समानतत्त्व होते तो उसे आकाश से कौन गिराता ?" बस, उसी समय से मैं आर्यऋषियों को गुरु की भाँति हृदय में पूजा करने लगा। उनके प्रचारित शास्त्रों को भक्ति-विश्वास का कारण समझते हुए मैं उसमें विशेष भाव से मनोनिवेश करने लगा। यही कारण है कि आज हिन्दूशास्त्रों के अध्ययन से, तथा गुरुजनों के उपदेश एवं कार्य-कारण की प्रत्यक्षता के फलस्वरूप

हिन्दूशास्त्र और धर्म के सम्बन्ध में जो सत्य मेरे हृदय में प्रगट हुआ है, उसी का कुछ अंश इस ग्रन्थ में व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है। आशा है कि वह परम सत्य अन्यान्य साधुजनों के हृदय को भी स्पर्श करेगा।

मैंने जब "योगीगुरु" नामक गन्थ को प्रकाशित किया, तभी अनेक व्यक्तियों ने मजाक उड़ाते हुए कहा था कि "इस नाटक नावेल (उपन्यास) के रंग में डूबे हुए देश में, थिएटरों की नर्तकियों के युग में, उदासियों का गाना कौन सुनेगा ?" किन्तु ग्रन्थ प्रकाशित होने के कुछ ही दिन बाद मेरी वह धारणा बदल गई और मैंने विशेषरूप से समझ लिया कि इस हिन्दूदेश में आज भी असंख्य हिन्दुओं में हिन्दूशास्त्रों के प्रति आस्था और हिन्दूधर्म पर विश्वास तथा भजन साधनादि की प्रवृत्ति विद्यमान है। भारत में सर्वत्र ही यहाँ तक कि सुदूर सिंहल और ब्रह्म आदि देशों में भी असंख्य हिन्दू "योगीगुरु" ग्रन्थ को पढ़कर पत्र द्वारा अपने जिज्ञास्य विषय को पूछ रहे हैं। अनेक व्यक्तियों ने मुझसे प्रत्यक्ष मिलकर उत्साहित किया है। इससे भी अधिक आनन्द का विषय यह है कि उन मिलने वालों में अधिकांश भद्रवंश सम्भूत एवं विश्वविद्यालयों के उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति हैं। उन्हीं के उत्साह से प्रोत्साहित होकर मैं इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने का साहस प्राप्तकर उद्यत हो सका हूँ। फिर भी ऐसी दशा में अनेक हिंसा-परायण बैल-बुद्धि विशिष्ट (अल्पबुद्धि वाले) व्यक्ति मेरे उद्देश्य को न समझते हुए सैकड़ों बातें कह सकते हैं। किन्तु उनकी प्रलापोक्ति (व्यर्थ की बातों) पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि—

हाथी चला बाजार में, कुत्ते भुके हजार।  
साधुन का दुर्भाव नहिं, जो निन्दे संसार॥

इस ग्रन्थ में उच्चकोटि की कुछ साधन-पद्धतियाँ लिखी गई हैं। इस बात को मैं भली भाँति जानता हूँ कि मौखिक उपदेश से ही कोई भी साधक साधना के लिए सक्षम नहीं हो सकता जब तक कि हाथों हाथ साधन-कौशल प्रत्यक्ष दिखलाया न जाये। इसीलिए अकारण साधन-रहस्य सर्वसाधारण के सम्मुख प्रगट न करते हुए कुछ साधनतत्त्वों की मोटी-मोटी बातें ही इसमें लिखी गई हैं। सुकृतिवान् साधकों की आकांक्षा का उद्रेक करना ही मेरा प्रधान उद्देश्य है। जन्म-जन्मान्तर के कर्म-गुण से यदि किसी को इस ग्रन्थ में लिखित किसी साधना में प्रवृत्ति हो तो मेरे पास आने पर मैं विशेष-रूप से उन्हें सविशेष बताने के लिए बाध्य हूँ।*

इस ग्रन्थ में सर्वसाधारण के आचारित धर्म के गूढ़तत्त्व एवं उच्च अधिकारियों के लिए ब्रह्मविचार, ब्रह्मज्ञान-लाभ और उसकी साधना प्रभृति आर्यशास्त्रों के जटिल तत्त्व एवं महान् भाव यथासाध्य सरल-रूप से और सरल भाषा में व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु इस बात को स्वीकार किए बिना काम नहीं चल सकता कि आर्यशास्त्रोक्त विशाल धर्मतत्त्वों का विश्लेषण कर सकना मेरे समान क्षुद्रतम व्यक्ति के लिए साध्यातीत है। मैं कहाँ तक सफल हो सका हूँ, इसे बताना गुणग्राही साधकों के विवेचन का विषय है। एक बात और भी है कि इस पथ के पथिकों के अतिरिक्त दूसरों के लिए इन तत्त्वों को हृदयङ्गम करना कठिन है। अर्थात् केवल भगवान् की कृपा ही इन्हें समझने का श्रेष्ठ उपाय है।

इस ग्रन्थ में देवलोक और देवताओं की आध्यात्मिक व्याख्या की गई देखकर कोई मन में यह न समझ ले कि मैंने प्रकारान्तर से निरा-

---

* ग्रन्थकार-पूज्यपाद स्वामी निगमानन्दजी का ब्रह्मनिर्वाण बङ्गाब्द १३४२ के अग्रहण महीने में हो गया है। —प्रकाशक

रज-तम संयुक्त यह विश्व है, यदि भेदाभेद करोगे तो अवश्य ही नरक मिलेगा; द्विभाव (दो प्रकारके भाव) से अवश्य भाव-हीन हो जाओगे।

(६) मेरे हृदय में काली (आद्या-प्रकृति) की मूर्ति बस गई है, यह सारा रहस्य समझ कर ही मैं काली से प्रेम करता हूँ। अतः मैं आनन्द से काली-काली पुकारता हूँ, इसी से कि "लाल" यानी यमराज के मुख कर काली लगा दूँ।

नदिया, कुतुबपुर ३।२।१३०७
बङ्गाब्द

—:०:—

# सूचीपत्र

## प्रथम खण्ड—नानाकाण्ड



## द्वितीय खण्ड—ज्ञानकाण्ड

## तृतीय खण्ड—साधनाकाण्ड



*

# प्रथम खण्ड

## नानाकाण्ड

# एकमेवाद्वितीयम्

## गीत

### मूलतान—एकताला

माँ आमार हयेछे काली-काला काले।
अबोध मानवे भिन्न बले,—यारा विषय-विषे भोला,
ताराई केह काला, केह वा काली-बले ॥

काली ह' ते शूली किन्तु पत्नी घोषे ?
लक्ष्मीरूपे से-ई, सेवे श्रीनिवासे,
आबार शुनि (ओरा) छिल ऐ गर्भावासे,
भेदभावे रिशे, मिशे दले ॥

आद्याशक्ति माता देव-दुःख तरे
लये असि—पाशाङ्कुश चतुष्करे,
लोलजिह्वा लम्बोदरी मूर्ति धरे,
दानव दले नाशिते :—

आबार भूभार—हरण कारणे
असि त्याजे बाँशी निल वृन्दावने,
गोपाल हइया गोपाल भवने
चराले गोपाल कदमतले ॥

दीन नलिनीकान्त युग्म करे कय,
सत्त्व-रजस्तमे एक विश्वमय;
भेदाभेदज्ञाने नरक निश्चय
द्विभावे अभाव पड़े :—

पड़ेछे आमार हृदयेते काली
जेने ताई आमि भालवासि काली
हये कुतुहली बलि काली-काली
कालेर मुखे काली दिव वले

नदिया—कुतुबपुर, ३।२।१३०७
बङ्गाब्द

# एकमेवाद्वितीयम्

## गीत

### मूलतान-एकताला

(१) मेरी माँ इस काला-( कलियुग )-काल ( समय ) में काली बन गई है। अबोध मानव उसे भिन्न कहता है, अर्थात् जो विषयरूपी विष से भोले हैं; उनमें कोई कहते हैं कि माँ "काला" है और कोई कहते हैं कि माँ काली है।

(२) काली (आद्याप्रकृति) से शूली (शिव) का जन्म हुआ है: परन्तु विश्व में विदित है, कि वह शिव की पत्नी हैं। वही काली पुनः लक्ष्मी का रूप धारण कर श्रीनिवास (हरि) की सेवा करती है। फिर सुनता हूँ कि वे दोनों भेदाभेद शून्य होकर एक दल (कमल) में मिल-कर गर्भावास में विराजते हैं।

(३) देवताओं के दुःख के कारण आद्याशक्ति माता लोलजिह्वा, लम्बोदरी मूर्ति धारण कर चारों हाथों में असि, पाशांकुश लेकर दानव-दल को नाश करती है;

(४) फिर भू के भार (वोझ) हरण के लिये उसको त्याग कर, वृन्दावन में उसने वंशी को हाथ में ले लिया है और स्वयं गोपाल होकर गोपाल (ग्वाला) के भवन (गृह) में कदम्ब के वृक्ष के नीचे गो-पाल (गोसमूह) को चराया है

(५) दीन नलिनीकान्त युगल कर जोड़ कर कहता है, कि सत्व-

कारवादियों का पक्ष समर्थन करके साकारवाद को उड़ा दिया है। मैं तो स्थूल-सूक्ष्म, सान्त-अनन्त, और साकार-निराकार प्रभृति भगवान् के सभी स्वरूपों में विश्वास करता हूँ। किन्तु यह ग्रन्थ तो ज्ञानशास्त्र है। ज्ञानी के मतानुसार जब प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला जीव-जगत् भी मिथ्या है, तब इस जड़ जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय कारिणी सूक्ष्म अदृष्टशक्ति रूपिणी देवता भी यदि कल्पित रूपक कह दी जाय तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ?

अन्त में मैं कृतज्ञचित्त से बतलाना चाहता हूँ कि इस ग्रन्थ को प्रकाशित करते समय शास्त्रज्ञानी पण्डितों के विश्वास के लिए वेद, उपनिषद्, दर्शन, संहिता, गीता, तन्त्र, पुराण प्रभृति आर्षशास्त्रों से प्रमाण उद्धृत किये हैं। जिन पाश्चात्य विद्वानों का मत उद्धृत किया है, उनका अनुवाद जान बूझकर ही नहीं दिया गया है; क्योंकि अँग्रेजी न जानने वाले पाठक उस अंश को छोड़कर पढ़ने पर भी किसी प्रकार के अभाव का अनुभव नहीं करेंगे। अतएव हंस के समान नीर-क्षीर विवेकी पाठक दोषांश का परित्याग कर यदि अपने कर्त्तव्य में तत्पर हुए तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा। किमधिकविस्तरेण ?

दुर्गापुर, शान्ति-आश्रम,<br>जन्माष्टमी १३१५ बंगाब्द

भक्तपदारविन्द-भिक्षु<br>दीन-**निगमानन्द**

# ज्ञानी गुरु

## प्रथम खण्ड—नाना काण्ड

## धर्म क्या है ?

धर्म-तत्त्व को जानने से पहले "धर्म क्या है ?" इसे विशेष रूप से जान लेना आवश्यक है। ऐसी दशा में प्रश्न होता है कि "धर्म किसे कहा जाय ?"

**"ध्रियते धर्म इत्याहुः स एव परमः प्रभुः ॥"**

अर्थात् जो धारण किया जाय, उसी का नाम धर्म है। पुण्य क्या है ? पाप क्या है ? ज्ञान क्या है ? अज्ञान क्या है ? सुन्दर क्या है ? असुन्दर क्या है ? सारांश अच्छा क्या है और बुरा क्या है ? आदि-आदि में जिसे जो धारण करता है वही उसका धर्म है। लोक-त्रय अथवा जगत्त्रय जिससे धृत वा निहित (स्थापित) है, उसी को धर्म कहते हैं। सब लोग जिसे धारण किए हुए हैं, वही धर्म है। केवल समस्त लोग ही नहीं, महदादि अणु पर्यन्त भुवनत्रय (तोनों लोक) में जिस किसी की सम्भावना हो सकती है वह सब ही धर्म-द्वारा धृत (धारण किया हुआ), रक्षित और परिचालित है। धर्म ही जगत्-यन्त्र का यन्त्री (चलाने वाला) है। धर्म ही सुख का स्वरूप है। धर्म के लिए ही सभी संसार के सभी पदार्थों की आकुल आकांक्षा से दौड़-धूप कर रहे हैं।

देवता, मनुष्य, कीट, पतङ्ग, उद्भिद्, और जड़पिण्ड प्रभृति त्रिलोक के यावन्मात्र पदार्थ हैं, उनके लिए भी धर्म एवं साधना की आवश्यकता है। इसी कारण मनुष्य के लिए धर्म है और धर्म ज्ञान भी है; किन्तु पशुपक्षी, कीट-पतंग, एवं उद्भिदादि का धर्म होने पर भी उन्हें धर्म-ज्ञान नहीं है। धर्मज्ञान होने के कारण ही मनुष्य अन्यान्य प्राणियों से श्रेष्ठ, है और एक बात यह है कि मनुष्य जीव-सृष्टि का परमोन्नत रूप है।

मनुष्य देह ही धर्म-साधना के लिए उपयुक्त क्षेत्र है। इसी कारण वह जन्म-जन्मान्तर के अनुशीलन-द्वारा धर्म-ज्ञान में समुन्नत होकर साधन पथ में अग्रसर हो सकता है। इसीलिए इच्छा करने पर मनुष्य सहज ही धर्म साधना में सफलता प्राप्त कर सकता है; किन्तु अन्यान्य जीव ऐसा नहीं कर सकते। फिर भी वे धर्म के द्वारा ही परिचालित और रक्षित हैं। मनुष्य इस विषय में अनेक अंशों में स्वाधीन है—इतर जीव प्रकृति के आधीन हैं।

हर्वर्ट-स्पेन्सर प्रभृति पाश्चात्य वैज्ञानिक गण कहते हैं कि "क्रम विवर्त्तन-वाद के अनुसार बालू का एक महामहीधर कण (विशाल पर्वत) में परिणत हो सकता है; या वह मनुष्य बन कर ज्ञान की अनन्त ज्योति को विकीर्ण भी कर सकता है।" बात बिल्कुल ठीक है। बालू (रेती) के कण का धर्म है, वही उसे उन्नति के पथ पर आकर्षण कर ले जाता है और क्रम विवर्तन वाद के कारण कहिए या जन्मान्तरीय उन्नति पथ के कारण समझिये, धर्म उसे क्रमशः अनेक जन्मों के मार्ग से मनुष्य में परिणत कर देता है। इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है? किन्तु इस रेती के कण की क्रमोन्नति भी प्रकृति के धर्म द्वारा ही सम्पादित होती है और मनुष्य को धर्मज्ञान न होने के कारण ही इच्छा करने पर वह उन्नति की सीमा पर पहुँच सकता है।

तथापि इसी के साथ-साथ केवल मनुष्य होने से ही उसे धर्मज्ञान

प्राप्त हो जाने की बात सर्वत्र स्वीकार नहीं की जा सकती; क्योंकि पहाड़-पर्वतों और वनों-जंगलों में तथा अनेक असभ्य देशों में रहने वाले ऐसे अनेक असभ्य और जंगली मनुष्य आज भी विद्यमान हैं, जो धर्म क्या है ? इसे नहीं जानते और न किसी प्रकार से धर्म का अनुशीलन या उसकी कोई साधना ही करते हैं। यहाँ तक कि सभ्य समाज में जन्म लेकर भी अनेक मानव धर्म की ओर नहीं देखते। शिथिल-चर्म श्वेतकेशधारी वृद्ध भी आत्म-सुख में निमग्न होकर जीवन के शेष दिन विता देते हैं किन्तु इतने पर भी उसका धर्म तो होता ही है—हाँ उसे धर्मज्ञान नहीं होता। धर्मज्ञान हो या न हो, किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि तुच्छ रेती के कण से लेकर पशु-पक्षी ही नहीं, देवताओं तक का धर्म अवश्य है; एवं वह धर्म ही सबको धारण किए हुए हैं, तथा क्रम-विवर्तन वाद के अनुसार सबको उन्नति के पथ पर खींच ले जाता है।

अब हमें यह देखना चाहिए कि पशु आदि अन्य सब जीवों से मनुष्य श्रेष्ठ क्यों है ? पशु की भाँति आहार-निद्रा और मैथुन प्रभृति आत्म-सुख में निमग्न रह कर भी क्या हम सृष्टि के श्रेष्ठजीव होने के नाते स्पर्धा कर सकते हैं ? यदि ऐसा ही होता, तो मनुष्यत्व और पशुत्व में भेद ही क्या रह जाता ? मनुष्य में धर्मज्ञान है; और स्वाधीन भाव से उसकी परिचालन-शक्ति भी विद्यमान है; इसी कारण जगत्-पिता (परमात्मा) द्वारा केवल-मात्र मनुष्य को ही उस शक्ति से सम्पन्न किये जाने से हम जीवसृष्टि में श्रेष्ठासन प्राप्त किये हैं।

जो लोग धर्म का अनुशीलन या उसकी साधना करते हैं, वे ही प्रकृत (यथार्थ) मनुष्य हैं और जो आहार, निद्रा एवं मैथुन में लवलीन होकर जीवन अतिवाहित करते हैं वे मनुष्य देहधारी पशु मात्र हैं। अतएव मनुष्य-जीवन धारण करके धर्म ज्ञान प्राप्त करना ही मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है। कोई-कोई यह भी सोचते हैं कि

जब स्वाभाविक धर्म के कारण सभी क्रमोन्नति के पथ पर चले जाते हैं, तब हम भी किसी दिन अपने आप उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच जायेंगे; फिर इसके लिए अलग प्रयत्न क्यों करें? यद्यपि एक दिन तो हम उन्नति की चरम सीमा पर अवश्य पहुंच जावेंगे, किन्तु वह कितने दिनों बाद? कितने युग, कितने कल्प बिताने पर? कितने शत-शत देह लय हो जायेंगे, कितना त्रिताप-ज्वाला में जलना पड़ेगा, उसकी कुछ भी निश्चित सीमा नहीं है। परन्तु वह क्षमता मनुष्य के अपने अधिकार में है। इच्छा करने पर मनुष्य इसी जन्म में उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच सकता है। भगवान् ने मनुष्य पर दया करके उसे यह शक्ति दी है और इसी की साधना से उसे सृष्टि का श्रेष्ठ जीव बनाया है। वह शक्ति क्या है?—"धर्मज्ञान"।

मनुष्य-कुल में जन्म लेकर भी जब तक उसको धर्म-ज्ञान नहीं होता है तब तक वह पशु के समान है। यदि प्राप्त-वयस्क व्यक्ति को भी धर्म ज्ञान न हो, तो उसे भी पशु कहा जा सकता है। अतएव मनुष्य देह धारण कर धर्म की आलोचना एवं साधना के द्वारा पशुत्व से मुक्त होना तथा प्रकृत मनुष्यत्व प्राप्त करना प्रत्येक का कर्तव्य है। किन्तु केवल मनुष्यत्व लाभ कर लेना मात्र ही उन्नति की चरम-सीमा नहीं है, वरन् पशुत्व-परिहार करते हुए धर्मानुशीलन-द्वारा मनुष्यत्व लाभ करने पर देवत्व लाभ करने की चेष्टा करनी चाहिए। देवत्व-लाभ होने पर ब्रह्मोपासना-द्वारा ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त किया जाता है। मनुष्य में वह शक्ति विद्यमान है। उसी शक्ति के कारण ही वह सृष्टि के मनुष्येतर जीवों से श्रेष्ठ है। जिसके अनुशीलन से मनुष्य पशुत्व से मुक्त होकर क्रमशः ब्रह्म-सायुज्य लाभ कर सकता है, उसी का नाम "धर्म" है और उसी के अनुशीलन का नाम है "धर्म-साधना"।

# धर्म की प्रयोजनीयता

धर्म क्या है? इस बात को समझ लेने पर धर्म-साधना की आवश्यकता स्वयमेव ही मन में उत्पन्न होती है; किन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में कुछ विचार करना उचित होगा।

परिदृश्यमान जगत् के उच्चश्रेणी के जीव मनुष्य से लेकर अत्यन्त निम्न श्रेणी के जीव कीट-पतङ्गादि तक सभी अहोरात्र सुख प्राप्ति के लिए लालायित हैं और सुख के लिए प्रतिक्षण व्यस्त रहते हैं। उनके स्वभाव, गति और व्यवहार को देखते ही पता लग जाता है कि सुख की आशा तो सभी कर रहे हैं, परन्तु सुखी है कौन? अनुसन्धान करने पर पता लगता है कि पृथ्वी के एक-छत्राधिपति सम्राट् से लेकर ठेठ कुटीर-निवासी भिखारी सभी आशा-आकांक्षा के तीव्र-दर्शन से निरन्तर अस्थिर हो रहे हैं। धन, जन, बल, रूप, ऐश्वर्यादि, ख्याति, प्रतिपत्ति, मान, सम्मानादि किसी भी बात से मनुष्य-सन्तुष्ट नहीं है। आकांक्षा-रूपिणी राक्षसी के मायाजाल से कोई भी नहीं बच सका है। चन्द्रिकामयी वसन्त-यामिनी के मध्यभाग में यूथिका (जुही-सुगंध-पुष्प) शय्या पर शयन करके भी दिल्ली के प्रबल प्रतापी सम्राट् गण सुखी नहीं हो सके। संसार में किसी की भी सम्पूर्ण आशायें पूर्ण नहीं होती—किसी की भी साध (वासना) नहीं मिटती। कोई यदि एक विषय में सुखी है तो अन्यान्य पाँच विषयों में निरन्तर मनः कष्ट पूर्वक काल यापन करता है तब सुखी कौन है? सुख कहाँ है?

सुख का अर्थ है ( सु-उत्तम+ख [ज्ञान का]—इन्द्रिय ) इन्द्रिय-शक्ति का स्वभाव, नियमित स्फूर्ति, तृप्ति और सामञ्जस्य। आत्मा की विशेष शक्ति का नाम इन्द्रिय है। इसलिये कहा जा सकता है कि आत्म-शक्ति, ज्ञान की स्फूर्ति, तृप्ति और सामञ्जस्य

ही सुख है; और धर्म उस सुख प्राप्ति का उपाय है। धर्म के द्वारा ही इन्द्रिय शक्ति की पूर्ण स्फूर्ति, तृप्ति और सामञ्जस्य की सिद्धि हो सकती है।

"सुखं वाञ्छति सर्वो हि तच्च धर्मसमुद्भवम् ।
तस्माद्धर्मः सदा कार्यः सर्ववर्णैः प्रयत्नतः ॥"

दक्ष-संहिता ३।२३

सभी लोग सुख की इच्छा करते हैं; किन्तु सुख का उद्भव धर्म के द्वारा होता है। अत एव सबको यत्न पूर्वक सदैव ही धर्माचरण करना चाहिए। धर्माचरण के द्वारा ही इन्द्रिय-शक्ति की सम्यक्-स्फूर्ति, तृप्ति और सामञ्जस्य की साधना करने के बाद सभी प्रकार से जगत् के (बाह्य, आन्तर, बौद्ध और अध्यात्म) यथार्थ तत्त्व को आत्मा में उपलब्ध करने से ही सुख की प्राप्ति होती है। वही सुख स्थायी होता है और उसी में आनन्दोच्छ्वास की मृदु-मधुर लहरी-लीला विद्यमान है। तथा वहाँ लालायित-आकांक्षा की लपलपाती हुई जिह्वा का प्रसार और अनलमयी आँधी नहीं है।

एक बात और है, संसार में सब प्रकार से सुख होने पर भी यह सुख चिर स्थायी नहीं है। क्योंकि शरीर के छूटने पर परलोक के मार्ग में धन-जन स्त्री-पुत्र, बन्धु-बांधव कोई भी साथ नहीं देता, उस समय तो केवल धर्म ही साथ जाता है।

"एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ॥"

इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जीव स्वाधीन है और धर्म—प्रवृत्ति उसकी स्वाधीन-वृत्ति है—अविद्या या माया उसे मोह के गर्त में गिरा देती है। अतएव मनुष्य का कर्तव्य है कि जिस उपाय द्वारा माया के पाश से उद्धार पाकर आत्मोन्नति हो सकती है, आत्म-प्रसाद की प्राप्ति होकर कामना वासना के विकार दूर हो सकें, वही

करें। आत्मा सुख या दुःख कुछ भी नहीं चाहती। आत्मोन्नति ही दुर्लभ मनुष्य-जन्म का ध्येय है और इस आत्मोन्नति का मूल कारण (साधन) धर्म है; इस बात का संसार के सभी ज्ञानियों ने अनुमोदन किया है। सुनिये, पाश्चात्त्य धर्म गुरु भी कहते हैं—

Not enjoyment and not Sorrow,
Is our destined end or Way,
But to act, that each to-marrow,
May and Further than to-day,

केवल आत्मोन्नति ही नहीं; अर्थनीति, राजनीति और समाज-नीति के मूल में भी धर्म निहित है। अतएव धर्म के समान बन्धु दूसरा और कौन हो सकता है? इस लोक की चर्चा को छोड़ देने पर भी उस परलोक में—उस अज्ञात-अपरिचित देश में; उस पाप-पुण्य-वासना-शान्ति के देश में, उस नरक-स्वर्ग साधना के देश में, जो अनुगामी होता है; उसके समान आदरणीय स्मरणीय एवं स्नेही बन्धु और कौन हो सकता है? इससे धर्म-साधना की प्रयोजनीयता शायद सभी समझ गए होंगे। धर्म की स्नेहयुक्त भुजाओं में उसकी सुरभि-सुवास के भीतर आत्मा को सुख-पूर्वक रखने के उद्देश्य से ही धर्म की प्रयोजनीयता सिद्ध होती है।

और एक बड़ी बात यह है, कि आत्मा परमात्मा का अंश (द्वैतमतानुसार पार्षद या दास) है, सुतरां ब्रह्मानन्द वा पूर्ण सुख का उसने भोग किया है—उसके स्वाद को वह जानता है। इसीलिये जीव जगत् के उसी सुख के अनुसन्धान में व्यस्त है। किन्तु जीव अविद्या के बन्धन के कारण आत्म-विस्मृत होने से न कुछ जानता है, न कुछ समझता ही है—फिर भी सुख के लिए लालायित रहता है। जीव-मात्र ही सुख की स्पृहा करते रहते हैं। ब्रह्मानन्द की अनुभूति के लिए जीव लालायित हो रहे हैं। सुख की आशा से ही दाता लोग

दान करते हैं, याचक-लोग हाथ नीचा करते हैं। सुख की आशा से ही राज-राजेश्वरी मस्तक पर मुकुट धारण करती हैं और भिखारिणी तृण-गुच्छ (घास-पात) से कुटिया सजाती है। सुख-पिपासा की दुर्निवार ज्वाला से—मद्यपान करने वाला 'डाल, और भी डाल' कहते हुए, बोतल में स्थित द्रव्य-वह्नि की ओर दृष्टिपात करता है। सुख के लिए ही चोर चोरी करता है। कोई रूप-रस या रुपये पैसों की कामना करता है और कोई अनुपयुक्त इन्द्रिय चालन करता है। इसी प्रकार सब जनहितैपी साधुगण सुख तृप्ति के अज्ञात अनुशासन के कारण, दीन-दुखियों को दुःख मुक्त करने की चिन्ता में निमग्न रहते हैं। सुख-तृप्ति की लालसा से ही राजाधिराज धनैश्वर्य का परित्याग करके भिखारी बन जाते हैं और दरिद्र-लोग केवल दस-पाँच रुपये के लिए दूसरों के प्राण ले लेते हैं। तृष्णार्त-मृग जिस प्रकार मरीचिका में जल के भ्रम से दौड़ता है, उसी प्रकार सुख का आभास पाते ही जीव भी उसी ओर दौड़ लगाता है, लेकिन फिर भी संसार में सभी अतृप्त हैं। किसी की भी सुख की आशा निवृत्त नहीं होती है; हो भी कैसे ? संसार के सभी प्रकार के सुख ही उस अनन्त सुख के अंश मात्र हैं और जीव है पूर्ण सुख का भिखारी।

ब्रह्मानन्द की तुलना में राजैश्वर्य तुच्छ हैं; यही कारण है कि राजराजेश्वर मणिमय मयूर-सिंहासन पर विराजमान होकर भी तृप्ति लाभ नहीं कर पाता है। केवल मात्र धर्माचरण से ही उस सुख का उपभोग किया जा सकता है, इसी कारण सर्वत्र ही धर्मसाधना की प्रयोजनीयता स्वीकार की गई है।

# धर्म की सार्वभौमिकता

भगवान् एक हैं, मानवात्मा भी एक ही है, सुतरां धर्म भी एक के सिवाय दो प्रकार का नहीं हो सकता है। महदादि अणु पर्यन्त जिसके द्वारा क्रम-विवर्तन-वाद से उन्नति की चरम-सीमा पर पहुँचते हैं, उसी का नाम धर्म है। सुतरां जगत् के सभी मानव एक ही धर्म के अधीन हैं। फिर भी सारे संसार में साम्प्रदायिकता का इतना बात-वितण्डा, झगड़ा-झंझट -- इतने कोलाहल की सृष्टि क्यों हो रही है ?

सभी देश, सभी मानव, सभी जाति तथा सभी सम्प्रदाय के लोगों का धर्म एक ही है; परन्तु उनके साधन-पथ भिन्न-भिन्न हैं। जीव मात्र को ही शरीर के पोषणार्थ क्षित्यादि पाञ्च-भौतिक पदार्थों की आवश्यकता रहती है। सभी जीव उन समस्त पदार्थों को शरीर-रक्षा के लिए नित्य ही ग्रहण कर रहे हैं। हाँ—तो हिंस्रजन्तु रक्त-मांसमय जीव देह भक्षण करता है एवं अन्यान्य पशु वर्ग तृण-गुल्मादि भक्षण करते हैं। मनुष्य समाज में किसी समाज के लोग घृत, आटा, आदि और किसी समाज के लोग मत्स्य-मांस, तद्रूप किसी समाज के लोग फल-मूल एवं किसी-किसी समाज के लोग मिश्रित पदार्थोत्पन्न भोज्य के भक्षण से पाँच भौतिक पदार्थों द्वारा शरीर को परिपूर्ण करते हैं। सभी का मुख्य उद्देश्य है—क्षुधा की शान्ति करना एवं गौण उद्देश्य है शरीर का पोषण करना; परन्तु उद्देश्य एक होने पर भी जिस प्रकार उसको पूर्ण करने के पन्थ भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं; उसी प्रकार धर्म एवं उसकी साधना का उद्देश्य एक होने पर भी साधना-प्रणाली भिन्न-भिन्न प्रकार की होने से, सारे जगत् के मानवों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के धर्म-सम्प्रदाय सृष्ट हुए हैं। मूलतः धर्म का उद्देश्य एक ही है।

मनुष्य के सिवाय, पशु-पक्षी जड़-पिण्डादि की क्रमोन्नति का

धर्म प्रकृति के हाथ में है; इसी कारण उनका धर्म, उन सबको सम-भाव से—समान गति से उन्नति की ओर सतत अग्रसर कर रहा है। परन्तु मनुष्य स्वाधीन जीव है। धर्म की परिचालना-द्वारा आत्मोन्नति हो, यह भी उसकी इच्छा के अधीन है। इसी कारण विभिन्न देशों के भिन्न-भिन्न समाज के मनीषियों धर्म-साधना प्रणाली विभिन्न होने से ही सम्प्रदायों की सृष्टि हुई है! जिसे जैसा ज्ञान है,—जिसमें जैसी प्रतिभा है, जैसी साधन-शक्ति है, उसने उसी रूप में आत्मा की उन्नत अवस्था सोचकर उस (अवस्था) की प्राप्ति का उपाय उद्‌भावन करके स्व-स्वसमाज के आचार-व्यवहार के प्रति लक्ष्य रखते हुए धर्मशास्त्र का प्रणयन किया है। सुतरां समाज के अनुसार धर्म-साधना का उपाय निर्धारित होने से अनेक धर्म-सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हुई है। इसी कारण आज अनेक धर्म अनेक मत, तथा अनेक सम्प्रदाय देखने में आते हैं। सुतरां आज जगत् के सभी सम्प्रदायों के समस्त मनीषिवृन्द, धर्म याजक समुदाय अपने-अपने मत, अपनी अपनी धर्मकहानी की शान्त-मधुर-प्रोज्ज्वलव्यवस्था करके मानव हृदय को परितृप्त कर रहे हैं। संसार में मनुष्य का प्राण तथा मनुष्य की अनन्त तृष्णामयी हृदय-वृति शायद धर्म व्याख्या का परम-पवित्र-भाव लेकर ही निशदिन व्यस्त हैं एवं भिन्न-भिन्न भाव से दूसरों को भी समझा रही है।

यह भी देखने में आता है कि जिस सम्प्रदाय ने जितनी सजीवता लाभ की है, उसमें उतने ही शाखा-सम्प्रदाय की सृष्टि हुई हैं। मुसलमानों में सिया; सुन्नी और ईसाइयों में भी प्रोटेष्टेण्ट तथा रोमन कैथोलिक आदि हैं। फिर हिन्दुओं की तो बात ही निराली है --चारों ओर अनन्त सम्प्रदाय स्व-स्व धर्म-भाव से विभोर हो रहे हैं। वर्तमान समय के एक उदाहरण से इस बात को समझाया जाता है :—

वङ्ग देश में जब राजनीति की चर्चा नहीं थी; अथवा कदाचित्

रहने पर भी निर्जीव-अवस्था में दो चार स्व-देशहितैषी व्यक्तियों के हृदय में विद्यमान थी, उस समय जो मानव जो कुछ भी बोलता था, दूसरे उसे चुपचाप सुन लेते थे, कोई मतभेद नहीं था। वंग-भंग होने के बाद से सर्व साधारण के मन में स्वदेशी आन्दोलन तीव्रतर होने लगा एवं राजा के समीप प्रजा का न्यायोचित अधिकार लाभ करने की आशा जाग उठी। जो राजनैतिक-चर्चा इतने दिन निर्जीव-अवस्था में थी उसने फिर सजीवता प्राप्त की। इसी कारण सुरेंद्र बाबू और विपिन बाबू में परस्पर मत भेद हो गया, राजनीतिक क्षेत्र में उक्त दोनों सज्जनों के दो दलों की सृष्टि भी हो गई। फिर भी दोनों के उद्देश्य में भिन्नता नहीं थी—दोनों दल की इच्छा वंग-भंग को रद्द कराना एवं स्वराज्य प्राप्त करना ही था। अर्थात् मूल-उद्देश्य एक था—केवल उद्देश्य साधना की प्रणाली में मत भेद होने से ही भिन्न-भिन्न दल कि सृष्टि हुई। भारत के सुवर्ण-युग में देवकल्प ऋषि-मुनियों ने पर्वत कन्दरा में, भीषण वन जंगल में आजीवन धर्मानुशीलन करके क्रमशः धर्म के स्थूल से लेकर सूक्ष्माति-सूक्ष्म तत्त्व तक के आविष्कार किए थे। कितने ही अतीत काल से उसी की आलोचना, आन्दोलन और साधन रहस्य उद्भेद हो रहे हैं; कितने ही वैज्ञानिक और दार्शनिक इसके सम्बन्ध में वादानुवाद और तर्क-वितर्क कर चुके हैं तथा उसी के फलस्वरूप कितने स्थूल-सूक्ष्म, कितने द्वैताद्वैत, कितने साकार-निराकार, कितने सगुण-निर्गुण, कितने प्रकृति-पुरुष, कितने ज्ञान-भक्ति-कर्म, कितने योग-जप-तप पूजा आविष्कृत हुए हैं, जिसका ठीक हिसाब ही नहीं। उन्हीं में से एक-एक मत लेकर हिन्दू धर्म के अन्तर्गत अनेक शाखा-सम्प्रदायों की सृष्टि हुई है। उक्त शाखा-सम्प्रदाय वर्तमान समय में हिन्दू धर्म की सजीवता का प्रमाण दे रहे हैं। इसी से समझ में आ सकता है कि हिन्दू-धर्म कितना मार्जित (संशोधित) तथा उज्जीवित (उन्नत) हो चुका था। परन्तु उक्त सारे सम्प्रदायों की साधन पथ की

गति एक मुखी रही है, इस गति पथ में ऐसा एक स्थान है जहाँ पहुँचने से शाक्त, वैष्णव, ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, जैन, सिक्ख, पारसी, ब्राह्म आदि सभी एक में ही मिल जाते हैं। धर्म के एतादृश उच्च स्थान पर पहुँचने से स्व-स्व सम्प्रदाय की वात तो दूर रही, मुसलमान, ईसाई आदि के प्रवर्तित धर्म को भी कोई अग्राह्य नहीं कर सकता है—संकुचित भावना जव दूर भाग जायगी – उस समय मुसलमान को "नमाज" पढ़ते देखने से या ईसाई को गिरजे में जाते हुए देखने से मन में अपार आनन्द का उदय होगा एवं हृदय भक्ति-रस में डूब जायगा। * महात्मा रामकृष्ण परमहंस देव ने हिन्दू-धर्म की अनेक सम्प्रदायोक्त साधना में सिद्धिलाभ करने के वाद महमदीय और ईसाई धर्म के अनुसार साधना करके भी सिद्धि लाभ किया था। अतः धर्म की साधन-प्रणाली भिन्न होने पर भी सव का धर्म एक ही है। आशा है इतना समझाने के वाद धर्म की सार्वभौमिकता में किसी को भी अविश्वास नहीं होगा। इसी सार्वभौम-धर्म एवं उसका साधन-रहस्य में इस पुस्तक में लिखने के लिए चेष्टा कर रहा हूं।

# हिन्दू-धर्म

लोक-समाज में जितने प्रकार की धर्म प्रणालियां आज तक प्रचलित हैं। उनमें से हिन्दू-धर्म की भाँति दूसरे किसी भी धर्म की परिणति वा परिपुष्टि नहीं मिलती है।

परन्तु किसी भी धार्मिक मानव से यदि यह पूछेंगे कि "कौन धर्म अच्छा है"? तो वह (मानव) उसी समय उत्तर देगा कि "मेरा ही धर्म सवसे अच्छा है।" रूढ़िवाद अच्छा नहीं है और धर्म के नाम पर रूढ़िवाद का पालन करने से महापातक होता है। अर्थात् धर्म

* सेवक रामचन्द्र प्रणीत रामकृष्ण परमहंस का जीवन चरित्र देखिए।

की निन्दा करने से अवश्य नरक में जाना पड़ेगा इत्यादि । इसी कारण कहना पड़ता कि सभी मानवों की विचार-शक्ति, ज्ञान-शक्ति, और अनुभव-शक्ति विभिन्न प्रकार की है । अतः अनुभव कीजिए, विचार कीजिए, साधना कीजिए—पथ—परिष्कृत (साफ) हो जायगा । जिस धर्म का आचरण करने से मानव स्व-अभिज्ञता से सर्व विषय प्रत्यक्ष अनुभव या प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है, वही श्रेष्ठ धर्म है । इसी कारण मैं हिन्दू धर्म को श्रेष्ठ बता रहा हूं ।

हिन्दूवर्ग ने धर्म को चतुष्पाद-वृष (चार पाँव का बैल) की संज्ञा प्रदान की है यथा :—

"वृषोऽसि भगवान् धर्मश्चतुष्पादः प्रकीर्तितः ।
वृणोमि त्वामहं भक्त्या स मां रक्षतु सर्वदा ।।"

वृषोत्सर्ग पद्धति ।

भावार्थ—धर्म को चतुष्पाद भगवान् वृष कहा है । मैं तुम्हें भक्ति पूर्वक वरण करता हूं मेरी सदैव रक्षा करो ।।
और भी देखिये, मनु महाराज ने कहा है :—

"वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ।।"

मनु संहिता ।

भावार्थ—भगवान् धर्म के वृषभ रूप होने से जो उनकी उपेक्षा करता है । उसे देवताओं ने वृषल कहा है । अतएव धर्म का लोप नहीं करना चाहिये ।

धर्म को चतुष्पाद वृष बताने का उद्देश्य क्या है ? उद्देश्य यही है कि धर्म के चतुष्पाद यानी चार भाग हैं । साधक को यह समझाने के लिए कि चतुष्पाद का आशय वह चार भागों में पूर्ण है । धर्म के एक-एक पाद यानी भाग का आचरण और साधना करने से एक-एक जगत्

का ज्ञान-लाभ होता है। तथा उस विषय में इन्द्रिय-शक्ति की स्फूर्ति, परिणति तथा सामञ्जस्य लाभ होता है। जगत् भी चार ही हैं। चक्षु, कर्ण आदि वाह्य इन्द्रियों की सहायता से जिस जगत् को जाना जा सकता है, उसे (१) वहिर्ज्जगत् कहा जाता है। धर्म के प्रथम पाद के आचरण द्वारा बाहर की दुनिया वश में आता है एवं उस पर अपनी क्षमता स्थापित की जा सकती है। मन अन्तरिन्द्रिय हैं—मन के विषय रूप में जो जगत् प्रकाशित है, उसे ही (२) अन्तर्ज्जगत् कहते हैं। अन्तर्ज्जगत् वृत्तिमय है; वृत्ति मन का विकार है। धर्म के द्वितीय पाद की साधना से इस जगत् पर अपना अधिकार हो सकता है। सत्येन्द्रिय-ग्राह्य जगत् को (३) वौद्ध-जगत् कहते हैं। बुद्धि ही सत्येन्द्रिय का ग्राह्य विषय है। धर्म के तृतीय पाद की साधना से एक अद्वितीय एवं सत्य-स्वरूप भगवान् हमारी बुद्धि से अनुभाव्य होते हैं। इसी से उन्हें जाना जा सकता है। उन पर निश्चयात्मिका बुद्धि की प्रतिष्ठा होने से उनके स्वरूप दर्शन का लाभ होता है। विवेक द्वारा ग्राह्य-जगत् को (४) अध्यात्मजगत् कहते हैं। विवेक ही धर्म ज्ञान का साधन-विषय है। जब विवेक विश्व के सर्व-विषय व वस्तु को तुच्छ समझ कर ब्रह्म को सत्य स्वरूप से प्रतिपन्न करेगा, तभी भगवान् के प्रति गाढ-प्रेम का सञ्चार होगा। धर्म के चतुष्पाद की साधना से इसी भगवत् प्रेम की प्राप्ति होती है। अतः जिस सम्प्रदाय की धर्म पद्धति की साधना से ऐसा विषय प्राप्त होता है वही श्रेष्ठ धर्म है। हिन्दू-धर्म की विधान पद्धति में उक्त चार प्रकार से इन्द्रिय-शक्ति की स्फूर्ति, सामञ्जस्य और परिणति लाभ होने से ही उक्त चारों जगत् के तत्त्व निर्णय का सामर्थ्य प्राप्त होता है एवं सभी विषयों में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। इसी कारण हिन्दूधर्म को श्रेष्ठ कहा गया है।

वर्तमान समय में मर्त्यं धाम में जितने प्रकार के प्रसिद्ध धर्म

प्रचलित हैं उनमें से हिन्दू धर्म जैसी प्राचीन (पुरातन) धर्म-प्रणाली दूसरे धर्म में नहीं है। केवल प्राचीन ही नहीं, इस हिन्दूधर्म का आदि कहाँ है; यह निर्णय करना भी दुःसाध्य है। हिन्दू-धर्म वेद-मूलक है। किन्तु वेद का आदि कहाँ है, यह भी अभी तक निर्णित नहीं हो सका है। यह श्रुति परम्परा से अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। इसी कारण वेद का अन्यतर नाम श्रुति है। हिन्दूशास्त्र के मत में यह श्रुति परम्परागत वेद है। प्रत्येक सृष्टि के समय इसका आविर्भाव होता है। एवं प्रलय के समय विलीन (लय) हो जाता है। सुतरां प्रत्येक कल्प के अन्त में जब वेद का पुनः आविर्भाव होता है, तब यह विश्व—संसार जैसे अनादि तथा नित्यरूप से चिरकाल से प्रगट होता है, वेद भी वैसा ही है। यदि वेद सनातन तथा नित्य होता है, तो यह वेदमूलक धर्म भी तद्रूप सनातन एवं नित्य है। इसी कारण हिन्दूधर्म का अन्यत्र नाम सनातन-धर्म है। इस प्रकार सनातनधर्म का प्राचीनत्व विवेचन करने से बौद्ध, जैन, ईसाई, सिक्ख, पारसी, मुसलमान प्रभृति धर्म प्रणालियों को आधुनिक (अर्वाचीन; नवीन) ही कहना पड़ेगा। फलत: जो आधुनिक है, वह उत्पन्नधर्म है और इन समस्त उत्पन्न एवं आधुनिक धर्मप्रणालियों के साथ हिन्दूधर्म ही उक्त प्रकार से विभक्त हुआ है।

केवल प्राचीनत्व के कारण ही हिन्दूधर्म प्रभिन्न नहीं है; वरन् सारे उत्पन्नधर्म के साथ हिन्दूधर्म की प्रकृति गत विभिन्नता है। गंगा जैसे स्वर्ग से अवतरण कर शतमुख धारण करके पाताल में प्रवेश किया है; हिन्दूधर्म ने भी वैसे ही निवृत्ति-प्रमुख स्वर्गधाम से अवतरण कर प्रवृत्ति प्रमुख शतसम्प्रदायों में विभक्त होते हुए जन-समाज में प्रवेश किया है। परन्तु उन समस्त साम्प्रदायिक साधना-पथों की गति एकमुखी है। इस गति पथ के एक या अन्य स्तर में सर्व-सम्प्रदाय और प्रणालियाँ विद्यमान हैं। हिन्दू-धर्म में काम्य और

निष्काम पथ हैं, देवी-देवताओं के स्थूल साकार की उपासना है एवं सूक्ष्म साकार उपासना भी विद्यमान है; शाक्त हैं, वैष्णव हैं, ईसाई हैं, मुसलमान हैं, जैन हैं, बौद्ध हैं, सिक्ख हैं, ब्राह्म हैं— अर्थात् सम्प्रदाय के भेद से सभी हैं। ऐसा सार्वभौमिक-धर्म दूसरा है क्या ? कोई नहीं है। यह धर्म सर्व प्रकार के अधिकारियों के लिए प्रचारित हुआ है। सुतरां, सर्व विध अधिकारी एवं सम्प्रदाय-भुक्त-जनगण इस धर्म के अन्तर्गत देखने में आते हैं। घोर-विषयी मानव से लेकर ब्रह्मवित् तत्त्व-ज्ञानी पर्यन्त मानव इस धर्म के आश्रय में आश्रित हैं। इसी कारण हिन्दूधर्म की साधन-प्रणाली सम्पूर्ण अवयवी यानी सर्व प्रकार से पूर्ण है। हिन्दूधर्मावलम्बी जनवृन्द में कोई किसी भी पूजा-पद्धति का अवलम्बन क्यों न करें वे सभी पूजायें एक ही अद्वैत-ब्रह्म की उपासना हैं। क्या स्थूल साकार और क्या सूक्ष्म साकार एवं क्या निस्त्रैगुण्य-साधक की निराकार ब्रह्मोपासना, सभी (उपासना) एकमुखी ही है। भगवान् ने कहा है कि :—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।"

गीता ४।११

अर्थात् जो जिस भाव से उपासना करता है, मैं उसी भाव के अनुसार उसकी इच्छा पूर्ण करता हूँ। ऐसी उदार तथा उच्च शिक्षा क्या अन्य किसी धर्म में है ? हिन्दू-धर्म के उदार-गर्भ में सर्वाधिकारी जनवृन्द को ग्रहण करने के लिए, अर्थात् सर्वविध भक्तवृन्द को ही आश्रय दान करने के लिए वैसी उच्चतम उदार शिक्षा भी विद्यमान है। उसमें स्थूल देवी, देवताओं के उपासक, स्वर्ग या वैकुण्ठ सुखकामी साधक, निष्काम धर्म-ज्ञानी, सूक्ष्म ईश्वरोपासक सभी प्रकार के मानव विद्यमान हैं। क्योंकि, सभी धर्म के तपस्यापथ के पथिक हैं––सभी एक ही ओर गमन कर रहे हैं—सभी धीरे-धीरे ईश्वर के समीप पहुँच रहे हैं। हिन्दुओं का धर्म पथ इतना प्रशस्त एवं सुदीर्घ है।

हिन्दूधर्म के इस प्रशस्त पथ में सर्वविध हिन्दू-सम्प्रदाय भक्त और तत्त्वज्ञानी एवं ईसाई, मुसलमान, जैन, सिक्ख, बौद्ध, पारसी, ब्राह्म सभी सम्प्रदाय रहकर अनन्त ब्रह्मपद की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इस धर्म-प्रणाली में अद्वैतज्ञान के साथ ईश्वर की भक्ति मिलने से हिन्दूधर्म को पूर्णावयव एवं सर्वविध जन समाज की आश्रयभूमि प्राप्त हुई है। यही विश्वव्यापी धर्म प्रणाली है।

हिन्दू-धर्म साधकों के अधिकारानुसार विभक्त होने से उसका कलेवर (शरीर) अति वृहत् हो गया है। संसारत्यागी साधु-संन्यासिओं के धर्म से लेकर सामान्य (साधारण) जनगण की धर्माचार पद्धति पर्यन्त सभी हिन्दूधर्म के शरीर हैं। सुतरां जो व्यक्ति हिन्दू-समाजस्थ साधारण जन-वृन्द के धर्म प्रणाली को देखकर विचार करते हैं कि "क्या यही हिन्दूधर्म है?" वे लोग "एकदेशदर्शी" हैं। उक्त सभी प्रकार के साधारण मानव की आचारित धर्म प्रणाली से यह सनातनधर्म क्रमशः कितने ऊँचे स्तर तक पहुँच गया है; इसका विचार करने पर प्रतीत होगा कि इस हिन्दू धर्म का सर्वनिम्नस्तर अति सामान्य है। यद्यपि उस स्तर के लोगों की संख्या सर्वापेक्षा समधिक है, यथापि यह मूल देश मात्र है। जैसे कि पर्वत का मूल देश अतिविशाल तथा प्रकाण्ड होता है। यह भी तद्रूप ही है। उच्च-उच्च देश के लोगों की संख्या क्रमशः कम ही होती गई है। किन्तु कम होने पर भी वे सभी हिन्दूधर्म के ही अन्तर्गत हैं। अन्यथा उच्च देश के धर्मावलम्बियों ने धर्म की पवित्रता और उसकी प्रकृत-मूर्ति का विश्लेषण और भी विशद (विशाल) करके बताया है। पर्वत के शिखर पर चढ़ जाने से जैसे नवीन देशों (भूभागों) का दर्शन होता है। इस हिन्दूधर्म में भी उसी प्रकार उच्च-उच्च देश में आरोहण करने पर नव-नव अध्यात्म तत्त्वावली के सुन्दर—

पहुँचने से अनुभव होता है—केवल "**एकमेवाद्वितीयम्**" ।

हिन्दू-धर्म के इस सम्पूर्ण महान् तत्त्व को न समझ कर ही वर्तमान युग के दूसरे धर्मावलम्बीगण, सभ्य शिक्षित-पाश्चात्त्यदेशवासीगण, तथा पाश्चात्त्यशिक्षा–विकृत मस्तिष्क असत् पथगामी भारत-सन्तान वर्ग के ही अनेक मानव, हिन्दुओं को पौत्तालिक, जड़ोपासक एवं कुसंस्काराच्छन्न कह कर घृणा करते हैं। हिन्दूगण बहुत दिन से ही पराधीनता की शृंखला पहन कर जड़ बन गये हैं; अतः उन हिन्दुओं को "जड़ोपासक" प्रभृति अनेक अपशब्दों से विभूषित किया जा सकता है; अन्यथा जिन जड़वादियों के अनुष्ठित धर्म की अस्थि-मज्जा में पौत्तालिकता-काम-कामना से कलुषित यानी परिपूर्ण हैं—वे ही हिन्दुओं को पौत्तालिक कहते हैं। जिनका धर्म अब भी खञ्ज (लँगड़े) बालक की भाँति खड़ा नहीं रह सकता है; वे ही हिन्दू धर्म का निन्दावाद करते हैं—यह बात निःसन्देह विशेष आश्चर्यजनक है। यदि हिन्दू धर्म को समझने के लिये प्रयत्न किया जाय तो दिखाई देगा कि हिन्दू जो कुछ भी करता है, उसका एक बिन्दु (अंश) मात्र भी कुसंस्कारयुक्त वा असत्य नहीं है। हिन्दू जो कुछ समझता है, अब भी उसकी त्रिसीमा में पहुँचना दूसरे धर्मावलम्बी के लिये विशेष दूर की बात है। हिन्दू-धर्म गम्भीर-सूक्ष्म-आध्यात्मिक विज्ञान में पूर्ण है। हिन्दू-धर्म को समझने के लिये प्रयत्न करोगे तो समझ सकोगे कि जड़ वैज्ञानिक या अन्यान्य देश के अथवा अस्मद्देश (हमारे देश) के शिक्षित और सज्जन नाम धारी हिन्दू-धर्म-निन्दुक वर्ग जड़ के अतिरिक्त कुछ नहीं समझते हैं, इसी कारण हिन्दुओं को जड़ोपासक कहते हैं। जड़-विज्ञान से धर्म तत्त्व को कोई भी समझ नहीं सकता है। परन्तु इतना अवश्य जान सकता है कि कितने अंश तक आलोचना हुई है। तथा उसके बाद भी और कुछ बाकी है—

आलोच्य विषय का अन्त नहीं हुआ है। क्योंकि जिसका अनुसन्धान करता था, वह तो उसे नहीं मिला और अनुसन्धान का अन्त हो गया—फिर भी उसका अन्त कहाँ है वह समझने में नहीं आता है। पाश्चात्य जड़-विज्ञान के प्रख्यात पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर ने आक्षेप (दुःख) करके और स्पष्ट भाव से कहा है कि :—

The ultimate mystery continues as great as ever. The problem of existence is not solved; it is simply removed further back. The Nebular hypothesis throws no light on the origin of diffused matter and diffused matter as much needs accounting for as the concrete matter. The genesis of atom is not easier to Conceive than the genesis of a planet. Nay, indeed so far from making universe a less mystery than before, it makes it a greater mystery."

यही है जड़वादियों के अनुसन्धान का अन्तिम फल, इसका कारण यह है कि जिस वस्तु या विषय का अनुसन्धान न करना हो, उस वस्तु या विषय के लिए दर्शन-शक्ति की आवश्यकता होती है। ब्रह्म वस्तु-तत्त्व का ज्ञान का लाभ करना हो तो ब्रह्मतत्त्व की सत्ता से परिचित होना पड़ेगा। किन्तु योगी की समाधि के अतिरिक्त वह वस्तु या विषय प्राप्त नहीं हो सकता है और योग का हिन्दुओं ने ही आविष्कार किया है। और वह तत्त्व हिन्दूधर्म-प्रणाली में ही विधि के साथ वर्णित है। मैं उसी तत्त्व को इस ग्रंथ में प्रकाश करने की चेष्टा कर रहा हूँ।

हिन्दू के दर्शन-शास्त्र की पर्यालोचना से प्रतीत होता है कि

हुआ है। जब भी किसी मत का उदय हुआ है, उसी समय पण्डित-वृन्द ने तर्क उठाया है कि—'उस बात का प्रमाण क्या है?' सुतरां हिन्दू—दार्शनिक वृन्द ने प्रमाणका एवं पूर्वपक्ष का खण्डन किये के अतिरिक्त किसी भी बात की मीमांसा नहीं की है। धर्म का इतना सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार और किसी धर्मशास्त्र में देखने में नहीं आता है। हिन्दू जानता है कि :—

**"केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः।**
**युक्तिहीनविचारेण धर्महानिः प्रजायते ।।"**

योग-वशिष्ठा ४

अर्थात् "केवल शास्त्र के वचन का आश्रय लेकर धर्म का निरूपण करना उचित नहीं है, क्योंकि युक्तिहीन विचार से धर्म की हानि होती है।" इसी कारण हिन्दू-शास्त्र में क्या लौकिक, और क्या अलौकिक, सभी प्रकार के तत्त्वों के लिए विशेष प्रकार के उपयुक्त प्रमाण दिये गये हैं। अतः हिन्दू-धर्म की निन्दा करने से पहले लोगों को एक बार तत्त्वों का विचार करने के लिये एवं साथ ही उनसे अपनी धर्म-प्रणाली की ओर दृष्टि डालने के लिए अनुरोध कर रहा हूँ।

अदूरदर्शी (स्वल्प बुद्धि वाले) व्यक्ति ही हिन्दू-समाज के सामान्य जन साधारण की धर्म प्रणाली को देखकर रसना (जिह्वा) कलुषित करते हैं; किन्तु उस सामान्य जन-गण के धर्म से लेकर निस्त्रैगुण्य—साधक की निराकार ब्रह्म—उपासना पर्यन्त की आलोचना मैं इस ग्रन्थ में करूँगा। आशा करता हूँ कि पाठक-वर्ग उसी से हिन्दूधर्म की विश्वव्यापकता और गम्भीरता का परिमाण उपलब्ध कर सकेंगे। पहले अधिकार-भेदादि समाज धर्म की आलोचना की जायेगी।

# अधिकार-भेद

संसार के किसी भी नवीन धर्म या नव उद्भूतधर्म में अधिकार-भेद को स्वीकार नहीं किया गया है। क्योंकि जो धर्म सम्पूर्ण मानवात्मा के लिए एक-एक निर्दिष्ट आदर्श और लक्ष्य रूप में निरूपण किया गया है। वह उस लक्ष्य की ओर समग्र मनुष्य समाज को नियोजित (प्रवृत्त) करना चाहता है। हिन्दूधर्म जब मानवात्मा को उसके अनन्त स्वरूप में पहुँचाना चाहता है, तब अवश्य कहना पड़ेगा कि उसकी गति अनन्त पथ की ओर है। वह अनन्त-पथ अनेकानेक-रूप में विभक्त होकर क्रमशः उर्ध्व की ओर पहुँच गया है। उस अनन्त-गति-पथ में समाज के सभी लोग हैं, किन्तु सभी मानव का समान अधिकार नहीं है। पूर्ण मानव जिस उपाय से भोज्य ग्रहण करता है, शिशु वह नहीं कर सकता है। युवक कठिन पदार्थों को चबाकर खा सकता है किन्तु शिशु को तरल दुग्ध भी रूई के फाहे से पिलाना पड़ता है। इसी प्रकार किसी ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषों में भी आकाश-पाताल का अन्तर होता है। वैसे ही किसी बुद्धिमान और निर्बोध के बीच भी वही भेद विशेष रूप से है। जो व्यक्ति धर्म के विषय में बिलकुल अज्ञ होता है, उसके लिए वही कार्य हमें करना चाहिए जिससे उसके हृदय में यह संस्कार उत्पन्न हो सके कि धर्म नाम की कोई एक वस्तु है। यही कारण हिन्दू बालकों के सुकोमल हृदय में धर्म बीज वपन करने (बोने) के लिए—केवल धर्म कोई वस्तु है यह समझने के लिए बंगाल में यम-पोखरा, पुन्निपुष्कर, गोलक, धनगछान आदि व्रत कराये जाते हैं।' भारत के दूसरे देश में भी इसी प्रकार नाना क्रियायें विद्यमान हैं। युवतियाँ कर्म फल से धार्मिक जीवन की वृद्धि करने के लिए दूर्वाष्टमी, अन्नदान, अनन्त-चतुर्दशी आदि व्रत करती हैं। सर्वसाधारण लोग दोलोत्सव, दुर्गोत्सव और पूजा-अर्चा एवं यज्ञ-यागादि के द्वारा दैवी शक्ति लाभ कर

जड़त्व से किञ्चित् रक्षा पाने और धर्मशक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से ही धर्म-कार्य में प्रवृत्त होते हैं। योगीगण कर्म के संस्कार-बीज को दग्ध कर योग की अग्नि में जड़त्व को भस्म करते हुए पूर्ण-चैतन्य की ओर अग्रसर होने के लिए योग क्रियायें करते हैं। इस प्रकार संसार में जितने भी रूप में धर्म-साधना की प्रणालियाँ पाई जाती हैं वे सब अधिकारभेद से या अवस्थाभेद से किंचित् अग्रसर होने के उद्देश्य से ही हैं। कोई भी धर्मपथ निरर्थक नहीं है—सभी पूर्ण धर्म लाभ के लिए अग्रसर हो रहे हैं। भेद केवल धर्म की पद्धति में ही है। विधि व धर्म की साधना के अनुसार कोई बहुत दूर तक अग्रसर हो जाता है और कोई थोड़ी दूर तक पहुँच पाता है।'

धर्म सभी को ऊपर उठाकर अनन्त पथ के एक-एक स्थान में पहुँचा देना चाहता है। हिन्दूधर्म ने इन विभिन्न अधिकारी व्यक्तियों के लिए धर्म-साधना के प्रकरणों को अलग-अलग करके अपने को सर्वलोकोपयोगी बना दिया है। इसी अधिकारानुसार हिन्दू-धर्म में शाक्त, वैष्णव, शैव, गाणपत्य, सौर प्रभृति अनेक साम्प्रदायिक साधन-प्रणालियाँ प्रतिष्ठित हुई हैं। इन समस्त साधन-प्रणालियों के धर्माचार और प्रकरण विभिन्न होते हुए भी ये सब हिन्दूधर्मीय मुक्ति-साधक के गति पथ में ही अवस्थित हैं। ईसाई आदि धर्म जिस प्रकार अपने-अपने सम्प्रदायस्थ मनुष्यों को स्वर्गादि एक-एक लक्ष्य स्थान पर पहुँचाना चाहते हैं, उसी प्रकार हिन्दू धर्म में शाक्त, वैष्ण-वादि साम्प्रदायिक साधन-प्रणालियाँ भी अपने अनुयायियों को हिन्दू-धर्म के मुक्तिपथ में एक-एक स्थान पर पहुँचाना चाहती हैं। किन्तु यह भी कोई चरमोन्नति नहीं है।

मनुष्य समाज में नाना-प्रकृति के मनुष्य हैं और सबकी विद्या, बुद्धि, प्रतिभा समान नहीं है। सबकी मानसिक उन्नति की इच्छा, सुख-दुःख, प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि भी समान नहीं है। इन्हीं सब बातों

का विवेचन करते हुए हिन्दू शास्त्र कहता है :—

"सकामाश्चैव निष्कामा द्विविधा भुवि मानवाः ।
अकामानां पदं मोक्षः कामिनां फलमुच्यते ।।"

महानिर्वाण तन्त्र १२, उ०

इस संसार में सकाम और निष्काम दो प्रकार के मनुष्य हैं। इनमें जो निष्काम हैं वे मोक्ष पद के अधिकारी हैं और जो सकाम हैं वे कर्मानुसार स्वर्ग-लोकादि में जाकर नाना प्रकार की भोग्य-वस्तुओं का उपभोग करते हुए, कृतकर्मों का क्षय होने पर फिर इस भूलोक में जन्म ग्रहण करते हैं। इनसे प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग के रूप में दो मार्गों की योजना की गई है। इनमें भी एक मार्ग की साधन-प्रणालियाँ अनेक हैं। अधिकारी-भेद के अनुसार साधन चार प्रकार की वताई गई है। यथा :—

"उत्तमो ब्रह्मसद्भावो, ध्यान-भावस्तु मध्यमः ।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो, बहिःपूजाऽधमाधमा ।।"

महानिर्वाण तन्त्र, १४ उ

अर्थात् ब्रह्म-सद्भाव उत्तम साधना है और इसी कारण उच्चाधिकारी गण ब्रह्म-चिन्तन एवं ब्रह्मोपासना करते हैं। मध्यम अधिकारी गण स्थूल-सूक्ष्म या ज्योति का ध्यान करते हैं और अधम अधिकारी लोग स्तव, जप, पूजादि करते हैं। अधम से भी अधम अधिकारी गण जो कि धर्म के विषय में बिलकुल अज्ञ हैं—वे वाह्य पूजा का अनुष्ठान करते हैं। साधक की क्षमता के विचार से ब्रह्मोपासना, ध्यान, जप-तप और वाह्य पूजादि की नाना-विध पद्धतियाँ प्रचलित हुई हैं। धर्म के जितने ही उच्च देश के मनुष्य उठ सकेगा लोक-संख्या की अल्पता के साथ साधना-पद्धति में भी उतनी ही कमी दिखलाई देगी। इस स्थान पर यदि सुधी पाठकगण

निरपेक्ष भाव से विचार करेंगे तो पृथ्वी भर के जितने भी धर्म-सम्प्रदाय हैं, उन सबकी अनुष्ठित धर्म-प्रणाली महानिर्वाण तन्त्र के उपर्युक्त दोनों श्लोकों में समाविष्ट दिखाई देगी। कोई किसी भी धर्म प्रणाली का अवलम्बन क्यों न करें, किन्तु सब की अवस्थिति उक्त चार श्रेणियों में ही होगी।

सभी व्यक्ति दर्शन विज्ञान की जटिलता को हृदयंगम नहीं कर सकते। जिसे वैसी शिक्षा मिली है वह अवश्य ही समझ सकेगा। अर्ध-शिक्षित या अल्प शिक्षितों को पहले दर्शन-विज्ञान समझने योग्य शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये; इसके बाद दार्शनिक तत्त्वों की आलोचना करनी चाहिये। जैसे कि अशिक्षित मनुष्य वर्ण-परिचय से आरम्भ कर यानी अ, आ, इ, ई, से आगे बढ़ते हुए "सुबोध-नीति-पाठ", (भाषा की पहली पुस्तक) साहित्य, व्याकरण, काव्यादि पढ़कर ही दर्शन-विज्ञानादि पढ़ने की क्षमता प्राप्त करता है। हिन्दूधर्म शिक्षक-गण जिसे जितना ज्ञान है, यह समझ कर उसे उसी स्थान से आरम्भ करते हुए क्रमशः उच्च स्तर में पहुँचाते हैं। फिर जिसे जरा भी धर्म-ज्ञान नहीं है उसे बाह्य पूजा से आरम्भ कराकर ब्रह्मसद्भाव तक पहुचाते हैं। इसी कारण हिन्दूधर्म में स्तर भेद और अधिकारभेद से असंख्य धर्म-प्रणालियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। साधारण मनुष्य को प्रारम्भ से किस प्रकार धर्म-साधना में नियुक्त करके क्रमशः उच्चोच्च स्तर में पहुँचाया जाता है और एक-एक स्तर की साधना के लिए किस प्रकार की शिक्षा आवश्यक है वह "चैतन्य-चरितामृत" नामक ग्रन्थ से देखा रहा हूँ।

धर्म-जगत् के श्रेष्ठ महापुरुष कविराज गोस्वामीजी ने अपने "चैतन्य चरितामृत" ग्रन्थ में महाप्रभु चैतन्यदेव और महात्मा रामानन्द राय के कथोपकथन द्वारा इस तत्त्व को विस्तार के साथ प्रकाशित किया है। यथा :—

प्रभु कहे कह किछु साध्येर निर्णय।
राय कहे स्वधर्माचरणे कृष्णे भक्ति हय ॥

जिसके लिए साधना है, वही साध्य है; चैतन्यदेव ने साध्य विपय की जिज्ञासा की, किस साधक के लिये किस रूप में साध्य होना चाहिये इसे निश्चित रूप से नहीं पूछा; तव रामानन्द राय ने इसी निमित्त भक्ति हीन, संसार-मायाजाल-वद्ध मानव के लिए प्रारम्भ से ही साध्य निर्णय किया और इसीलिए वताया कि "स्वधर्माचरण से ही कृष्णभक्ति होती है।"

अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कुल धर्म ही स्वधर्म है। भगवद् भक्ति हीन पापाण हृदय में धर्म वीज रोपण करने के लिए उपाय-स्वरूप स्वधर्माचरण का निर्देश किया है। किन्तु क्या केवल भगवद् भक्ति ही जीवन का लक्ष्य हो सकती है? नहीं और भी कुछ है?

प्रभु कहे, एहो वाह्य आगे कह आर।
राय कहे कृष्णे कर्मार्पण साध्यसार ॥

कुछ है; यह जानकर चैतन्य देव ने पूछा "यह वाह्य विषय है, अतः वाह्य-धर्म को छोड़कर जरा आगे वढ़ा कर कहिए। अर्थात् स्वधर्म की अपेक्षा और भी उच्च अधिकारी की वात कहिए" इसके उत्तर में उन्होंने कहा "समस्त कर्म भगवच्चरणों में अर्पण करना ही साध्य का सार है" अर्थात् आत्माभिमान त्याग करके निष्काम-कर्म करने का उन्होंने उपदेश दिया।

प्रभु कहे एहो वाह्य आगे कह आर।
राय कहे स्वधर्म-त्याग सर्व साध्यसार ॥

निष्काम-कर्म की वात सुन कर चैतन्य देव ने कहा "यह भी वाह्य धर्म है, इससे भी आगे वढ़ कर कहिए" जव निष्काम धर्म साधन करने पर साधक में आत्म निर्भरता उत्पन्न हो जाती है तव

स्वतन्त्रता से ही उसकी उन्नति होती है, अर्थात् तब उसे विधि-निषेध के चक्र में रखने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी कारण राय रामानन्द ने कहा कि "स्वधर्म-त्याग ही साध्य का सार है।" किन्तु चैतन्य देव ने इतने से भी सन्तुष्ट न होकर फिर पूछा—

प्रभु कहे एहो बाह्य आगे कह आर।
राय कहे ज्ञानमिश्रा भक्ति साध्यसार।।

ज्ञानमिश्रा भक्ति की बात सुन कर वे बोले कि —

प्रभु कहे एहो बाह्य आगे कह आर।
राय कहे ज्ञान-शून्या भक्ति साध्यसार।।

ज्ञान मिश्रा भक्ति की बात सुनकर चैतन्य देव ने पूछा कि "यह भी बाह्य-धर्म है, इससे भी आगे बढ़ कर कहिये" तब राय रामानन्द जी बोले कि "ज्ञान-शून्या भक्ति ही साध्य का सार है।"

रामानन्द जी के इस कथन को सुनकर चैतन्य देव ने समझा यही साध्य नहीं है इसीलिए उन्होंने कहा :—

प्रभु कहे एहो बाह्य आगे कह आर।
राय कहे प्रेम-भक्ति सर्व साध्यसार।।

श्री चैतन्य महाप्रभु अबतक 'एहो बाह्य' (यह बाह्य वस्तु है) कहते थे। पर इस बार उन्होंने कहा है कि यह तो होता ही है, परन्तु इससे आगे बोलिये, तदुत्तर में राय ने कहा है कि प्रेम भक्ति सर्व प्रकार की साधना का सार (श्रेष्ठ) है। अर्थात् यह तो होता है सही, फिर भी यह अन्तिम नहीं है, अतः इससे भी आगे कुछ कहिए। श्री चैतन्य देव के इस रूप में जिज्ञासा करने पर राय रामानन्द ने ऐसी भक्ति के अनेकानेक उच्चस्तरों की माधुरी लीला प्रकाशित की। किन्तु सज्जन इसे वैष्णव भावावेश समझ कर व्यर्थ ही अपनी सीधी नाक को टेढ़ी न मोड़ें। क्योंकि, उनकी प्रत्येक बात

दर्शन-विज्ञान की सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित है। पहले हिन्दुओं के तन्त्र, पुराण, स्मृति, श्रुति, दर्शन, उपनिषद् आदि पढ़िये, उसके बाद इन डोर-कौपीन-धारी वैष्णव-वैष्णवी व संन्यासी-संन्यासिनियों (मुंडितों) की वाक्यावली को पढ़ने और समझने का प्रयास कीजिये। इस प्रकार भाव के भावुक-मानव के अतिरिक्त कोई भी उस तत्त्व को नहीं समझ सकता।

राय रामानन्द-कथित स्वधर्म, निष्काम धर्म, स्वधर्म-त्याग, ज्ञान-मिश्रा भक्ति, ज्ञान-शून्या भक्ति और प्रेम भक्ति प्रभृति एक-एक धर्म प्रणाली की साधना के लिए अधिकारी भेद स्वीकार किया गया है। जिसका जिसमें अधिकार है, वह उसी रूप में साधना का अनुष्ठान करे। अशिक्षित व्यक्ति यदि दर्शन-विज्ञान पढ़ने लगें तो वह कुछ भी नहीं समझ सकता व मन भी उसमें सुयुक्त नहीं होता; यही नहीं वरन् असन्तुष्ट होकर वह इस तत्त्व की चर्चा ही त्याग देता है। उसी प्रकार स्थूल बुद्धि के व्यक्ति भी इस अत्यन्त-सूक्ष्म ब्रह्मतत्त्व को समझने के लिए किसी तरह सक्षम नहीं हो सकते; बल्कि वे इससे नाराज होकर उदासीन हो जाते हैं। इसी कारण हिन्दू-धर्म ने बतलाया है कि :—

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म संगिनाम्।"

श्रीमद्भगवद्गीता ३.२८

अर्थात् "जिनकी कर्म में आसक्ति है, या जो कर्म में अज्ञान पूर्वक फँसे हुए हैं, ऐसे लोगों में कभी बुद्धि-भेद उत्पन्न मत करो।" अर्थात् ऐसा कोई काम मत करो जिससे अज्ञानी पुरुष कर्म से विमुख हो जाय। इन सब बातों का विवेचन करके अधिकार भेद से हिन्दू धर्मशास्त्रों में धर्म-प्रणाली के उपदेश की बात देखने में आती है। उसी पर विविध साम्प्रदायिक उपासना-प्रणालियों की सृष्टि हुई है। क्योंकि हिन्दूधर्म में लोगों के ज्ञान और रुचि के अनुसार ही साधन

प्रणालियों का संगठन किया गया है। वैदिक हिन्दू धर्म देश, काल, और पात्र के अनुसार अधिकार भेद स्वीकार करता है। क्योंकि समाज के किसी एक ही अंश के लिए धर्म नहीं हो सकता; इसी से हिन्दू धर्म में उच्च, नीच, और मध्यम के रूप में अधिकारी-भेद से नाना-विध साधन प्रणालियों की सृष्टि हुई है। परन्तु उन सब का उद्देश्य एक ही है। केवल उसके प्रकरण भिन्न हैं। यही कारण इस धर्म में प्रवृत्ति और निवृत्ति के भेद से प्रारम्भ में ही दो प्रकार के साधन पथ दिखाई देते हैं। उच्चाधिकारियों के लिए निवृत्ति पथ और निष्काम धर्म है। तथा निम्नाधिकारियों के लिए प्रवृत्ति-पथ का विस्तृत महाकाम्य क्षेत्र है।

असंख्य मनुष्यों की कामनाएँ असंख्य प्रकार की हैं, इसी कारण हिन्दुओं के प्रवृत्ति-पथ की साधना प्रणालियाँ भी असंख्य प्रकार की हैं। इन अधिकार भेदों के कारण ही सब प्रकार के मनुष्यों के लिए धर्म प्रणालियाँ-प्रकाशित होने से हिन्दू धर्म का मूल देश अतिशय प्रकाण्ड हो गया है। ईसाई, महम्मदीय, आदि काम्य धर्म और उनकी साधना-प्रणाली हिन्दू धर्म के इस विशाल-स्तर के एक कोने में पड़ी है।

हिन्दू धर्म प्रणाली में प्रथमतः पशुत्व से मुक्ति लाभ करके मनुष्यत्व प्राप्त करना पड़ता है; इसके बाद मनुष्यत्व से मुक्त होकर देवत्व लाभ करना पड़ता है और अन्त में देवत्व से ब्रह्मत्व लाभ करना ही परम पद मोक्ष समझा जाता है। हमारी साम्प्रदायिक धर्म प्रणाली का उत्थान केवल देवत्व तक ही हुआ है और यदि विचार करके देखा जाय तो अन्य विजातीय धर्म-प्रणालियों की सीमा भी यहीं तक है। अतएव हिन्दू धर्म के इस विशाल स्तर में अवस्थित रहकर, धर्म की सुशीतल छाया में सभी तृप्ति लाभ करते हैं।

# जाति-भेद

हिन्दूधर्म में जाति भेद की प्रथा प्रचलित देखकर अन्यान्य धर्म-सम्प्रदाय हिन्दुओं को अज्ञान एवं कुसंस्काराच्छन्न समझते हैं। इसी प्रकार हमारे देश का एक विशिष्ट जन-समाज भी आहार-विहार की सुश्रृङ्खला के लिए जाति भेद की प्रथा का उच्छेद करना चाहता है। किन्तु अदूरदर्शी व्यक्ति नहीं जान सकते कि जाति भेद की प्रथा में हिन्दूधर्म का कौन सा महान् उद्देश्यगर्भित है। वे तो केवल यही सोचते हैं कि मिथ्या जाति भेद प्रथा के प्रवर्तन-द्वारा हिन्दू लोग विविध सामाजिक असुविधाओं की सृष्टि कर रहे हैं। किन्तु हिन्दू धर्म क्या कहता है सो सुनिए—

"न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्रह्ममयं जगत्।"

प्रारम्भ में वर्ण-विभाग नहीं थे, समस्त जगत् ब्रह्ममय था। किन्तु इसके वाद—

"ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥"

(अर्थात्) ब्रह्म से प्रथमतः कर्म के द्वारा वर्ण-विभाग किये गये। गीता में भी भगवान् ने कहा है कि—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।"

मैंने गुण और कर्म के विभागानुसार, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की सृष्टि की है।*

---

* जाति भेद भगवान का किया हुआ है, अतः वह केवल भारतवर्ष में ही नहीं, अन्यान्य देशों में भी पाया जाता है। पृथ्वी भर में—सर्वत्र ही इन चार श्रेणियों के लोग दिखाई देते हैं। थोड़ा सा विचार करने से ही इसका पता लग सकता है, वरन् हमारी जाति और गुण कर्म की प्रणाली ठीक से नहीं समझी जा सकती है।

इसी कारण जाति द्वारा गुण और कर्म का परिचय मिल सकता है। ऋग्वेद संहिता के दशम मण्डल के नवतितम (९०) सूक्त में कहा गया है —

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥"

"विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहू से क्षत्रिय, उरू (जंघ) से वैश्य तथा पद (पाँव) से शूद्रों का जन्म हुआ है।" इसका भावार्थ यह है कि अध्ययन-अध्यापन रूप वाक्य-प्रधान ब्राह्मण, विराट पुरुष अर्थात् जीवमय जगत् के मुख स्वरूप हैं। बाहुबल प्रधान क्षत्रिय समाज के बाहुरूप हैं। उरू बल प्रधान वैश्य समाज के जंघा रूप हैं और भृत्य भावापन्न के प्रतीक शूद्र समाज की सेवा के लिए उत्पन्न हुए हैं।इसी प्रकार ज्ञान की शिक्षा देना मौखिक कार्य है, अतएव ब्राह्मण मुख स्वरूप हैं। युद्धादि कार्य बाहुबल साध्य है, अतएव क्षत्रिय बाहु स्वरूप हैं। वाणिज्य कर्म में उरू बल की आवश्यकता होती है, इस कारण वैश्य उरू (जङ्घा) स्वरूप हैं। इसी प्रकार नौकरी आदि पर पद सेवा के कारण ही शूद्र लोग पद स्वरूप हैं। अतएव हिन्दूसमाज में गुण कर्म भेद से जातिभेद स्वीकार किया गया है।

गुण और कर्म के क्षय के लिए जो साधना है उसी का नाम स्वधर्म है। स्वधर्माचरण से गुण और कर्मों का क्षय करके जीव को तत्त्वज्ञान लाभ करना पड़ता है। इसी कारण हिन्दू-धर्म में गुण और कर्म के विभागानुसार धर्मभेद या अधिकारभेद स्वीकार किया गया है। यह अधिकारीभेद ही जातिभेद का मूल आधार है। अन्य धर्म या सम्प्रदाय में ज्ञानी और अज्ञानी पुरुष के लिए एक ही धर्म-साधन प्रणाली निर्दिष्ट होने से वे एक जाति में परिणत हो गए हैं। किन्तु हिन्दू सम्प्रदाय में गुण और कर्मानुसार धर्म-विभाग किया जाने से जाति-विभाग की सृष्टि हुई है। हिन्दूधर्म का साधारण जन-

समाज-धर्म अधिकारानुसार अनेक खण्डों में विभक्त हो जाने से हिन्दू-समाज में नाना प्रकार की विभिन्नता बनाये रखने के लिए ही विशेष रूप से जाति-भेद में प्रवर्तित हुए हैं।

जातिभेद की प्रथा न रहने पर सब के गुण कर्म एक ही हो जायेंगे। जो जैसा कर्म करता है, वह उसी की आलोचना करता है। अतएव एक जाति के साथ दूसरी जाति का आहार-विहार तथा वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने पर परस्पर के गुण कर्म की आलोचना होगी। इसके फलस्वरूप उच्च जाति इतर (नीच) जाति के गुण कर्म की पक्षपातिनी हो जाती, तथा नीच जाति में बुद्धि भेद उत्पन्न हो जाता है। इसी कारण हिन्दू समाज के मनीषियों ने गुण कर्म की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए जाति भेद प्रथा का प्रवर्तन और अनेक प्रकार के विधिनिषेध द्वारा उसकी रक्षा का उपाय किया है। सुज्ञ पाठकगण अधिकारभेद के महान् उद्देश्य को समझ लेने पर, जातिभेद का कारण ही समझ सकेंगे। जातिभेद की प्रथा न रहने पर अधिकारानुसार सम-साधन प्रणाली की विभिन्नता स्थायी नहीं हो सकती।

यह बड़े दुःख की बात है कि एक श्रेणी के दुर्बल चित्त व्यक्ति जातिभेद की प्रथा को अपनी स्वार्थरक्षा के लिए ब्राह्मण-समाज द्वारा प्रवर्तित मानते हैं। यदि स्वार्थपरता ही जादिभेद का मूल कारण होती तो शूद्रादि का याजन और दान ग्रहण करने पर ब्राह्मण के लिए पतित होने का विधान शास्त्र सिद्ध कैसे हो सकता था? शास्त्र में तो दूसरों से कुछ भी लेने वालों की घोर निन्दा की गई है। जो ब्राह्मण इच्छा करने पर संसार का सम्राट् हो सकता था, वह पर्णकुटी में निवास कर फल-मूल भक्षण करते हुए काल यापन क्यों किया? क्या ये उसकी लोभ त्याग के उज्ज्वल प्रमाण नहीं हैं? अलौकिक शक्तियों के साथ संसार में जन्म लेकर भी, जब उन्होंने कौवे-कुत्ते की तरह भोग्य वस्तुओं के लिए झगड़ा नहीं किया, तब

क्या यह उनके देवत्व का परिचायक नहीं है ? किन्तु परिवर्तनशील जगत् में सब कुछ ही चक्रनेमि ( पहिए ) की तरह परिवर्तित होते रहते हैं । यही कारण है, आज ब्राह्मण समाज लोभ के क्रीत-दास बन रहे हैं । जो ब्राह्मण पृथ्वी के देवता (भूदेव) थे, उनके वंशज आज घृणित एवं दूसरे के पद चुम्बन की वृत्ति को ही एकमात्र अपना कर्तव्य समझ रहे हैं । मिथ्या भाषण, छल, कपट चोरी आदि का भी उनमें अभाव नहीं दिखाई देता । एक-एक व्यक्ति पर ध्यान देने से ब्राह्मणत्व तो दूर की बात रही उनके मनुष्यत्व में भी सन्देह होने लगता है । गुरु-पुरोहित आदि की दशा भी सोचनीय है । जो जितना ही अधिक निरक्षर और वञ्चक है वह उतना ही अधिक अपने को योग्य समझता है । फिर भी जातिभेद की प्रथा प्रचलित रहने से हिन्दू धर्म की स्वतन्त्रता सुरक्षित रही है । अन्यथा हिन्दुओं का नाम अनन्त आकाश में विलीन हो जाता । हिन्दू समाज अवनति की चरम सीमा पर अवश्य पहुंच गया है सही, किन्तु जातियों का भेद नष्ट नहीं हो सका—अपनी अपनी जातियों का महत्त्व यथावत् मौजूद ही है । जो लोग धर्म-जिज्ञासु बनकर हमारे पास पत्र भेजते या प्रत्यक्ष आकर मिलते हैं, वे प्रायः ब्राह्मण, क्षत्रिय, कायस्थ, अथवा वैद्य वंश (वैश्य) संभूत ही होते हैं; उनमें भी अधिकांश ब्राह्मण सन्तान ही होते हैं । फिर भी ऐसी दशा में इस बात को स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि सब श्रेणियों में ही देवता और नरक के कीट विद्यमान हैं । हमारे देश सुशासित भले ही है, किन्तु समाज तो इस समय अवश्य स्वेच्छाचारी और उच्छृङ्खल हो रहा है । इस सर्वनाश का मूल-कारण जातिगत भेद को अतिक्रमण किया जाना ही है । प्रिय पाठकवृन्द हिन्दूधर्म के जातिभेद का कारण और उसके द्वारा हिन्दूधर्म के किस महान् उद्देश्य की पूर्ति होती है, उसे भली भाँति समझ चुके होंगें । हिन्दूधर्म के अनुसार अपने गुणानुरूप धर्म कार्य करना आवश्यक माना गया है और उन कर्मों के न करने में प्रत्यवाय

(पाप) होता है। क्योंकि ब्राह्मणों का सुन्दर-आकर्षक धर्म होने पर भी शूद्रों के लिए ब्राह्मणधर्म का आचरण करना वर्जित ही बनाया गया है। क्योंकि इससे अपने गुणों का क्षय नहीं हो सकता और गुण-क्षय होने पर उसकी क्रिया कभी न कभी अवश्य होगी। इसी कारण अपने-अपने गुणकर्म को स्वतन्त्र बनाये रखना ही जातिभेद का उद्देश्य है। किन्तु हिन्दू लोग फिर भी यही समझते हैं कि इस मिथ्या और मर्त्य जगत् में जातिभेद की कल्पना मृग-मरीचिका के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भ्रान्तिमय जगत् में सब कुछ भ्रान्ति (मिथ्या) है। नदी पर्वतों से अलंकृता पृथ्वी, अथवा चन्द्र-सूर्य-नक्षत्रादि से भूषित आकाश, जिसकी ओर भी दृष्टिपात किया जाय वही मिथ्या जान पड़ता है। एक आतममय जगत् में मनुष्य और पशु आदि की भेद कल्पना भी मिथ्या है। अतएव जातिभेद के कल्पित होने के विषय में सन्देह ही क्या रह जाता है?

केवल निम्नाधिकारी स्वधर्माचारी जनसाधारण के लिए ही जातिभेद की प्रथा प्रचलित हुई है। स्वधर्माचरण के द्वारा जिनके गुण कर्मों का क्षय हो गया है, उनके लिए वर्णाश्रम के विधि-निषेध का आडम्बर व्यर्थ है। इसी कारण शास्त्रों में कहा गया है कि—

"वर्णाश्रमाभिमानेन श्रुतिदासो भवेन्नरः।
वर्णाश्रमविहीनिश्च वर्तते श्रुतिमूर्धनि॥"

अज्ञानबोधिनी

# हिन्दूधर्म में विधि-निषेध

हिन्दुओं में सामान्य जन समाज को धर्माचरण पद्धति में विधि-निषेध और नियम-संयम का सुदृढ़ विधान दृष्टिगोचर होने से अनेक

व्यक्ति समझते हैं कि उपवास, प्रायश्चित्त और पृथ्वी के समस्त सुख-वैराग्य एवं आत्मपीड़न ही शायद धर्म हैं। किन्तु सुविज्ञ हिन्दू समझता है कि हिन्दूधर्म-आत्मपीड़न के लिए नहीं है, वरन् वह अपनी उन्नति का साधन और अपने आनन्द वर्धन का ही मूलकारण है। भगवान् में भक्ति, जीवों के प्रति प्रीति एवं हृदय में शान्ति अथवा इन्द्रिय-शक्ति की सम्यक् स्फूर्ति, परिणति और उनका सामञ्जस्य ही धर्म है। भक्ति, प्रीति, व शान्ति इन तीनों शब्दों से जो वस्तु चित्रित होती है, उसकी मोहिनी मूर्ति की अपेक्षा मनोहर वस्तु संसार में और क्या हो सकती है? किन्तु हमें इस बात को भी स्मरण रखना चाहिए कि पहले विना परिश्रम किये और कष्ट उठाये कोई भी सुख प्राप्त कर नहीं सकता है। भोगविलासोन्मत्त व्यक्ति जो कि इन्द्रिय तृप्ति को ही सुख समझता है, उसे भी अपने इन उपादानों को संग्रह करने में चेष्टा करने व कष्ट तो उठाना ही पड़ता है। धर्म की आलोचना में जो असीम और अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है उसका उपभोग करने के लिए धर्म मन्दिर के निम्न सोपान पर जो कि सबसे कठिन और कर्कश उग्र पत्थर के समान है, उन्हें पहले साधना के द्वारा विजय करना पड़ता है। इसी कारण हिन्दू धर्म के निम्न सोपान में नियम संयम प्रवर्तित किए गए हैं। यहाँ अव इसी के उद्देश्य के विषय में चर्चा की जाती है।

आहारादि शारीरिक और चित्त शुद्धि प्रभृति मानसिक इन दो प्रकार के नियम-संयम से ही हिन्दू धर्म संगठित हुआ है। अतएव प्रथमतः आहारादि के विषय में विचार किया जाता है।

आहार के पदार्थों के साथ शरीर का विशेप सम्वन्ध है, फिर यदि शरीर अस्वस्थ हो तो कुछ भी काम नहीं हो सकता है। क्योंकि—

"धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।"

आयुर्वेद

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिए पूर्ण रूप से शरीर का आरोग्य होना परम आवश्यक है। शरीर यदि पीड़ाग्रस्त या निकम्मा हो तो कोई भी कार्य नहीं हो सकता। अतः शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार के विषय में विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता है। इसी कारण, आर्यशास्त्रज्ञों ने आहार के विषय में इस बात का भली भाँति स्पष्टीकरण कर दिया है कि जिससे देशभेद, कार्यभेद और वयोभेद के अनुसार शरीर को स्वस्थ और सबल रखते हुए धर्माचरण किया जा सके। एक प्रदेश में जिस पदार्थ का भोजन में उपयोग करने से शरीर स्वस्थ और निरोग रह सकता है, उसी का सेवन अन्य प्रदेश के लिए विपरीत परिणामकारी हो सकता है। अतएव, देश के प्राकृतिक धर्म का निरूपण करके खाद्य-पेयादि का निर्णय करना पड़ता है। जलवायु के भेद से आहारादि का पृथक्करण किया जा सकता है। शीत-प्रधान देशों में जिस खाद्य पदार्थ का भोजन करने से शरीर की पुष्टि, धर्म-बुद्धि की उन्नति और मानसिक ज्ञान का संचय होता है, उष्ण प्रधान देशों में उन्हीं पदार्थों के सेवन से शरीर की क्षय, बुद्धि की जड़ता और धर्म प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। इसी कारण शीत प्रधान देशों के मत्स्य मांस, प्याज, लहसुन और मदिरा आदि खाद्य पदार्थ उष्ण प्रधान देश के लिए सर्वथा वर्जित एवं हानिकर बताये गये हैं। हानिकर होने से ही इनका प्रयोग निषिद्ध माना गया है। देश की प्रकृति की विवेचन करके इस देश के शास्त्रकारों ने शरीरविज्ञान के साथ सामंजस्य रखते हुए आहार के विषय में जो सब विधि निषेध निश्चित किए हैं, उनका प्रतिपालन करना सदा के लिए कर्तव्य है। क्योंकि केवल इन्द्रिय-प्रीति-कर वस्तुयें सेवन करना ही भोजन का उद्देश्य नहीं है। इसीलिये हिन्दू शास्त्र कहते हैं—

"इन्द्रिय-प्रीति-जननं वृथा-पाकं विवर्जयेत।"

केवल इन्द्रियों को प्रिय जान पड़ने वाले वृथा पाक (निरर्थक रसोई) का परित्याग करना चाहिये । क्योंकि—

"ओजस्करं शरीरस्य चेतसः परितोषदम् ।
धर्मभावोद्दीपनं यत्तत् सुपथ्यतमं विदुः ॥
शरीरं चीयते येन क्षीयते रोगसन्ततिः ।
सन्मतिर्जायते यस्मात् तत् सुपथ्यतमं विदुः ॥"

जो शरीर के लिए शक्तिदायक, चित्त में प्रसन्नता और सन्तोष उत्पन्न करने वाले तथा धर्म बुद्धि का उद्दीपक हैं, उन्हीं को विद्वानों ने सुपथ्य कह कर वंताए हैं । इसी प्रकार जिनके द्वारा शरीर बलशाली हो एवं रोग समूह दूर हो जाते हैं तथा सत् प्रवृत्ति और सद्-बुद्धि की वृद्धि होती है, वही पदार्थ विद्वज्जनों के मतानुसार सुपथ्य-कर माने गये हैं—

"इहामुत्र सुखं यस्मात् तदेवाद्यं प्रयत्नतः ।
आयुष्कामेन हातव्यं तदन्यद्गरलं यथा ॥"

जिनके द्वारा इह-लौकिक जीवन में सुख एवं पारलौकिक जीवन में शान्ति लाभ होता है, उन्हीं वस्तुओं का भोजन करना उचित है । आयुष्काम (दीर्घायु की इच्छा रखने वाला) व्यक्ति इनके अतिरिक्त जितने भी खाद्य पदार्थ हैं, उन्हें विष की तरह परित्याग करें ।

कार्य भेद के कारण भी आहार का तारतम्य करना पड़ता है । जिन्हें युद्धादि करके देश की रक्षा करनी पड़ती है या जिन पर समाज-रक्षा का भार होता है, अथवा जिन्हें नर-शोणित से पृथ्वी को रंजित करना पड़ता है, उनके लिए मृगया अथवा मांस भक्षण दूषणीय नहीं कहा जा सकता । वीरत्व, उत्साहशीलता, बलवत्ता आदि राजसिक गुणवर्धक पदार्थों का भोजन उनके लिये उचित ही है । रजोगुण-वर्धक पदार्थों का सेवन किए विना राजसिक

प्रवृत्ति वढ़ नहीं सकती। किन्तु भगवद्भक्ति-परायण; ज्ञानानुशीलन-निरत के लिए मांसादि का आहार कभी हितकर नहीं हो सकता। क्योंकि उनके हृदय में तो सत्त्वगुण वढ़ाने की आवश्यकता है, अतएव उन्हें सत्त्वगुणवर्द्धक आहार का ही सेवन करना चाहिए; इसी कारण हिन्दू धर्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि जाति के भेद से आहार विभेद निश्चित हुए हैं।

तदुपरान्त एकादशी, अमावस्या-पूर्णिमा में निशि-पालन (रातको भोजन न करना) आदि अनेक विधि-नियम हिन्दूशास्त्रों में दृष्टिगोचर होते हैं। तिथियों के भेद से भिन्न-भिन्न पदार्थों के सेवन की भी व्यवस्था उसमें दी गई है। इन सव छोटे-छोटे कारणों के उद्देश्य क्या हैं? यह आज कल अनेक व्यक्ति समझ रहे हैं। आधुनिक शरीर तत्त्ववेत्ता विद्वान् लोग दूध के सम्वन्ध में कहते हैं कि 'गाय या उसके वच्चे के वीमार होने पर या गाय सद्य-प्रसूता होने की दशा में अथवा फूँक देकर निकाला हुआ दूध शरीर के लिए हानिकर होता है।' किन्तु हिन्दूशास्त्रों ने इसके वहुत पहले ही वता दिया है कि—

"वर्जयेत् सन्धिनी-क्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः"

मनु-संहिता

अर्थात् गर्भिणी और विना वछड़े वाली गौ का दूध वर्जित है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि हिन्दू धर्म में आहार आदि के विषय में जो विधि-निषेध वताये गये हैं, उसका एक विन्दु भी मिथ्या या कुसंस्कार नहीं है। उच्छिष्ट भक्षण (जूठा खाना) एवं हर किसी का अन्न ग्रहण करना हिन्दूशास्त्रों में सर्वथा निषिद्ध है। इन सव छोटे-छोटे विषयों का सम्यक्-तत्त्व निश्चित करने में पाश्चात्य-जड़तत्त्व-वेत्ताओं को अभी और भी अनेक दिन विताने पड़ेंगे।

हम आशा करते हैं कि इसके वाद हिन्दू लोग अपने राष्ट्रीय आचार-व्यवहारानुसार चलने से कभी न चूकेंगे।

हिन्दूधर्म में अधिकारभेद के अनुसार जिस प्रकार साधना-प्रणाली का पार्थक्य है, उसी प्रकार देशभेद और कार्यभेद से भी आहारादि के पार्थक्य का विधान किया गया है। साथ ही धर्म-साधना में भी प्रणालीभेद से नियमसंयम की कठोरता है।

हिन्दूधर्म का सार है चित्तशुद्धि। जो लोग हिन्दूधर्म का यथार्थ मर्म जानना चाहते हैं, उन्हें इस बात की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। क्योंकि जिसकी चित्तशुद्धि नहीं हुई है, वह उच्चधर्म में पहुँच नहीं सकता। चित्तशुद्धि की साधना ही हिन्दूधर्म की प्रधान साध्य और मूल वस्तु है। इन्द्रिय-दमन और रिपु-संयम किए विना हिन्दूधर्म के साधनपथ में कोई भी अग्रसर नहीं हो सकता। अतएव चित्तशुद्धि की साधना ही प्रवृत्ति-पथ के संयम और तपस्या के रूप में वताई गई है।

मन वशीभूत हुए विना कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। जन साधारण की साधना प्रणाली में जो कुछ भी अनुष्ठान वताये गये हैं, उन सब का उद्देश्य चित्तवृत्ति का निरोध करते हुए मन को वश में करना है। मद-मत्त मातंग (हाथी) की तरह प्रमत्त मनको जीतना वड़ा ही कठिन है। भगवान् कहते हैं कि :—

"असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्।"

"हे महाबाहो ! मन अत्यन्त चंचल है, उसे वशीभूत करना निःसन्देह अत्यन्त कठिन है।" क्योंकि इन्द्रियाँ तो अप्रतिहत प्रभाव से एकवार यथेच्छाचारी हो जाने पर फिर से वश में साध्यातीत है। इंद्रियाँ अपनी चपलता परित्याग कर स्थिरभाव किये विना ज्ञान का प्रकाश पाना असम्भव है। किन्तु—

"संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति।"

मनु संहिता

इन्द्रियों का निग्रह कर लेने पर अनायास से ही सब विषयों की सिद्धि प्राप्त की जा सकती है ।

"यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।"

गीता २ । ६०

अर्थात् विवेकी पुरुष यद्यपि मोक्ष के लिए प्रयत्न करते रहते हैं, तथापि चंचल करने वाली इन्द्रियाँ बल-पूर्वक उसका चित्त विषयों की ओर खींच ले जाती हैं ।

"तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।"

गीता २ । ६१

अतएव जो व्यक्ति यत्नपूर्वक इन सब को संयत करके मुझ परमेश्वर में अपना चित्त लगा देता है, उसकी इन्द्रियाँ वशीभूत हुई समझनी चाहिये और उसीका ज्ञान स्थिर हुआ मानना चाहिए । भीष्मदेवने युधिष्ठिर को बताया है कि :—

"दुरन्तेष्विन्द्रियार्थेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।
ये त्वसक्ता महात्मानस्ते यान्ति परमां गतिम् ।।"

महाभारत, मोक्ष-धर्म पर्व ४२।१

मानवगण इन्द्रिय सुख में आसक्त होकर एकदम अवसन्न (शिथिल) हो जाते हैं । किन्तु जो महात्मा इस सुख में आसक्त नहीं होते, वे ही परमगति लाभ करते हैं । इन सब महत् तत्त्वों के अवगत होने से ही हिन्दुओं ने नियम-संयम की कठोरता कर दी है । जिसका चित्त शान्त और इन्द्रियाँ वशीभूत नहीं हुई हैं, वह सर्व शास्त्रों का

ज्ञाता होने पर भी महामूर्ख हैं। जिसके षट् विकार* रूपी शत्रुओं का दमन नहीं हुआ है और न अपनी इन्द्रियों का ही दमन कर सका हैं, वह किसी भी पथ में प्रवेश नहीं पा सकता। फिर जो संयमी है और जिसकी चित्त-शुद्ध हो गई है, वह हिन्दू समाज में और खास कर हिन्दू मतानुसार साधु के रूप में माना जाता है एवं सभी मार्गों में वह अग्रसर भी हो सकता है। संयमी होकर प्रवृत्ति को भक्ति पथ में ईश्वर परायण कर देना ही हिन्दूधर्म का प्रधान उद्देश्य है।

किन्तु इसके लिए हिन्दूधर्म किसी एक व्यक्ति को चिरकाल पर्यन्त ब्रह्मचर्य के कठोर संयम-व्रत में बाँध कर रखना नहीं चाहता। जब तक चित्त शान्त और इन्द्रियाँ वश में नहीं हो जाती, तभी तक मनुष्य विधि-निषेध के बन्धन में बँधा रहता है। किन्तु मन के वशीभूत एवं प्रज्ञा के प्रतिष्ठित होते ही फिर इसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। यथा :—

"तावत् विद्या भवेत् सर्वा यावत् ज्ञानं न जायते।"

जब तक मनुष्य को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, तब तक उस पर शास्त्रों की सत्ता चलती है। जिस प्रकार किसी पक्षी को वन से पकड़ कर बड़ी सावधानी से पिंजरे में रखना पड़ता है, किन्तु उसके पालतू हो जाने पर वश में आने से फिर उतनी सावधानी की जरूरत नहीं रह जाती; तब वह स्वतः उड़ कर अपने स्थान (पिंजरे

---

* महात्मा तुलसीदासजी ने कहा है कि :—

काम, क्रोध, मद, लोभ की, जब लग मनमें खान।
तब लग पंडित मूरखौ, तुलसी एक समान॥

अर्थात् मनुष्य के चित्त में जब तक काम, क्रोध, मद एवं लोभ की खान बनी हुई है तब तक पंडित और मूर्ख दोनों समान हैं।

में) पर फिर पहुँच जाता है। उसी प्रकार मन को भी प्रथमावस्था में विशेष सतर्कता के साथ नियम-संयम अथवा विधि-निषेध के बन्धन में बाँध कर रखना पड़ता है, इसके बाद चित्त के वशीभूत ह जाने पर फिर उसे बन्धन में रखने की आवश्यकता नहीं रह जाती श्री शुकदेव जी ने कहा है कि :—

"भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे।
मायामोहौ क्षयमधिगतौ नष्टसन्देह-वृत्तौ।।
शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वावबोधं।
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।।"

शुकाष्टकम्, १

जो महात्मा तत्त्व ज्ञान लाभ कर निस्त्रैगुण्य पथ में विचरण करते हैं, उनके लिए किसी प्रकार का भेदाभेद शेष नहीं रहता। वे अभेद ज्ञान द्वारा जब भेद ज्ञान को नष्ट कर देते हैं, तब अभेद ज्ञान भी स्वयं नष्ट हो जाता है। इस प्रकार पाप-पुण्य विशीर्ण हो जाते हैं; धर्माधर्म का क्षय हो जाता है। संसार एवं वृत्ति अर्थात् इन्द्रि-यादि का धर्म समूल नष्ट हो जाता है। उस समय वे केवल शब्दातीत और गुणत्रय शून्य ब्रह्म तत्त्व के ज्ञात हो जाने पर उसी में विचरण करते हैं। उस अवस्था में वेदादि शास्त्रों के विधि-निषेध द्वारा फिर उन्हें बन्धन में नहीं डाला जा सकता है।

अतएव जब तक तत्त्व ज्ञान समुत्पन्न नहीं हो जाता तब तक इन्द्रिय संयम के लिए विधि-निषेध के अधीन रहना पड़ता है। हिन्दू-धर्म की प्रत्येक विधि में प्रातःकाल से सायंकाल अर्थात् शयन से पूर्व तक सभी कार्यों में अलक्ष्य रूप से प्रत्येक हिन्दू को संयम की शिक्षा दी जाती है।*

* मेरी लिखी "ब्रह्मचर्य-साधन" पुस्तक में इस विषय की विस्तृत आलोचना की गई है।

# गुरु की आवश्यकता

पृथ्वी के मानव समाज में जिस प्रकार विद्या—शिक्षा की प्रणाली विद्यमान है, उसी प्रकार हिन्दू-समाज में स्वतन्त्र धर्म-शिक्षा की प्रणाली प्रचलित है। विद्या अध्ययन के लिए जिस प्रकार सर्वप्रथम वर्णपरिचय (अक्षर-ज्ञान) की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार धर्म-शिक्षा के लिए भी धर्मज्ञान के वर्णपरिचय की आवश्यकता होती है। उस वर्णपरिचय का आरम्भ देवी-देवता के पूजन आदि व्रत और अनुष्ठान के रूप में तथा प्रवृत्ति पथ के अनेक क्रिया-कलाप द्वारा होता है। इसका आरम्भ करने के लिए हिन्दू समाज में धर्म-शिक्षार्थ स्वतन्त्र गुरु निर्दिष्ट किए हुए हैं। क्योंकि, गुरु के विना अनुष्ठान करने वाला धर्म पथ में एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। जिस प्रकार विद्याध्ययन के लिए प्रथमतः पाठशाला में हाथ में स्लेट-पेन्सिल लेना पड़ता है और आरम्भ में साधारण गुरु के पास पढ़ने लिखने की शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है, उसी प्रकार धर्मशिक्षार्थ प्रथमतः कुलगुरु से धर्मानुष्ठान और पूजा पद्धति का ज्ञान ग्रहण करना पड़ता है। वह पूजा-पद्धति और धर्म-कर्म के अनुष्ठान की शिक्षा यही है कि सम्पूर्ण कर्मफल भगवत् चरण-कमलों में समर्पित कर दो। विद्याध्ययन के लिए वालकों को अग्रसर होने पर जिस प्रकार उत्तरोत्तर योग्य शिक्षकों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार हिन्दूसमाज में धर्म-शिक्षा की प्रणाली में भी गुरु की आवश्यकता होती है। पाठशाला के गुरुजी के जिस प्रकार विशेष पण्डित न होने पर भी काम रुकता नहीं, चल जाता है। उसी प्रकार कुलगुरु के भी विशेष रूप से तत्त्वज्ञानी न होने से भी काम चल जाता है। क्योंकि ये तो केवल प्रारम्भ में धर्म ज्ञान का श्रीगणेश करा देने वाले ही होते हैं। इसी कारण जहाँ तक के पाण्डित्य या कार्य-क्षमता का प्रयोजन है उतना होना ही यथेष्ट है। फिर भी यदि कुलगुरु लोग अधिकतर कार्य-कुशल अथवा

विद्वान् हो तब तो और भी अच्छी वात है। उनसे धार्मिक शिक्षा समाप्त कर लेने के वाद ज्ञान लाभार्थं शिष्य को अन्य गुरु का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इसी कारण महायोगी महेश्वर कहते हैं—

"मधुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत्।
ज्ञान लुब्धस्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्॥"

तन्त्रवचन

मधु का लोभी भ्रमर जिस प्रकार एक फूल से दूसरे फूल पर चला जाता है, उसी प्रकार ज्ञान-लुब्ध शिष्य अनेक गुरुओं का आश्रय ग्रहण कर सकता है। अतएव सभी लोग सवसे पहले कुलगुरु से धर्मानुष्ठान के व्रती हो जाने के वाद ज्ञानलाभार्थं उपयुक्त गुरु के शरण में जाना चाहिए।

इस प्रकार क्या शाक्त और क्या वैष्णव, क्या शैव और क्या सौर या गाणपत्य अथवा तान्त्रिक हिन्दूधर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय के जनसाधारण को अपनी-अपनी धर्म-साधना के पथ में अग्रसर होने के लिए गुरु के उपदेशानुसार अनुष्ठानादि करके धर्माचार द्वारा परिशुद्ध होना पड़ता है। विना परिशुद्ध हुए अपने साम्प्रदायिक धर्म के उच्चादर्श तक कोई नहीं पहुँच सकता। क्योंकि उच्च आदर्श पर पहुँच जाने से ही हिन्दू-धर्म के उच्चशिखर पर मनुष्य आसीन हो सकता है। उस उच्चदेश में हिन्दूधर्म के परम-निवृत्तिपथ के संन्यास-धर्म विद्यमान है। उस संन्यास के प्राप्त हो जाने पर सर्व साम्प्रदायिक व्यक्ति एकत्र हो जाते हैं और वह संन्यास ब्रह्मतन्मयता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उस ब्रह्मतन्मयता में ब्रह्ममय विश्व की पूजा और प्रेम उस विश्वप्रेम के समदर्शी हो जाते हैं। उस सम-दर्शिता में विश्व और ब्रह्म एक ही वस्तु वन जाते हैं।

हिन्दूधर्म के इस शिखर पर पहुँचने के लिए प्रत्येक साम्प्र-

दायिक-धर्म में विभिन्न धर्माचार बताये गये हैं; वास्तव में सभी पथ एक ही है, केवल उनके प्रकार में विभिन्नता है। उन समस्त प्रकरणों में सुशिक्षित होने के लिए यदि यथा क्रम उच्चाधिकारानुसार ज्ञानी गुरुओं की आवश्यकता हो तो उन गुरुजनों से धर्म-शिक्षा प्राप्त करने में किसी भी सम्प्रदाय वाले को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। जो जिस कुल में उत्पन्न हुआ है उसे अपने उसी कुल के गुरु से प्रथमतः धर्म-शिक्षा आरम्भ करनी चाहिए। यही नियम ठीक है। इससे शिष्य और गुरु दोनों के कुल सुरक्षित रहते हैं।

प्रथमतः धर्मशिक्षा आरम्भ करने का नाम हिन्दू-धर्म में "दीक्षा" है। इसी कारण दीक्षागुरु, शिक्षागुरु और परमगुरु के भेद से हिन्दू-धर्म में गुरु तीन प्रकार के बताये गये हैं। गुरु शब्द पुरोहित के लिए भी प्रयुक्त होता है। पिता-माता भी गुरुवाची हैं। वे भी उपदेश अनुष्ठान एवं आदर्श में सन्तान को धर्म-कर्म से सुशिक्षित करते हैं। कुल गुरु से दीक्षित होकर प्रबुद्ध (जागृत) होने पर जिसके हृदय में धर्मज्ञान प्राप्त करने की पिपासा उत्पन्न होती है, उसके लिए शिक्षागुरु की आवश्यकता होती है। अनुसन्धान करने पर इस प्रकार के शिक्षागुरुओं का अभाव नहीं रहता। आज तक भी किसी का अभाव नहीं हुआ है। सभी व्यक्ति समयानुसार अपने-अपने अधिकारानुयायी गुरु प्राप्त कर रहे हैं। फिर भी एक ही गुरु से सर्वशास्त्रज्ञान या धर्मशिक्षा-पद्धति का लाभ नहीं हो सकता। अतएव ऐसी अवस्था में भिन्न-भिन्न गुरुओं को खोजना पड़ता है। उपयुक्त गुरु विरल या दुष्प्राप्य होते हैं, सही किन्तु खोजने पर वे मिल नहीं सकते, यह कभी हम विश्वास नहीं करते। हम भुक्तभोगी होने से मानते हैं कि इस प्रकार के गुरु अनेक बार अपने आप मिल जाते हैं। जो जिस मार्ग पर चलता है, वह उसी पथ की आलोचना करते करते ऐसा सुअवसर प्राप्त कर लेता है, जब कि स्वयमेव उसे गुरु

मिल जाते हैं। साथ ही स्वयं ईश्वर भी तो परमगुरु है; उस ईश्वर या ईश्वर के समान आप्त जनों का उपदेश ही हिन्दूशास्त्र है। इसीसे भगवान् ने कहा है कि :—

"यः शास्त्र-विधि-मुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥"
गीता १६।२३

—जो मनुष्य शास्त्रविधि का परित्याग करके स्वेच्छाचारी बन कर काम करता है, उसकी चित्त-शुद्धि नहीं हो सकती, वह इस लोक में सुख और परलोक में परमगति लाभ नहीं कर सकता। जिन्होंने स्व-कपोलकल्पित धर्ममत की असार भित्ति का अवलम्बन किया है और जातीय शास्त्र को अग्राह्य करते हुए अहम्भाव से हिन्दूशास्त्रानुसार चलना छोड़ दिया है, उन्हें भगवान् का उपर्युक्त वाक्य सदैव स्मरण रखने के लिए अनुरोध करता हूँ।

अन्यान्य धर्म-सम्प्रदायों में धर्मशिक्षा के लिए धर्मयाचक या धर्मप्रचारकों के होते हुए भी हिन्दूधर्म की भाँति सर्वसम्पूर्णता नहीं पाई जाती। अतएव धर्मशिक्षा-प्रणाली में भी हिन्दूधर्म ने सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया है।

# शास्त्र-विचार

उत्पन्न या आधुनिक समस्त धर्मों की साधना-प्रणाली और नियमादि एक-एक धर्मग्रन्थ में संग्रह कर दिये गये हैं। वे धर्मग्रन्थ हैं बाइबल, कुरान, त्रिपिटक इत्यादि। किन्तु हिन्दूधर्म की शाखा-प्रशाखायें इतनी अधिक हैं कि ये किसी एक निर्दिष्ट ग्रन्थ में निबद्ध नहीं हो सकती। विभिन्न अधिकारियों के लिये विभिन्न शास्त्रोपदेश

पालनीय होते हैं, अतएव हिन्दूधर्म श्रुति, स्मृति, पुराण, तन्त्र आदि के द्वारा शासित हो रहा है । शास्त्रों के विभिन्न होते हुए भी उनमें कोई श्रुति या वेदविरोधी नहीं है। जो वेद मूलक शास्त्रानुसार साधना-प्रणाली है वही हिन्दूधर्म में श्रेष्ठ है और उसीके द्वारा साधक वेदोक्त मोक्षपद को प्राप्त कर सकता है। अधिकारी के भेद से वेदों की भी अनेक शाखा-प्रशाखायें हैं। किन्तु इतना विस्तार होने पर भी वे सब एक ही मोक्षपद की ओर अभिमुख हैं। इसी कारण हिन्दूधर्म के लिए प्राणस्वरूप वेद ही हैं। बौद्धादि समस्त उत्पन्नधर्म पूर्णरूप से वेदों द्वारा शासित होना नहीं चाहते हैं। इसी कारण उनमें हिन्दूधर्म से विभिन्नता पाई जाती है।

**वेद-वेदान्त**—वेद कर्मकाण्ड का और वेदान्त ज्ञानकाण्ड का विभाग है। वैदिक कर्मकाण्ड मनुष्य को क्रमशः निवृत्ति पथ पर लाकर निष्काम होने की शिक्षा देता है। निष्काम-धर्म से मनुष्य के हृदय में जिस ज्ञान का उदय होता है, वही विवेक-ज्ञान मनुष्य के लिए ब्रह्मदर्शन का हेतु एवं मोक्ष लाभ कराने वाला होता है। उस ब्रह्मदर्शन के हो जाने पर मनुष्य सारे संसार को ब्रह्ममय देखने लगता है। वेद-वेदान्त इसी आध्यात्मिक विज्ञान की शिक्षा प्रणालियाँ हैं। अतएव वेद प्रधानतः प्रवृत्ति पथ के और वेदान्त मुख्यतः ज्ञानमार्ग के पथ-प्रदर्शक हैं। पहले कर्म, उसके बाद ज्ञान है; इसी कारण पहले कर्मकाण्ड और उसके पश्चात् ज्ञानकाण्ड बताया गया है।

**दर्शनशास्त्र**—समस्त दर्शनशास्त्र वेद-वेदान्त के प्रधान चक्षु-रूप एवं मीमांसाशास्त्ररूप में होने से यथार्थतः त्रयी विद्या के दर्शन-स्वरूप को प्राप्त हुए हैं। ये दर्शनशास्त्र भी अधिकारी भेद से द्वैत, द्वैताद्वैत एवं अद्वैतवाद में विभक्त हुए हैं। आस्तिक और नास्तिक के भेद से दर्शन-शास्त्र दो प्रकार के हैं। संशय न होने पर किसकी

मीमांसा की जा सकती है ? प्रारम्भ में मार्ग शुद्ध किये जाने के लिए षड्विध आस्तिक दर्शन हैं और उन्होंने नास्तिकवाद का खण्डन करके वेद को प्रकृष्ट रूप से प्रतिष्ठित किया है।

**स्मृति आदि समाज-धर्मशास्त्र**—इन समाज धर्मशास्त्रों में जीवन-यात्रा के सम्पूर्ण कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय किया गया है। हिन्दूधर्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी धर्म में कर्तव्याकर्तव्य निरूपण करने के लिए स्वतन्त्र शास्त्र नहीं पाये जाते। वेद में कर्तव्याकर्तव्य का जिस प्रकार अस्पष्ट और सूक्ष्म रूप में आभास मिलता है, वह संसार यात्रा की दृष्टि से यथेष्ट नहीं है। इसी कारण स्मृत्यादि प्रत्यक्ष-प्रमाण वेद-वेदान्त के अनुमानसिद्ध कर्तव्यों का निरूपण करने वाले शास्त्र हैं। मनुआदि ऋषियों ने इन समाज-धर्मशास्त्रों द्वारा उस कर्तव्य पथ को अत्यन्त विस्तृत रूप से स्पष्ट कर दिया है। इन सब शास्त्रों में कर्मकाण्ड और प्रायश्चित्त की जो व्यवस्था है, पूर्वमीमांसा-दर्शन में उसकी सुन्दर मीमांसा की गई है। अतएव शास्त्रकर्ताओं ने विज्ञान-लाभ के मार्ग को सुप्रणालीवद्ध करके उनका भलीभाँति परिष्कार कर दिया है।

**भक्ति-शास्त्र**—दर्शनशास्त्र में जिस प्रकार कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की मीमांसा की गई है, उसी प्रकार हिन्दूधर्मशास्त्र में ऋषियों ने भक्ति-पथ के भी स्वतन्त्र मीमांसा शास्त्र निर्माण कर दिये हैं। भक्ति-पथ के सारे ही सन्देह उन मीमांसा शास्त्रों द्वारा निवृत्त हो सकते हैं। उनके द्वारा भक्ति-पथ पर जो प्रकाश पड़ता है, उसके कारण भक्ति के आध्यात्मिक वैज्ञानिक मार्ग में भक्तगण गमन करके परमेश्वर का दर्शन लाभ करते हुए सर्वशान्तिमय आनन्द-धाम में पहुँच जाते हैं। इससे हिन्दूधर्म में अत्यन्त मधुरता आ गई है। इसके बाद अब तन्त्र, पुराण और इतिहासादि के विषय में विस्तार के साथ आलोचना करना आवश्यक जान पड़ता है।

# तन्त्र और पुराण

इन दिनों हिन्दूशास्त्र के तन्त्र और पुराणों के नाम पर बड़ा गोल-माल मचाया जा रहा है। हिन्दूधर्म के भावुक जन समाज का धर्मशास्त्र और उनके तन्त्र एवं पुराणों को देखकर अनेक व्यक्ति उन्हें "आषाढ़ की गप्प" (फुरसत का दिलबहलाव) या ब्राह्मणों के द्वारा स्वार्थवश रचित गप्पाष्टक मानते हैं। इसी प्रकार उनमें बतलाई हुई विभिन्न अधिकारियों के लिए भिन्न-भिन्न साधनाप्रणाली को देखकर उन्हें बालकों के गुडा-गुड्डी के खेल अथवा हिन्दुओं को कुसंस्काराच्छन्न या अज्ञान का सूचक-कार्य बताते हुए वे अपनी अभिज्ञता का परिचय देते हैं। जिस देश में तन्त्र और पुराण शास्त्र का जन्म हुआ है तथा जहाँ के लोग युगयुगान्तर से तन्त्र-पुराणादि के अनुसार पूजा एवं अन्य क्रिया-कलाप करते चले आ रहे हैं, उसका वास्तविक तत्त्व और महान् उद्देश्य अन्य देशों के लोगों के लिए समझ पाना क्या कभी सम्भव हो सकता है? क्योंकि, हिन्दुओं के पुराण आदि दर्शनशास्त्र के स्थूल अंश हैं। जिनकी बुद्धि में दर्शन-शास्त्र के सूक्ष्मतत्त्व को धारण करने की शक्ति नहीं है, उन्हीं के लिए कथा-कहानी के रूप में पुराणों की रचना की गई है। इसी कारण अदूरदर्शी एवं अज्ञानी व्यक्ति के लिए पुराणों की कथादि आख्योपन्यास की कहानियाँ प्रतीत होना स्वाभाविक है। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि हिन्दुओं के शास्त्रोपदेश अधिकारी भेद से किञ्चित् विभिन्नता लिए हुए हैं। क्योंकि जो अधिकारी हैं, वे ही मर्म ग्रहण करने की क्षमता रखते हैं; अनधिकारी लोग केवल अर्थ समझकर क्या करेंगे? वे असली विषय को समझ ही नहीं सकते।

वेद में सूक्ष्म रूप से जिस योग-मार्ग का आभास दिखाई देता है, तंत्र या आगम में उसी को विशेष स्पष्टता के साथ और भी विस्तृत करके बताया गया है। उसी योगमार्ग में सामर्थ्यवान्

बनाने के लिए जिन शक्तियों की आवश्यकता होती है, योगशास्त्र में उन शक्तियों का विराट रूप भी दिखाया गया है। श्रुति, स्मृति और दर्शनादि में जहाँ सूक्ष्म कथाओं के प्रसंग आये हैं, वहीं तंत्र और पुराणों में स्थूल कथाओं के वर्णन दिये गये हैं। योरोपीय विद्या के द्वारा जिस प्रकार सूक्ष्म-वैज्ञानिक विषयों का प्रत्यक्ष चित्र दिखाया जाता है* हिन्दूधर्मशास्त्र में भी उसी प्रकार से विज्ञान के सूक्ष्म-तत्त्व श्रुति, स्मृति और दर्शन शास्त्र में वर्णित है। इसके बाद ही वे वैज्ञानिक सूक्ष्म तत्त्व-समूह तन्त्र और पुराण में प्रतिमा के स्थूल रूप में विस्तृत आकार में खण्डशः प्रदर्शित कर दिये गये हैं। तन्त्र-शास्त्र की शक्तिसाधना इस प्रकार योगविद्या की चित्रित छवि एवं पुराणों के देवी-देवता आदि सभी वैदिक ब्रह्मविद्या के खण्डित स्थूल रूप और प्रतिमा हैं। केवल इतना ही नहीं, वरन् ये सब सिद्धान्त साधकों के अन्तःकरण में बद्धमूल कर देने के लिए नानाविध इतिहासों की सृष्टि हुई है। वे इतिहास तीन प्रकार के हैं। यथा :—

**प्रथमतः**—अध्यात्म-विज्ञान के सूक्ष्म-तत्त्वों को विशद करके समझाने के लिए पशु-पक्षियों के व्याख्यान के रूप में तत्त्वोपदेश देना एक प्रकार का इतिहास है। इस प्रकार के इतिहास महाभारत के शान्ति-पर्व में भीष्म के द्वारा विस्तार के साथ कहे गये हैं।

**द्वितीयतः**—निम्नाधिकारी मनुष्यों को प्रबोध व समझाने के लिए देवी देवताओं की सृष्टि एवं उनके लीलादि के इतिहास हैं।

**तृतीयतः**—भक्त, साधक और योगियों की आख्यायिका हैं

---

* १३१३ बङ्गाब्द के पौष मास में कलकत्ता की राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के अधिवेशन के समय जो शिल्प-प्रदर्शनी दिखाई गई थी, उसमें सूर्य के द्वारा समस्त जीव जन्तुओं की सृष्टि-प्रणाली चित्रों के द्वारा प्रत्यक्ष करके बताई गई थी।

ये उनके सारे ही जीवन की आख्यायिकायें नहीं, वरन् अनेक जीवन चरित्र में जो कुछ भी असाधारणता और असामान्य रूप की देवतुल्य घटनायें हैं, केवल उन्हीं का चरितांश-विषयक विवरण है। क्योंकि हिन्दूधर्मशास्त्र में इतिहास का प्रतिपाद्य विषय केवल परमार्थ तत्त्व ही है। अतएव अंग्रेजी में जिसे इतिहास (History) कहा जाता है, आर्य-शास्त्रों में इतिहास का बिल्कुल वही अर्थ नहीं है। हिन्दूधर्मशास्त्रों में इतिहास का अर्थ इस रूप में लिखा गया है :—

"धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पूर्ववृत्ताकथायुक्तमितिहासं प्रचक्ष्यते ।।"

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के उपाय के रूप में उपदेशयुक्त जो पुरातन वर्णन है, उसीका नाम इतिहास है। उस इतिहास का प्रतिपाद्य विषय है प्रधानतः परमार्थतत्त्व, व्यावहारिक ज्ञान नहीं। उस तत्त्वज्ञान को हृदयंगम कराने के लिये पुराणादि में अद्भुत कल्पना सम्भूत ऐतिहासिक वर्णनों की रचना की गई है। वह इतिहास परमार्थ ज्ञान का प्रवाहक मात्र ही होता है। वह समस्त आध्यात्मिक अर्थपूर्ण पारमार्थिक इतिहास; आध्यात्मिक जगत् की सत्य घटनायें और तत्त्व कथायें हैं।

उपनिषदों में साधारण रूप से जिस इतिहास का आरम्भ किया गया है, पुराण और तन्त्रशास्त्र में उसी का विस्तृत वर्णन है। उन पुराण, तन्त्र, स्मृतिशास्त्रों से निम्नाधिकारी साधकों के लिए शक्तिवाद, भक्तिवाद और कर्मवाद की उत्पत्ति हुई है। जिसकी जैसी प्रवृत्ति है, वह उसी के अनुसार एक या अनेक वादों का आश्रय ग्रहण करते हुए भगवदाराधना में प्रवृत्त होकर क्रमशः जब एकान्त ईश्वर परायण हो जाता है तथा जब उसके कर्मसंन्यास द्वारा विषय-वैराग्य की उत्पत्ति होती है, तब वह दार्शनिक तत्त्वज्ञान का अधि-

कारी होता है। तन्त्र और पुराण हिन्दुओं के अज्ञानमूलक शून्योच्छ्वास नहीं हैं।

पहले हम बता चुके हैं कि वेद में सूक्ष्म-रूप से जिस योगपथ का आभास मिलता है, तन्त्रशास्त्र में वही योगमार्ग परिष्कृत कर के विस्तार पूर्वक बताया गया है। दक्षयज्ञ से दशमहाविद्या-रूप, यज्ञ का नाश, सती का देह त्याग, शिव की साधना, मदन-दहन और कार्तिकेय का जन्म प्रभृति कथाओं से सम्भवतः सभी हिन्दू परिचित होंगे। किन्तु उनका सूक्ष्म तात्पर्य है योगी की योग-साधना। उसमें मनुष्य का मन ही दक्ष है, वह अपनी कर्मशक्ति के गर्व से फूलकर ईश्वर-हीन कर्म करता है। सांख्यमत के अनुसार प्रकृति-पुरुष ही इसमें सती और शंकर रूप हैं। यहाँ कर्मशक्ति की परिचालना में अपरा प्रकृति को बाध्य होना पड़ता है। अतएव मनुष्य का ईश्वर-विहीन कर्म ही दक्षयज्ञ है। किन्तु इस प्रकार के कर्म में ईश्वर-स्वरूप आत्मा शक्ति दान करना नहीं चाहती, अतः प्रकृति की दश-महाविद्याओं को शक्ति रूप में धारण करना पड़ा है। दशमहा-विद्याओं का रूप जागतिक ऐश्वर्य की मूर्ति है और आत्मा दश-महाविद्या अथवा जगत् के रूप को देखकर मुग्ध हो जाती है। प्रकृति कर्म के अधीन होने से देहत्याग कर देती है, अर्थात् सूक्ष्म रूप से कुण्डलिनी अवस्था में स्वाधार (अपने ही आधार) में महा-निद्रिता हो जाती है। यहाँ तक जीव की वर्तमान अवस्था, तत्पश्चात् साधनपथ, यही महादेव की तपश्चर्या है। सारांश—

योग के द्वारा आत्मा ने उसे जगा लिया है। कुण्डलिनी जाग्रत होकर षट्चक्रों का भेदन करके सहस्रार पद्म में उसके साथ विहार में रत हो गई है। यह जागरण ही सती का पुनर्जन्म एवं विवाह षट्-चक्रभेदन तथा सहस्रा में शिव के साथ सम्मिलन ही विहार है। उस विहार के फलस्वरूप कार्तिकेय और गणपति का जन्म होता है। इसका भावार्थ यह होता है कि— साधक को सर्वसिद्धियाँ करतलगत

होने पर इस सूक्ष्म प्रकृति-पुरुष के संयोग से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसी के द्वारा हृदयरूप स्वर्गराज्य के काम-क्रोधादि असुरगण दूर होते हैं और दयादाक्षिण्यादि देवशक्तियाँ रक्षित होती हैं ।

ब्रजलीला की स्थूल घटनावलियों में भी इसी प्रकार का सूक्ष्म-तत्त्व गर्भित है । राधा और कृष्ण के रूप में ही सारी ब्रजलीला है । राध् धातु का अर्थ है आराधना, अतएव जो आराधना करे वही राधा है । इसी प्रकार कृष् धातु से कृष्ण शब्द निष्पन्न होता है । कृष् धातु का अर्थ है आकर्षण करना, अतः जो साधना-कारिणी शक्ति की समस्त इन्द्रियों का आकर्षण करता है, वही कृष्ण है । सुतरां, **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्',** अर्थात् कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं और राधा या आराधिका जीवात्मा है । क्योंकि :—

"सोऽहं हंसः पदैनैव जीवो जपति सर्वदा ।"

अर्थात् जीवात्मा सदा सर्वदा 'सोऽहं' शब्द के द्वारा ब्रह्मोपासना करता है; अतएव राधा ही जीवात्मा है ।

**ब्रजलीला का भावार्थ**—राधा कृष्ण को पति (स्वामी) रूप में प्राप्त करने के लिए प्रथमतः कात्यायिनी का व्रत करती है, यही जीव की कुलकुण्डलिनी की साधना है । कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर जीव के सम्यक् ज्ञान का उदय हो जाता है । उस समय लज्जा, संकोच, घृणा, शंका, कुल, मान, धर्माधर्म, सभी विकार भगवच्चरणों में अर्पित हो जाते हैं । आत्माभिमान शेष नहीं रह जाता । यही पुराणों में राधा के व्रत की साङ्गता (समाप्ति), वस्त्रहरण और वनविहार का तात्पर्य है । रास ही जीवात्मा और परमात्मा का संयोग है । तत्पश्चात् राधा सौ वर्ष की समाधि के द्वारा निर्गुणा होकर प्रभास क्षेत्र के ज्ञानयज्ञ के पश्चात् पुरुषोत्तम में प्रविष्ट हुई थी ।*

---

* इस तत्त्व की साधना इस ग्रन्थ के साधनखण्ड में लिखा गया है, एवं मेरा लिखा हुआ 'प्रेमिकगुरु' ग्रन्थ में विस्तार रूप से आलोचना की गई है ।

इस प्रकार सैकड़ों साधन रहस्यों के सूक्ष्म तत्त्व का पुराण और तंत्रशास्त्र में आख्यायिकाओं-द्वारा विवेचन किया गया है। समस्त तत्त्वों का विश्लेषण कर सकना व्यक्तिगत क्षमता से परे की बात है। पुराण के देवी-देवता स्थूलरूप में सृष्टि-तत्त्व के किस सूक्ष्म भाव से निहित हैं, आगे उन्हीं का विचार किया जायगा।

# सृष्टि-तत्त्व और देवता-रहस्य

यह सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्ममय है। देव कहिये या असुर, भूत कहिये या मनुष्य, यहाँ तक कि वृक्ष, पर्वत, जल, अग्नि, वायु कुछ भी कहिए, सभी ब्रह्म ही हैं।

"एकमेवाद्वितीयं सत् नामरूपं विवर्जितम्।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते॥"

पंचदशी

इस परिदृश्यमान नाम-रूपधारी प्रकाशमान जगत् की उत्पत्ति से पूर्व नामरूपादि विवर्जित केवल एक अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वव्यापी ब्रह्म विद्यमान था और इस समय भी वह सर्वव्यापी एवं उसी भाव से विद्यमान है।

इस वाक्य की विशेषता यह है कि, प्रति प्रलयकाल में विश्व-सत्ता बीजाकार में जिसे निर्गुणसत्ता में परिणत होकर ब्रह्म-लीन हो जाती है, वह सत्ता ही फिर सगुण होकर सृष्टिकाल में जगत् के उपादान के रूप में परिणत हो जाती है। अतएव सच्चिदानन्दमय ब्रह्म का यह सतांश केवल मात्र निर्गुण अवस्था से सगुण आकार धारण करता है।

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।"—श्रुति

यह समस्त भूत जगत् उसका एक पाद (चरण) है और शेष तीनपाद अमृत, नित्यमुक्त एवं स्वर्ग में अवस्थित हैं। अमृत इसलिए कि वह जन्म-मरण रहित है। नित्यमुक्त इसलिए कि वह त्रिगुण से परे रहकर वह निर्गुण एवं अपरिणामी होने से नित्य मुक्त, अतएव वह आनन्दमय स्वर्गधाम है। इसी कारण पञ्चदशीकार ने कहा है कि "जिस प्रकार वह सृष्टि से पहले भी था, उसी प्रकार वह आज भी है।"

भगवान् ने सृष्टि-रचना की इच्छा करते हुए कहा कि "एकोऽहं वहु स्याम्" मैं एक से अनेक होता हूँ।

"तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेयेति।"

श्रुतिः

उसने ईक्षण या आलोचना की कि मैं वहुत होऊँ या जन्म लूँ। ब्रह्म में इस प्रकार की वासना उत्पन्न होने पर वह प्रगटचैतन्यरूप बना, और उस वासना ने मूलातीत मूलप्रकृति का रूप धारण किया। वह मूलप्रकृति ही जगत् का आदि कारण है; किन्तु उस अक्षय पुरुष से वह स्वतन्त्र है। वह मूलप्रकृति ही तन्त्र की आद्याशक्ति एवं वह चैतन्य ही पुराणोक्त महाविष्णु है। यही सांख्य के प्रकृति और पुरुष हैं। मूल प्रकृति से सत्त्व, रज और तमोगुण का उद्भव हुआ और इनसे ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर हुए। पुराणों के मतानुसार—महाविष्णु या नारायण के नाभि-पद्म से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। इसका भावार्थ यह है कि प्रगटचैतन्यस्वरूप नारायण जगत् के कारण स्वरूप हैं; इसी कारण प्रलयकाल में वह कारणरहित होकर प्रसुप्त रहते हैं। वह कारणजगत् ही उन्हीं के द्वारा रचा जाने से वही (कारणजगत) पद्म स्वरूप हैं। पद्म का अर्थ है ब्रह्माण्ड का आभास। ब्रह्म ने स्वयं समस्त कारण और शक्तिसमूह के द्वारा सृष्टि स्वभाव को प्राप्त

होकर अपने अधिष्ठान-रूप जगत् के सूत्र का आभास-पद प्राप्त करते हुए सृष्टि का आरंभ किया। ब्रह्मा ने उस पद्म को जगत्रूप में प्रकाशित करने के लिए आत्मरूप से उसमें प्रवेश करके प्रथमतः तीन भागों में विभाजित हुआ, वे तीन विभाग "भूः भुवः स्वः" के रूप में हुए। यही पुराणों में कथित पृथ्वीलोक, पितृ वा प्रेतलोक और स्वर्गलोक हैं। भूलोक में जीवलीला, पितृलोक में जीव का कारण एवं स्वर्ग में स्वशक्ति से आत्मावस्थान होता है। इन तीन अवस्थाओं के द्वारा जीव केवल भोग ही कर सकता है, मुक्त नहीं हो सकता। आहार, निद्रा, भय, क्रोध और मैथुन ईन पाँच मायाधर्मों को ही भोग कहते हैं। जीवों को ईस भोग द्वारा जन्म-मृत्यु के अधीन होकर लय और पुनर्जन्म होता है। ईस भोग वासना से मुक्त होने पर ही मोक्ष होता है।

ईस प्रकार "भू र्भुवः स्वः" इन तीनों लोकों की सृष्टि हुई है और यही ब्रह्मा की सृष्टि है। उसी से इन त्रिलोकों की रचना हुई है। यह अदृष्ट सूक्ष्म-शक्ति को ही देवता कहा जा सकता है। सूक्ष्म जगत् क्या है? जगत् का उपादान – अर्थात् जगत् जिसमें अवस्थित है अथवा जगत् का जो वीजस्वरूप है। पञ्चमहाभूत के पञ्चीकरण में ही स्थूल जगत् का प्रकाश है। पञ्चमहाभूत का जो सूक्ष्मांश है, वही स्थूल-जगत् का सृष्टिकर्ता देवता है। अतएव क्षिति, अप्, तेज और व्योम ये पञ्चमहाभूत ही पुराण के पञ्च देवता हैं। अवश्य ही इनका स्थूल-भाग देवता नहीं है, वरन् इनमें जो सूक्ष्म शक्ति है, वही देवता है। इन देवता के सूक्ष्मांश के मिश्रण से ही स्थूल कीं उत्पत्ति होती है, इस प्रकार सूक्ष्म का विवर्तन ही स्थूल जगत् है। साथ ही इस विवर्तन से जिन समस्त भूतों एवं अदृष्ट-शक्तियों का उद्भव हुआ है, वे सब भी देवता हैं। संसार में जितने प्रकार के स्थूल पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, सबके ही अधिष्ठाता देवता हैं।

पाश्चात्य वैज्ञानिकगण कहते हैं कि—"एकमात्र अणु या परमाणु के संयोग-वियोग (आणविक आकर्षण और आणविक विकर्षण) से ही भौतिक स्थूल पदार्थों की सृष्टि संघटित हुई है।" उनके मतानुसार जगत् की सृष्टि और निर्माण के मूल में भौतिक पदार्थ (Elements) विद्यमान होते हैं। ये Elements भी तो स्थूल पदार्थ हैं। जिसका कोई भी रूप है, वही स्थूल है। जड़विज्ञान इन Elements भौतिक पदार्थों से आगे बढ़ने में असमर्थ है। उनके मतानुसार चित्शक्ति-रहित अचेतन अन्ध जड़शक्ति है और केवल जड़पदार्थ के संयोग से उसकी क्रिया जड़जगत् प्रकाशित हुई है। जड़जगत् की क्रिया को देखते हुए भौतिक पदार्थों का स्वरूप निर्णय कर सकना केवल वातुलता ही कहा जायगा। जिस आकाश (Ether) द्वारा वे स्थूल-जगत् में व्याप्त हैं, उसकी अन्तिम सीमा कहाँ है? तथा उसका स्वरूप और तत्त्व क्या है? इन बातों के समझने की क्षमता ही जब हममें नहीं है, तब हम यह भी कैसे समझ सकते हैं कि उस आकाश या ईथर के अन्तर्जगत् में और क्या वस्तु है? ऐसी दशामें हम केवल यही समझ सकते हैं कि कोई वस्तु है अवश्य, अन्यथा वह सक्रिय कैसे हो सकता है?* योगियों की ध्यानधारणा के बिना उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्ति का पता नहीं लग सकता।

---

* जड़ विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी स्पष्ट शब्दों में अपनी क्षमता बतलाई है यथा :—

Supposing him (The main of science) in every case able to resolve the appearances, properties and movements of things into mani-Festetion of force in space and time, he still finds and force—space and time pass all understanding. (First Principle, p. 66.)

भारत के स्वर्णयुग में योगबलशाली आर्यऋषियों के योगतत्त्व द्वारा उन सब सूक्ष्म तत्त्वों का आविष्कार हुआ है, उन्होंने योगबल से सूक्ष्मान्तर दृष्टिशक्ति द्वारा इस बात को देखा और जान लिया था कि वे प्रकृत आधिदैविक हैं; प्रत्येक शक्ति मूलतः सूक्ष्म-जगत् में चिच्छक्ति-विशिष्ट देवताओं द्वारा अधिकृत होकर वे सूक्ष्म-जगत् से स्थूल-जगत् को इस प्रकार सामंजस्य और सुश्रृङ्खलता के साथ परिचालन करते हैं। शायद हमारे स्थूल-जगत् के अमिश्र-मिश्र रूप में तैंतीस कोटि पदार्थ हैं; उन प्रत्येक की मूल सूक्ष्मशक्ति को ही तैंतीस कोटि देवता के नाम से अभिहित किया गया है।

उस अमिश्र और मिश्र सूक्ष्म-शक्ति को ही पुराणकर्ताओं ने नाम और रूप देकर देवता के रूप में कल्पना की है। अतएव देवता लोग पुराण के रूपक हैं, किन्तु इस प्रकार के रूपक नहीं हैं कि— जिसका वर्णन किया गया है, वह वस्तु नहीं है अथवा असम्भव घटना है, उसे विशेष रूप से समझाने के लिए ही लिखा गया है। पुराणों में ऐसे कोई रूपक नहीं लिखे गये। जिस प्रकार रङ्गमञ्च पर अभिनेता भगवान् विष्णु की कार्यावली अज्ञ मनुष्यों को समझाने के लिए विष्णु का वेष धारण कर उनकी लीलाओं का अभिनय करता है, उसी प्रकार शक्तियाँ भी महिमा और शक्ति का ज्ञान कराने के लिए स्थूलाकार धारण करती हैं। ऐसी दशामें वे रूपक इसलिए हैं कि उन्हें शक्ति का चैतन्य-रूप से ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती। वह जिस प्रकार का रूप धारण करते हैं, वही रूपक है। उस रूपक के इस प्रकार के भाव और ऐसे भावार्थ हैं कि जिनका विश्लेषण करने से हम प्रकृत तत्त्व से अवगत हो सकते हैं। केवल अध्यात्म-विद्या का ही नहीं, अन्यान्य सभी जटिल-तत्त्वों के चित्र में भी इसी के रूप हैं। हमारे पूर्वपुरुष ने संगीत की राग-रागिनियों की साकार कल्पना करके उनकी ध्यान-योग्य रचना कर दी है।

इसीसे प्रतिमाएँ भी प्रस्तुत हो सकती हैं। मुलतानी, दीपक-राग की सहधर्मिणी है, दीपक की पार्श्ववर्तिनी है, रक्तवस्त्रावृता एवं गौराङ्गी सुन्दरी है, यह सारा रूपक-चित्र कितना सुन्दर हो सकता है। किन्तु सौन्दर्य के अतिरिक्त एक चमत्कारी गुण और भी है। यह मुलतानी रागिणी का यथार्थचित्रण है और इस रागिनी के सुनने पर चित्त में जो भाव उदित होता है, ठीक वही भाव इस प्रतिमा के दर्शन से भी उत्पन्न होता है। इसी प्रकार हिन्दुओं के स्वर्ग, नरक, वैकुण्ठ, कैलासादि अन्तर्जगत् के समस्त विषय स्थूल अवयवों द्वारा प्रकटित हैं एवं सूक्ष्म सगुण ब्रह्मतत्त्व भी स्थूल अवयवों द्वारा देवी-देवताओं के रूप में प्रतीयमान होते हैं। इनकी साकार प्रतिमा के दर्शन से उस सूक्ष्म भाव की धारणा होती है। दो एक उदाहरण इस प्रकार हैं :—

**विष्णुमूर्ति** :—महत्तत्त्व या प्रगटचैतन्य, यह रूप चतुर्भुजधारी नारायण का है। अनन्त वायुराशि नीली दिखाई देती है और ये भी अनन्त हैं, अतएव इनका भी नीलवर्ण है। चतुर्भुजाओं में शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी हैं। सृष्टि के मूलभूत जगत् के केन्द्र स्थान पर नारायण का नाभिपद्म है, यह बात हम पहले बता चुके हैं। नारायण का हस्त स्थित पद्म सृष्टिक्रिया की, गदा लयक्रिया की, शंख स्थितिक्रिया की और चक्र अदृष्ट (जो कि प्रतिक्षण परिवर्तित होती है) क्रिया की प्रतिमा के रूप में है। सूर्य, ग्रह, नक्षत्रादि उनके अलंकार स्वरूप हैं। विष्णु की दो पत्नियाँ हैं—लक्ष्मी और सरस्वती। लक्ष्मी आनन्दमयी और सरस्वती चित् या ज्ञानस्वरूपा हैं। वे नारायण जगत् के अणु-अणु में प्रविष्ट होने से विष्णु के नाम से अभिहित हुए हैं। "विगता कुण्ठा (माया) यस्य सः वैकुण्ठः ॥" इस प्रकार से वे हृदय में प्रकाशित होने के कारण वैकुण्ठवासी कहलाते हैं।

इस महत्तत्त्व का स्त्री-रूप भगवती-मूर्ति है। वही भगवान् का शाक्त शरीर है। दक्षिण में ईश्वर की ऐश्वर्य समष्टि-रूपा लक्ष्मी एवं वामभाग में निर्मलज्ञानस्वरूपा शुद्ध-सत्त्वा चित् शक्ति सरस्वती हैं। दोनों ओर सर्वसिद्धिप्रद गणेश, देवशक्ति के रक्षाकारी कार्तिकेय हैं। असुरशक्ति पराजित होती है और सृष्टि, स्थिति एवं लय की सूक्ष्म शक्ति देवतारूप में चारों ओर अङ्कित है। वे दशदिशाओं में हाथ फैलाकर संसार के कार्य में नियुक्त हैं।

**कालीमूर्ति**—सांख्यदर्शन के सगुण ईश्वर या प्रकृति पुरुष की प्रतिमा है। सांख्य मतानुसार पुरुष जड़ एवं प्रकृति क्रियाशील है। इसी कारण शिव शवाकार में पड़े हुए हैं और प्रकृति उन पर खड़ी रहकर जगत् का व्यापार सम्पन्न करती है। इस प्रकार जगत् के सृष्टि, स्थिति और लय की अदृष्ट सूक्ष्मशक्तियाँ पुराणों में साकार कल्पित होकर नाम-रूप को प्राप्त हुई हैं। इसकी सम्पूर्ण आलोचना यहाँ हो सकना असम्भव है।

**देवलीला**—जो पुराणों में वर्णित है, उसका भावार्थ यह है कि मानव हृदय की सद्वृत्तियों की सूक्ष्मशक्ति ही देवता है और असद्-वृत्तियों की सूक्ष्मशक्ति ही दैत्यरूप हैं। इसी कारण देवता और दैत्यों में सर्वदा युद्ध होता रहता है। जब वृत्रासुर और तारकासुर की तरह काम-क्रोधादि प्रधान दैत्यों का अभ्युदय होता है, उस समय देवशक्ति हृदय-रूप स्वर्ग को छोड़ कर पलायन कर जाती और वहाँ असुरों का एकाधिपत्य हो जाता है। उस समय योगसाधना द्वारा प्रकृतिपुरुष के संयोग से कार्तिकेयशक्ति प्राप्त कर दैत्यों को भगाया जाता है।

**कृष्णलीला** का भी यही स्वरूप है। जो संसार से दूर चले गये हैं, वे ही व्रजधाम में निवास करते हैं। व्रजपुर में गोपरूप जीव आकर देखता है कि वहाँ भी संसार का विषमय चिन्तारूपी कालियनाग और पाप-प्रलोभन का भीषण प्रलम्बासुर उत्पात मचाता है। उस समय साधना

के द्वारा जीव में सत्त्वगुण आविर्भूत होने पर स्वयं भगवान् कृष्ण रूप में उसका उच्छेद कर डालते हैं। उनके हाथ में गोवर्द्धन गिरि ( गो = वेद ज्ञान, गोवर्धन = ज्ञानवर्धन के उपायस्वरूप, गिरि = वेदान्त वाक्य) हैं। वे इन्द्र के कोप के कारण होने वाले अनिष्टपात को निवारण कर गिरि-याज्ञिकों की रक्षा करते हैं। अतएव पुराणों के ये सब आख्यान एवं चित्र अन्तर्जगत् के नित्य व्यापार हैं।

इन सब साकार मूर्तियों के द्वारा सृष्टि-तत्त्व और अन्तर्जगत् की घटनाएँ मानव हृदय में अङ्कित होती हैं। अतएव दर्शन का जो सूक्ष्म-तत्त्व है, वही पुराण के देवता और कार्यकारिणी सूक्ष्मशक्ति ही देवी-रूप में उनकी स्त्री है। इन्द्र, चन्द्र प्रभृति समस्त देवता ही सृष्टि, स्थिति और लय की अदृष्ट सूक्ष्मशक्ति मात्र हैं। उनमें से दो एक के नामों का विश्लेषण कर देना उचित होगा।

**गोपीवल्लभ** का आशय क्या है ? श्रुति कहती है कि—

"गोपीजनाविद्याकलाप्रेरकस्तन्मया चेति।"

गोपालतापिनी उपनिषद्

जो रक्षा करे उन्हीं की पालिनी शक्ति गोपी है। उस पालक शक्तिरूपी अविद्या के जो वल्लभ हैं, वे ही अविद्या के प्रेरक एवं अनन्त जगत् के अधिष्ठान हैं। अतएव सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ही गोपीजन वल्लभ हैं।

अब देखिये—**गोविन्द** का भावार्थ क्या है ?

गवा ज्ञानेन वेद्य उपलभ्य: गोविन्दः।

गो शब्द का अर्थ है वेद ज्ञान वा तत्त्वज्ञान; अत: जो वेद या तत्त्वज्ञान द्वारा उपलब्ध है, वे ही गोविन्द हैं।

**वासुदेव** कौन हैं ? वसुदेव के पुत्र। वसुदेव का अर्थ क्या है ?

"सत्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो ह्यधोक्षजो मे मनसा विधीयते ॥"

श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ४, अध्याय ३

वसुदेव शब्द से विशुद्ध सत्त्वगुण का बोध होता है। क्योंकि निर्मल सत्त्वगुण से ही वासुदेव प्रकाशित हुए हैं।

अब देखिये **जनार्दन** का अर्थ—

जनं जन्म अर्दयति हन्ति भक्तस्य मुक्तिदत्वादिति जनार्दनः। किंवा—जनान् लोकान् अर्दयति हररूपेण संहारकत्वादिति जनार्दनः। अथवा जनयति उत्पादयति लोकान् ब्रह्मरूपेण सृष्टिकर्तृत्वादिति जनार्दनः। किंवा समुद्रान्तर्वासिनः जननामकासुरान् अर्दितवान् इति जनार्दनः।

—जो भक्तों के जन्ममृत्यु का निवारण कर उन्हें मुक्ति देते हैं, वे ही जनार्दन हैं, अथवा हर रूप में जो जगत् को लय (नाश) करते हैं, किंवा ब्रह्मरूप में चराचर जगत् की सृष्टि करते हैं अथवा समुद्रान्तरवासी 'जन' नामक असुर को हनन किये हैं वे ही जनार्दन हैं।

अब **भगवान्** शब्द का आशय देखिये :—

"उत्पत्तिञ्च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ॥"

जिन्हें समस्त भूतों की उत्पत्ति, विनाश, गति, अगति, विद्या और अविद्या ज्ञात है, वे ही भगवान् हैं। यहाँ उनके रूप की थोड़ी-सी आलोचना की जायगी। भगवान् की सात्त्विक-मूर्ति का ध्यान इस प्रकार बताया गया है :—

"सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥"

गोपालतापिनी

टीकाकार विशेश्वर ने अर्थ करते हुए बताया है कि—

"सत् पुण्डरीक नयनं" का आशय क्या है ? सत् निर्मलं पुण्डरीकं हृत्कमलं नयनं प्रापकं यस्य तम् । जिनको निर्मल हृत्कमल में प्राप्त किया जाय । अब 'मेघाभं' पर विचार करें—मेघा उपतप्तमनसि सच्चिदानन्दस्वरूपा आभा यस्य तम् । सच्चिदानन्दस्वरूप वैद्युतिक आभाविशिष्ट होकर जो उत्तप्त मन से शान्ति प्रदान करते हैं, वे ही 'मेघाभ' हैं ।

अब 'वैद्युताम्बर' पर विचार कीजिए—विद्युदेव वैद्युतम् तादृशं अम्बरं स्वप्रकाशचिदाकाशमित्यर्थः । जो स्वयं प्रकाशी और चिदाकाश स्वरूप है; जिसे प्रकाश करने को किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती; जो अपने चित्स्वरूप में विद्युत् के समान स्वयं प्रकाशित हो रहे हैं, वे ही पीताम्बर हैं । उनका उज्ज्वल पीताम्बर ही विद्युत् समान है । अब 'द्विभुजं' पर विचार करें—द्वौ हिरण्यगर्भविराडात्मानौ भुजौ मौर्तिकशिल्पहेतुभूतौ हस्तौ यस्य त द्विभुजम् ।

जगत् की सृष्टि के कारण और जगत् की मूर्ति के हेतु जो विराट् पुरुष हैं, उनके दो हाथ हैं । अब 'ज्ञानमुद्राढ्यं' देखिये—ज्ञानमुद्रा तत्त्वमसीति सच्चिदानन्दैकरसाकारवृत्तिः तत्र आढ्यम् प्रकाशमानम् । जो तत्त्वमसि रूप में सच्चिदानन्दैकरसाकार मूर्ति में प्रकाशमान है । इसी प्रकार 'वनमालिन' का आशय है—वने विभक्तप्रदेशे स्वभक्तेषु मालते प्रकाशते । जो निर्जनवन-प्रदेश में अपने भक्तगणों के पास प्रकाशमान हैं । अब 'ईश्वर' शब्द पर विचार कीजिए । ईश्वर—ब्रह्मादीनामपि नियन्तारम् । जो ब्रह्मादि देवताओं तथा अन्य सभी का नियन्ता हैं ।

अतएव सत्यरूपी भगवान् निर्मल पुंडरीक नयन, जलधर कांति पीतवसन, द्विभुजधारी, हृदय में अङ्गुष्ठ तथा तर्जनी में योग रूप ज्ञानमुद्रा-

धारी हैं, वे ही वनमाला-विभूषित सबके ईश्वर हैं। सुज्ञ पाठक नाम-रूप में क्या महान् व्यापार तथा महान् उद्देश्य गर्भित हैं, वह आपने समझ ही लिया होगा। अपने आर्य ऋषि मुनियों की इन समस्त आश्चर्यमयी कवित्व एवं कल्पना शक्ति की जितनी अधिक आलोचना करेंगे उतना ही अधिक उनकी महती कीर्ति का परिचय हमें मिलता जायगा। विलास के उपकरण चित्रादि से भी हिन्दू लोग ज्ञान लाभ करते हैं।

अब सोचिए—**हरगौरीमूर्ति**—यह ज्ञान और प्रेम की ज्वलन्त छवि है। ज्ञान ही महादेव की प्रतिमा है, ज्ञान उत्पन्न होने पर संसारासक्ति छूट जाती है। इसी कारण काशी के समान स्वर्णपुरी में तथा कुबेर जैसे भण्डारी होते हुए भी वे बिना किसी ओर भ्रूक्षेप किए भस्म और नरास्थि अलङ्कारयुक्त नग्नवेश से श्मशान में निवास करते हैं। वे सब कार्यों में उदासीन हैं, किन्तु 'भगवत् प्रेम' ज्ञान योगी को हृद्देश में धारण किए हुए हैं। ज्ञान में प्रेम और प्रेम में ज्ञान मिश्रित है। कितना ही सुन्दर दृश्य है। इस प्रकार के ज्ञानयोगी का मानसपुर ही कैलाशधाम के समान है।

इसी प्रकार दूसरे एक चित्र को देखिए, जिसमें कृष्ण कदम्ब के नीचे खड़े राधा नाम की साधिका वंशी बजा रहे हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों फलयुक्त कल्पतरु के नीचे खड़े होकर भगवान् विवेक बाँसुरी के स्वर में आराधिका जीव को अमृत पान के लिए पुकार रहे हैं।

ऐसे ही एक चित्र को और देखिए, अटल वृष के ऊपर महारुद्र विराजमान हैं। उनकी गोद में सर्वसौन्दर्यमयी, सर्वालङ्कारभूषिता, चिरयौवना गौरी विराजमान हैं। रुद्रमूर्ति लयक्रिया की प्रतिमा है। यह चित्र मानव प्राणियों को पुकारकर बतलाता है कि "मानव ! तुझे मरने से भय क्यों जान पड़ता है ? एक बार तनिक ध्यान से तो देख कि

मृत्यु के बगल में कौन बैठा हुआ है ? एक बार किसी प्रकार मर जाने पर सर्व-सुखाधार स्वरूपिणी उस युवती को प्राप्त कर सकेगा" इसी कारण कवि ने कहा है—

ये नित्य उद्याने सेइ पुष्प विराजित।
रे मृत्यु! ताहार तुमि सरणि निश्चित॥
कोनरूपे अतिक्रम करिले तोमाय।
सफल हइबे आशा जाइब तथाय॥

कृष्णचन्द्र मजूमदार

अर्थात् जिस चिरन्तन ( नित्य ) उद्यान में वह पुण्य आभा विराज रही है, हे मृत्यु ! उसको तुमने कभी स्मरण नहीं किया, यदि किसी प्रकार से तुम्हें अतिक्रम कर सकें तो मेरी समस्त आशाएँ सफल होगी और मैं उस ( अनन्त , पद पर पहुँच जाऊँगा।

यह बात मिथ्या नहीं है; वृषरूपी अटल सत्य पर ही यह वाक्य अधिष्ठित है। प्यारे पाठकगण ! और कितना एवं कहाँ तक दिखाया जाय ? हिन्दू-शास्त्रों में इस प्रकार के असंख्य तत्त्व अनन्त भाव, एक व्यक्ति द्वारा प्रकाशित करना असम्भव है। तन्त्र और पुराण के इन सब सिद्धान्तों को समझने के लिए दूसरे धर्मवालों के लिए आज भी बहुत देर है।

**शिवलिङ्ग** की आराधना का भी एक विशेष रहस्य है—

आलयं लिङ्गमित्याहुर्न लिङ्गं लिङ्गमुच्यते।
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि लीयन्ते बुद्बुदा इव॥

किसी इन्द्रिय विशेष को ही लिङ्ग नहीं कहना चाहिए। वरन् आलय को ही लिङ्ग समझना चाहिए। आलय—अर्थात् सर्वभूत जिसमें लय को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार समुद्र में उठे हुए पानी के बुदबुदे समुद्र में ही विलीन हो जाते हैं। उसी प्रकार 'शिव' से उठे हुए बुदबुद-

स्वरूप जीव समूह जिसमें लय को प्राप्त होते हैं, उसी का नाम लिङ्ग है।

इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर को लिङ्ग शरीर कहा जाता है। यथा—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः।

कठ श्रुति।

अर्थात् परम पुरुष शिव सर्वमय होते हुए भी साधक के हृदय स्थान में वे केवल अंगुष्ठ परिमाण में अवस्थित होने से लिङ्ग कहलाते हैं।

आकाशं लिङ्गमित्याहुः पृथ्वी तस्य पीठिका।
प्रलये सर्वदेवानां लयनाल्लिगमुच्यते॥

अर्थात् आकाश लिङ्ग है और पृथ्वी उसका आसन है। महाप्रलय के समय सब देवताओं के लय हो जाने पर केवल लिङ्ग रूपी महादेव ही शेष रहते हैं। इसी कारण उन्हें लिङ्ग शब्द से सम्बोधन किया जाता है। अतएव लिङ्ग अथवा गौरी पीठ का अर्थ पुरुष अथवा स्त्री की किसी निकृष्टतम इन्द्रिय नहीं हो सकता।* अनन्त ईश्वर और सूक्ष्म

---

* हमारे देश के एक प्रसिद्ध कवि ने अपने 'प्रवास के पत्र' नामक ग्रन्थ में एक स्थान पर लिखा है—'निकृष्ट लिङ्ग उपासक लोग' इत्यादि। हिन्दूसमाज के एक गण्यमान्य एवं श्रेष्ठ व्यक्ति के इस प्रकार उत्कट ज्ञान अथाह भक्ति एवं आश्चर्यपूर्ण विश्वास को देखकर स्तम्भित व विस्मित रह जाना पड़ता है। शिक्षित व्यक्ति का अधःपतन इससे अधिक और क्या हो सकता है? ये ही लोग हिन्दुओं के नेता बनकर अयाचित भाव से धर्मोपदेश दिया करते हैं। जिन्हें लिङ्ग शब्द का एक से अधिक अर्थ का ही ज्ञान नहीं है, उनका धर्मगुरु के पद पर आरूढ़ हो जाना आत्मम्भरिता और धृष्टता प्रकाश करने के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? क्योंकि इनकी अपेक्षा तो कोल, भील एवं सन्थाल ही धर्म का ज्ञान अधिक रखते हैं। अनधिकार चर्चा में हस्तक्षेप करने पर अशिक्षित लोग

मूल प्रकृति को साधारण जन समाज ध्यान-धारणा से हृदयंगम नहीं कर सकता; इसीलिए अधिकारभेद-विरहित इस लिङ्ग रूप शिव की व शिव-शक्ति कालिका की आराधना करने के लिए विविध व्यवस्थाएँ प्रचलित हैं। यथा—

मन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

श्रुतिः

ब्रह्म निर्गुण है और निर्गुण की उपासना सम्भव नहीं है अतएव शक्ति के सहयोग से उसकी उपासना करनी चाहिए। इसी कारण लिङ्गमय ईश्वरचैतन्य के साथ योनिपीठ की स्थापना की गई है। अत-एव शिवलिङ्ग पूजा केवल सगुण ब्रह्म की उपासना ही है।

हमें आशा है कि तन्त्र पुराणादि के देवी-देवताओं की आख्यायिकाएँ और नाम-रूप एवं प्रतिमादि को इस विवेचन के पश्चात् कोई भी सज्जन फुर्सत की गप्पबाजी या बच्चों के गुड़िया का खेल नहीं समझें। वेद-वेदान्त के विभागकर्ता वेदव्यास के द्वारा ही समस्त पुराणों का सम्पादन हुआ है। निम्नाधिकारी जन समाज को धर्मशिक्षा देने के लिए पुराणों में जाज्वल्यमान रूप से ब्रह्म का प्रदर्शन किया गया है। साधारण जनता में भक्ति का उद्रेक करने के लिए ही देवी-देवताओं की सृष्टि हुई है। उस भक्ति को लुप्त न होने देने के लिए उन्होंने पुराणों की सृष्टि की है

---

ही समाज में हास्यास्पद होते हैं। किन्तु शिक्षित व्यक्ति इस प्रकार का अज्ञानाभिमान रखते हैं; उसे इसके पहले हम नहीं जानते थे। इस श्रेणी के लोगों द्वारा स्वदेश और स्वधर्म की उन्नति कैसे हो सकती है? यह विचार योग्य बात है। किन्तु हिन्दूसमाज मृत पुरुष की तरह आचार-विचार हीन व्यक्तियों की इस प्रकार की प्रलापोक्तियों को चुपचाप सुन लेता है। यही आश्चर्य की बात है।

एवं कल्पना का विषय सर्वसाधारण के सम्मुख प्रगट न करने का उपदेश दिया है। किन्तु हिन्दू लोग जानते हैं कि—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण:।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप-कल्पना ॥

रामतापनी

ब्रह्म चिन्मय, अद्वितीय, मायातीत एवं अशरीरी होने पर भी उपासकों के कार्य-साधनार्थ उसके रूप की कल्पना की गई है। जब साधक अधिकारी हो जाता है, तब पौराणिकरहस्य समूह स्वयं ही आलोक की तरह प्रकाशित हो उठता है।

# पूजा-पद्धति और इष्टनिष्ठा

हिन्दुओं के देवी-देवता ही सिर्फ नहीं, वरन् उनकी पूजा पद्धति ने भी प्रत्यक्ष आकार धारण कर लिया है। हिन्दूलोग जिस आध्यात्मिक साधना के बल पर भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, वह आध्यात्मिक साधना भी प्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित की गई है। दुर्गोत्सव में जो स्थूल-पूजा होती है, वह आभ्यन्तरिक सूक्ष्म साधना का ही बाह्य आकार है। भगवद् आराधना के लिए पहले चित्त को परिशुद्ध करना परम आवश्यक होता है और उस शुद्धि कार्य के बाह्य रूप ही आसनशुद्धि, अङ्गशुद्धि, भूतशुद्धि आदि हैं। इन सब शुद्धिक्रियाओं द्वारा ही मनुष्य परिशुद्ध होता है। इसके बाद आत्मनिवेदन की क्रिया की जाती है। चित्त शुद्ध हुए विना कोई भी व्यक्ति अपने को पूर्णरूपेण ईश्वर में समर्पण नहीं कर सकता। आत्मनिवेदन करना हो तो हृदय की समस्त कामनाएँ, प्रवृत्तियाँ और श्रद्धा-भक्ति देवमुखी होनी चाहिए। उस आत्मनिवेदन का बाह्य रूप ही नानाविध पदार्थों के सहित नैवेद्य-दान है। भक्ति-पुष्पा-

माया, मोह और संसाराशक्ति रहती है, तब तक कभी भी पूर्ण रूप से ईश्वर में आत्मनिवेदन नहीं किया जा सकता। यदि इन्द्रिय-परता एवं रिपु ( विकार ) परतन्त्रता रञ्चमात्र भी हो तो कभी भी आत्मनिवेदन नहीं हो सकता। यह संसारासक्ति इन्द्रिय एवं रिपु की विकार-वशता ही मानव का पशुत्व है, क्योंकि इतर पशुओं में भी यह विद्यमान होती है। अतएव इस पशुता का एक बार संहार होना आवश्यक है। इसी कारण आत्मनिवेदन के रूप में नैवेद्य समर्पण के पश्चात् ही पशु बलि की व्यवस्था है। जब संसाराशक्ति का अवसान हो जाय, तब साधक के देहस्थित तमोगुणान्वित पशु ( कृष्ण वर्ण बकरे ) का बलिदान होना उचित है।* जब साधक के विकार रूपी पशु की इस रूप में बलि हो जाती है, तभी पूर्ण-रूप से उसके हृदय में रति ( भक्ति तत्परता ) और एकान्त आसक्ति (सच्चा अनुराग) की उत्पत्ति होती है। ईश्वर में पूर्णासक्ति का नाम ही आरातिक है। इस आरति क्रिया में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और कान्तासक्ति के द्वारा हृदय में भगवद्भक्ति पूर्णमात्रा में पहुँच जाने पर ही ईश्वर में तन्मयता उत्पन्न होती है। उस भक्तिपञ्चक का निदर्शन दीपमाला, सजलपद्म, धौतवस्त्र, विल्व पत्र आदि का समर्पण एवं साष्टाङ्ग प्रणाम करना है। यह पञ्चरूप की आराधना ही ईश्वर को आरतिदान है। जिस ईश्वरीय ज्ञान से देवदर्शन होता है, वह ज्ञान-भक्ति के पञ्चदीपकों के आधार पर ज्योति स्वरूप में

---

* अन्य उद्देश्य—जो लोग मांसाहारी हैं, उनकी शक्ति उपासना के साथ निर्लोभ और निष्काम धर्मशिक्षा देना ही बलिदान का उद्देश्य है। नहीं तो पशु हिंसा पाप है। सकाम साधक को पशुबलि में पाप होता है। पुराण का सुरथ राजा इसका उदाहरण है।

इसका दूसरा भी अर्थ है 'हृदयमु वै पशुः' हृदय भी निश्चित पशु है अतएव पशुपति का अर्थ हृदय समर्पण भी युक्तियुक्त है। बकरे की बलि तो मात्ररूपक है। —सम्पादक

प्रकाशित होता है। उस समय हृदय में यह ज्ञानालोक प्रज्वलित होकर, साधक के हृदय में भगवत्-शक्ति दशभुजा की सत्त्व मूर्ति के रूप में दशों दिशाओं को प्रकाशित करती हुई दर्शन देती हैं।

अन्य देवी-देवताओं की पूजा का भी यही स्वरूप है। इसके द्वारा साधक के निष्काम धर्म, भगवच्चरण में सर्वस्वार्पण, चित्त की एकाग्रता और इष्टनिष्ठा साधित होती है। हिन्दू उपासक उस मृन्मयी अथवा शिलामयी या दारू ( काष्ठ ) मयी मूर्त्ति में प्राण प्रतिष्ठित देवत्व की पूजा करता है। उस प्राणप्रतिष्ठा से मृत्तिका, काष्ठ अथवा पाषाण केवल उसी रूप में न रहकर उनमें सूक्ष्म रूप से भगवान् का आविर्भाव हो जाता है। पूजा का नियम भी इसी प्रकार होता है कि प्रथमतः साधक देवता का रूप ध्यान करते हुए अपने मस्तक पर पुष्प रखकर मानसोपचार द्वारा पूजा करे। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि प्रथमतः परमात्मा को देवता रूप में कल्पना करके देहस्थित चतुर्विंशतितत्त्व उनके चरणों में अर्पण किए जाते हैं। इसके वाद ( मूलमन्त्रोच्चारणपूर्वक ) "श्री अमुकदेवस्य मूर्तिं कल्पयामि।" कहकर उस देवमूर्त्ति की कल्पना करें। तत्पश्चात् पुनः ध्यान करते हुए सुषुम्ना-नाड़ी के अन्तर्गत ब्रह्मवर्त्म* द्वारा हृदयस्थ कल्पित-देवता को सहस्रार ( पद्म ) में नियोजित करके निःश्वास-पथ द्वारा एक दीपक से प्रज्वलित अन्य दीपक की तरह प्रतिमा में देवता के आविर्भाव का चिन्तन करते हुए उनका आवाहन करें। मन्त्र यथा—( मूलोच्चारणपूर्वक ) "अमुक देव-देवी इहागच्छागच्छ, इह तिष्ठ तिष्ठ, इह सन्निहितो भव, इह सन्निरुद्धो भव, अत्राधिष्ठानं कुरु, मम पूजां गृहाण"। यह मन्त्र बोलकर मूल मन्त्र द्वारा विशेषार्घ्य का जल लेकर देवता के अङ्ग पर प्रोक्षण करें। अनन्तर—"ॐ स्थां स्थीं स्थिरो भव यावत् पूजां करोम्यहम्।" यह मन्त्र पाठ करें।

---

* ब्रह्मवर्त्म प्रभृति का वर्णन लेखक प्रणीत 'योगीगुरु' ग्रन्थ में देखिए।

इसके पश्चात् हाथ जोड़कर प्रार्थना करें—

तवेयं महिमामूर्तिस्तस्यां त्वां सर्वगं प्रभो ।
भक्तिस्नेहसमाकृष्टं दीपवत् स्थापयाम्यहम् ।।

विज्ञ पाठक ! समझ लिया न आपने ? प्रथमतः सर्वव्यापी परमात्मा के देवमूर्ति की कल्पना करके सम्मुखस्थ घट वा पट में उसका आरोप किया जाता है । अव तक जो मृत्तिका या धातु थी; उसी को सम्वोधन करके जव साधक कहता है "हे अमुक देव ! तुम यहाँ आकर इस मूर्ति में अधिष्ठान करो । क्योंकि तुम सर्वव्यापी एवं सर्वत्र गमन करने वाले हो । अतएव मैं तुम्हें भक्ति और स्नेहपूर्वक पुकारता हूँ कि "तुम यहाँ आकर जव तक मैं पूजा करूँ तव तक स्थिर भाव से अवस्थान करो । मैंने इसीलिए वहाँ पर दीपकवत् तुम्हारी स्थापना की है ।" जव मन में उसको स्थापित करके पूजा की जा सकती है, तव अन्य वस्तु में उसका आरोपण क्यों नहीं हो सकता ? इसके वाद साधक प्राण-प्रतिष्ठादि करके पूर्वोक्त नियमानुसार पूजादि समाप्त करने पर अन्त में कहता है—

ॐ आवाहनं न जानामि, नैव जानामि पूजनम् ।
विसर्जनं न जानामि, क्षमस्व परमेश्वर ।।

'मैं न तो आवाहन करना जानता हूँ और न पूजन करना ही जानता हूँ; इस प्रकार विसर्जन भी मैं नहीं जानता अतएव हे परमेश्वर ! तुम अपने गुण-स्वभावानुसार इन सब बातों के लिए मुझे क्षमा करो' ।

इसके वाद साधक इस प्रकार विसर्जन मन्त्र कहें "गच्छ देव यथेच्छया" अर्थात् हे देव ! तुम इच्छानुसार यथास्थान पर गमन करो । तत्पश्चात् मिट्टी की प्रतिमा को नदी में पदाघात से विसर्जन किया जाता है । क्योंकि, हिन्दू जानता है कि मैंने जिसको आवाहन करके पूजन किया है, वह अव इसमें नहीं है, स्वस्थान को चले गये हैं । इस विसर्जन क्रिया से ही यह बात सप्रमाण सिद्ध हो जाती है कि हिन्दूगण

प्रतिमा रूप मृत्तिका, या पाषाण को नहीं वरन् उसमें आरोपित देवता की पूजा करते हैं। पूजा पद्धति में आत्म-समर्पण की क्रिया और भी विशेष सुन्दर है। यथा—

ॐ यत् किंचित् क्रियते देव मया सुकृत दुष्कृतम्।
तत् सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत् प्रयुक्तः करोम्यहम्॥

महादेव जी ने श्रीरामचन्द्र जी को भी इसी प्रकार उपदेश दिया है। यथा—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
तत् सर्वं राघवश्रेष्ठ कुरुष्व च मदर्पणम्॥

यही बात भगवान् अर्जुन को कहे हैं। पूजादि के स्तव और कवचों में भगवान् की अनन्त कीर्त्ति का वर्णन किया गया है। इसलिए हिन्दुओं का मन्त्र और पूजा-पद्धति ब्रह्म-उपासना का ही स्थूल अवयव है। तीरान्दाजियों को भी पहले कोई स्थूल पदार्थ को लक्ष्य करके तीर छोड़ना पड़ता है, फिर धीरे-धीरे सूक्ष्म और सूक्ष्मतर पदार्थ की ओर लक्ष्य करके तीर छोड़ते हैं। इस से वे तीरान्दाजी में कुशलता प्राप्त करते हैं। इसी तरह साधकगण भी सर्वप्रथम देवता की सूक्ष्मशक्ति को लक्ष्य नहीं कर पाते। अतएव उसी स्थिति में उन्हें स्थूल रूप में या जड़ में अपना लक्ष्य स्थिर करना पड़ता है। पहले देवमूर्ति अवलम्बन करके उसके ऊपर भावनास्रोत प्रवाहित करने की शिक्षा दी जाती है।

पूजा, आह्निक, जप, तप इन सभी का महान् तात्पर्य हृदयङ्गम न करके, यह बच्चों का खेल कहकर त्याग करते हुए कोई भगवद्गीता का निष्काम कर्मी, कोई सांख्य का प्रकृति-पुरुष, कोई बुद्ध का मायावाद, कोई कृष्ण का कान्ता-प्रम का माधुर्यरस को लेकर सम्पूर्ण रूप से ही धर्मविच्युत हो चुके हैं। जानता हूँ कि यह कार्य उत्तम एवं साधनाङ्गों में श्रेष्ठ है, परन्तु इसमें तुम्हारे क्या हैं? तुम सुई निर्माण करने में अक्षम

हो, कमान की आशा क्यों करते हो। तुम जो जानते हो, जिस प्रकार संचय किये हो, जिस तरह अधिकारी बने हो, उस प्रकार कार्य करो।

तुम्हारा हृदय क्षुद्र है, तुम नश्वर हो, अतएव तुम अपने मन के अनुरूप मूर्ति गढ़ कर उसके चरणों में तुलसी-चन्दन अर्पण करो तो इनमें कोई दोष नहीं, वरन् हिन्दूधर्म की सुश्रृङ्खलता के द्वारा ही तुम ज्ञान चन्दन, भक्ति-तुलसी से ज्ञान प्राप्त कर उपासना के सूक्ष्म-तत्व तक पहुँच सकते हो।

इष्टनिष्ठा के कारण बेचारे हिन्दुओं को कितनी ही बातें सुननी पड़ती हैं। कई कहते हैं कि एक धर्म-सम्प्रदाय होने पर भी शक्ति, शैव और वैष्णवों में परस्पर हिंसा, द्वेष क्यों है? हिन्दू लोग इसे एक तत्व अभ्यास के रूप में जानते हैं। हमारे पास जब एक मनुष्य का पेट भरने भर का अन्न नहीं है, तब विश्व की भूख मिटाने के लिए हमारा प्रयत्न करना क्या अर्थ रखता है? इसी कारण साधक प्रथमावस्था में अपने इष्ट देवता को श्रेष्ठ समझ कर भक्ति का उत्कर्ष साधन करता है। एक बार परम भक्त हनुमान् को श्रीकृष्णजी की विद्यमानता में अपने इष्ट की पूजा करते देख कर अर्जुन ने उनसे पूछा—"क्या तुम राम और कृष्ण को पृथक् समझते हो?" इस पर हनुमान ने हँसते हुए उत्तर दिया—

"श्रीनाथे जानकीनाथे अभेद परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्वो रामः कमलल्लोचनः॥"

अर्थात् "श्री कृष्ण और श्री राम में परमात्म रूप से कोई भेद नहीं है सही, किन्तु मेरे सर्वस्व तो कमललोचन श्रीराम ही हैं।" इसी का नाम इष्टनिष्ठा है।* इसी कारण शाक्त वैष्णवों में द्वन्द्व छिड़ा हुआ है।

---

* यही सच्चे साधक की उक्ति है। जिन्होंने अपने आराध्य देवता के प्रति पूर्ण विश्वास दृढ़ कर लिया है, उनके लिए मुक्ति हस्तामलकवत्

है। वह भला क्यों अन्य देवता का स्मरण या भजन करना चाहेंगे? अपने इष्ट देवता के प्रति जिनका विश्वास नहीं है, वे ही तैंतीस करोड़ देवताओं का आश्रय लेते हैं। वे ही समय-समय पर दक्षिण दिशा में मुँह फिराकर कहते हैं, कि "माते काली ! हमारा उद्धार करो।" इसी प्रकार वायीं ओर मुँह करके कहते हैं कि "बाबा केष्ट ठाकुर ! हमें गोलोकधाम में स्यार या कुत्ता बना कर रख।" किन्तु हम इस प्रकार के पक्षपाती नहीं हैं। साधक के लिए दृढ़ता तथा अद्वैत भावना अतिशय उपयोगी एवं अमूल्य वस्तु होती है। वह स्वर्गीय परिजात कुसुम की सुगन्ध से परिपूर्ण होती है। साधक श्रेष्ठ रामप्रसाद जी ने गाया है—

"आमि एमन मायेर छेले नइरे, विमाता के मा बलिव।"

अर्थात् "मैं ऐसी माँ का बालक नहीं हूँ कि विमाता ( सौतेलीमाँ ) को माँ कहूँगा।" इसी प्रकार साधक प्रवर कमलाकान्त के एक गाने में है, कि—

"कि गरज, केन गंगा तीरे याव !
आमि केले मायेर छेले हुए, विमातार की शरण लब ?"

अर्थात् मुझे क्या जरूरत है, कि मैं माता भागीरथी-गङ्गा की शरण लेने के लिए उनके पुलिन पर पहुँचूँ ? मैं काली माँ के बालक होते हुए क्या विमाता की शरण लूँ ?"

एक ब्राह्म साधक ने कहा है, कि—

"आर कारे डाकिब गो मा, छाओयाल केवल माके डाके।
आमि एमन छेले नइ मा तोमार, डाकिव गो मा याके ताके॥"

अर्थात् "हे माते ! मैं और किसे पुकारूँ ? बच्चा तो केवल माँ को ही पुकारता है। माँ मैं तुम्हारा ऐसा बालक नहीं हूँ कि जिस-तिस को पुकारूँगा।"

इस प्रकार के साधक अपने भक्ति विश्वास के बल पर शक्तिमान होकर मृत्यु को तुच्छ मान लेता है।

इसी से साधक के इष्ट देवता के प्रति दृढ़ अनुराग का परिचय मिलता है। इष्टनिष्ठा रूप एक तत्त्व का अभ्यास होने से जो ज्ञानवृक्ष उत्पन्न होता है, धर्म के समग्र क्षेत्र उसकी शाखा-प्रशाखा और डालियों से आच्छादित हो जाता है। अतएव हिन्दू धर्म में जो कुछ देखा जाता है उसमें रञ्च मात्र भी अन्धश्रद्धा या कुसंस्कार नहीं है। वरन् सभ्य-समाजी अंग्रेज लोग तो आत्ममूर्ति ( स्टेचू या बस्ट ) एवं चित्र बनाकर सदा ही अपनी पूजा करते हैं और बड़े-बड़े व्यक्तियों की पूजा के लिए उनकी प्रतिमूर्तियाँ एवं चित्रों को सुरक्षित रखते हैं, किन्तु हिन्दूधर्म में इस प्रकार की स्थूल पौत्तालिकता नहीं है फिर भी इसी से तो उनकी देखा देखी अनेक अंग्रेजी कृतविज्ञ हिन्दू भी इस रूप में आत्मपूजा करना सीख गये हैं।

अवतार और तीर्थों के विषय में न लिखने से भी काम चल सकता है। क्योंकि संसार के सभी धर्म-सम्प्रदायों में तीर्थ और अवतार स्वीकार किये गये हैं। मुसलमानों के मक्का, शरीफ ( मदीन ) आदि तीर्थ स्थान और मुहम्मद अवतार माने गये हैं। ईसाई धर्म में भी जर्डन नदी का जल पवित्र और ईसा मसीह को ईश्वर का पुत्र मानकर उसकी वन्दना-आराधना की जाती है।

देवताओं से लेकर घास-पात तक की पूजा करने पर भी हिन्दू लोग जानते हैं कि परब्रह्म-ज्ञान के अतिरिक्त यज्ञ-यागादि क्रिया-काण्ड के अनुष्ठान द्वारा अथवा साकार देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना द्वारा एवं तीर्थ-स्थान द्वारा या यथेच्छाहार वा निराहार द्वारा कभी वे मुक्ति लाभ करने में समर्थ नहीं हो सकते।

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्नबोधं विना नैव स्वस्वप्नं हीयते यथा॥

पञ्चदशी ६।२१

"जिस प्रकार अपनी स्वप्नावस्था के निवारण के लिए अपने

जागरण के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म-तत्त्वज्ञान के सिवा मुक्ति के और कोई उपाय नहीं है।

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते
बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तरं देवास्य तद्भवति। श्रुति

"हे गार्गि ! कोई भी व्यक्ति अविनाशी परमेश्वर को जाने बिना यदि इस लोक में हजारों वर्ष होम, यज्ञ-याग, तपस्यादि करे, तो भी उसे स्थायी फल प्राप्त नहीं हो सकता।"

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

गीता ७।२४

"संसार से अतीत मेरे शुद्ध-नित्य-स्वभाव को अल्प बुद्धि सांसारिक जन समझ न सकने के कारण अज्ञान प्रयुक्त होकर मुझे मनुष्यादि की तरह सब अवयवों से युक्त विवेचना करते हैं।"

इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः।
आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं मोक्षो वरानने॥

ज्ञानसंकलिनीतन्त्र

सभी तमोगुणविशिष्ट व्यक्ति इस तीर्थ से उस तीर्थ में भ्रमवश भटकते फिरते हैं, किन्तु हे वरानने ! आत्मतीर्थ का ज्ञान हुए विना उनकी मुक्ति कैसे हो सकती है ?

वायुपर्णकणातोयव्रतिनो मोक्षभागिनः।
सन्ति चेत् पन्नगा मुक्ताः पशुपक्षि-जलेचराः॥

महानिर्वाण तन्त्र, १४ उः

वायु, पर्ण, कण ( अन्न ) और जल मात्र को पान करके व्रत धारण

करने से यदि मुक्ति-लाभ होता हो, तो सर्प, पशु, पक्षी और जलचर सभी मुक्त हो जाते। इसीलिए महात्मा तुलसीदासजी ने कहा है कि—

"तुलसी जप तप पूजा, यह सब क्वारियों का खेल।
जब पीतम से सरवर होई, तो राख पिटारी मेल ॥"

अर्थात्—जप, तप, पूजा आदि सब गुड़िया के खेल की तरह है। अतः जब तक अपने स्वामी ( ईश्वर ) का सहवास न हो तभी तक इनसे खेलो, उसके बाद इस खेल को पिटारी में उठाकर रख दो।

इसी प्रकार साधक श्रेष्ठ श्रीगोविन्द अधिकारी ने कहा है कि—

( माके ) के सं साजाले बल् ता शुनि।

× × ×

स्वयं स्वयंभू यार स्वरूप गठिते नारे,
से शम्भूदारारे गड़ा कुम्भकारे कि पारे ?
जान भुवनमोहिनी वामाटि के
अंगे दिल उहाँर वा माँटि के,
तूलिते स्वरूप उँहार तूलिते, कार साध ना जानि ॥

× × ×

ज्ञात होता है—देवी की मूर्ति का दर्शन करके कह रहे हैं कि हमारी माँ को कौन 'सं' सजाया है ? स्वयं शिव जिसका स्वरूप निर्माण नहीं कर सकते, उस शम्भूदारा—दुर्गा को क्या कुम्हार बना सकता है ? वह भुवनमोहिनी वामा कौन है—जानते हो ? मैं तो नहीं जानता हूँ, फिर तूलिका द्वारा उसके स्वरूप को चित्रित करने की किसकी इच्छा हुई है ?

भक्त रामप्रसाद ने भी गाया है कि—

"तुमि लोग देखानों करबे पूजा,

माँ तो आमार घूष खावे ना।"
"एबार श्यामार नाम ब्रह्म जेने,
धर्म कर्म सब त्यजेछि।"
"श्यामापदकोकनद तीर्थ राशि-राशि।"

अर्थात् तुम लोक दिखाने के लिए पूजा करते हो, फिर भी हमारी माता तो घूस ( रिश्वत ) नहीं खाती ? ....इसलिए श्यामा के नाम-ब्रह्म है। यह जानकर धर्म, कर्म सबको त्याग दिया हूँ। ....श्यामा के रक्त-पद्म चरणों में ही सब तीर्थ विराजमान हैं।

यहाँ तक श्रुतियों से लेकर आधुनिक साधकों की उक्तियाँ उद्धृत की जा चुकी हैं। जिस देश के कृषक भूमि को जोतते हुए और ग्वाल बालक गौएँ चराते हुए इन्हें गाया करते हैं; उस देश के लोग ब्रह्मतत्त्व को न जानते हैं ? फिर जो लोग ईश्वर को सेशन जज के पद पर अभिषिक्त कर भाग्यालय के दरबार की रचना करके उसे जानने का दावा करें, तो यह केवल उनका आत्माभिमान ही कहा जा सकता है। ऐसी दशा में हिन्दू लोग जप, तप, देवपूजा आदि क्यों करते हैं ?

ब्रह्मज्ञानं परं ज्ञानं यस्य चित्ते विराजते।
किं तस्य जपयज्ञाद्यैस्तपोभिर्नियमव्रतैः॥

—महानिर्वाणतन्त्र १४ उ:

जिसके हृदय में परमब्रह्मज्ञान विराजित है; उसके लिए जप, तप, तपस्या, नियम और व्रतादि की आवश्यकता एकदम नहीं रह जाती है।

किन्तु सर्वसाधारण के लिए कौन-सा मार्ग हो सकता है ? इसीलिए जिनका परज्ञान उदित नहीं हुआ है, उनके लिए हिन्दूधर्म के आचार्यों ने ज्ञान प्राप्ति के उपायस्वरूप साकारोपासना प्रवर्तित की है। तथापि वह काल्पनिक नहीं है। साकार देवी-देवता और पूजापद्धति की विलक्षणता का विश्लेषण किया जाय तो ब्रह्म और उपासना का निगूढ़-तत्त्व प्रकट हो सकता है।

# एकेश्वरवाद और कुसंस्कार -खण्डन

हिन्दूधर्म केवल ध्यान और स्तव-स्तुति पूजा का ही धर्म नहीं है, वरन् वह सब विषयों में आनुष्ठानिका धर्म है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए वह केवल साधनधर्म ही नहीं है, वरन् उसमें पारिवारिक और सामाजिक धर्मप्रणाली भी विद्यमान है। हिन्दुओं का ईश्वर सर्वव्यापी है, अतएव समग्र विश्व की साधना करते हुए हिन्दू लोग ईश्वरोपासना करते हैं। क्या देवमन्दिर में और क्या परिवार में, क्या व्याह में और क्या श्राद्ध-तर्पण में, सारांश प्रत्येक आचार-व्यवहार में लोग हिन्दू धर्म की साधना करते हैं। सारे विश्व को लेकर इस प्रकार देवोपासना करने की विधि शायद अन्य किसी भी धर्म में नहीं है। समस्त वृत्तियों के सामंजस्यरूप संयम और तृप्ति में ही मानव की ईश्वरोपासना का परिदर्शन होता है। इसी प्रकार हिन्दू सामाजिक क्षेत्र में, संसार धर्म की साधना करता हुआ धर्म-कर्म में प्रवृत्त रहता है। धर्म प्रवृत्ति में भी हिन्दू सब प्रकार के सांसारिक और व्यावहारिक कार्यों में प्रवृत्त रहता है। इस रूप में धर्म-प्रवृत्ति की उत्तेजना और प्रवृत्ति साधन कराके चिरकाल ही से हिन्दुओं को धर्मपथ में नियोजित किया जाता है। इसके बाद क्रमशः उन्नति करता हुआ वह परम पुण्यपथ में विचरण करके अन्त में परम तत्त्वज्ञान तक पहुँच जाता है और वही तत्त्वज्ञान उसकी मुक्ति का साधन हो जाता है। ज्ञानी प्रत्यक्ष रूप से मुक्ति-साधना में प्रवृत्त होता है, तथा सांसारिक गृहस्थ-हिन्दू अप्रत्यक्ष रूप में प्रवृत्त रहता है। गार्हस्थिक कार्यों के साथ धर्म को मिला देने से हिन्दू धर्म जिस प्रकार सर्वाङ्गपूर्ण बन गया है, वैसे अन्य कोई धर्म प्रणाली नहीं बन

सकी है। क्या देवालय में और क्या परिवार मण्डल में अथवा सामाजिक क्षेत्र में—सर्वत्र ही हिन्दू ईश्वरोपासक रहता है।

हिन्दूधर्म के इन सब महान् तत्त्वों को न जानते हुए कुसंस्कारक कई लोग हिन्दुओं को देवता पूजक, जड़ोपासक और अन्ध परम्परानुयायी कहकर उनका उपहास किया करते हैं और अपने को एकेश्वरवादी बतलाते हुए गौरव अनुभव करते हैं। किन्तु हिन्दूधर्म के समस्त साधनापथ में एक मात्र अद्वैत ब्रह्म की साधना ही बतलायी गयी है। हिन्दू लोग विश्व की पूजा करते हुए विष्णु की पूजा करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

अर्थात् इस जगत् के चराचर सभी ब्रह्म हैं।

बहिरन्तर्यथाकाशं सर्वेषामेव वस्तुतः।
तथैव भाति सद्रूपो ह्यात्मा साक्षी स्वरूपतः॥

आत्मज्ञाननिर्णय

जिस प्रकार आकाश समस्त चराचर वस्तु समूह के बाहर और भीतर अवस्थान करता हुआ सब पदार्थों के आधार रूप में प्रकाशित हो रहा है, उसी प्रकार स्वरूपतः इस ब्रह्माण्ड के साक्षी स्वरूप जो परमात्मा हैं वे सत्तारूप से इसके अन्तर्बाह्य में अवस्थान करते हुए प्रकाशित हो रहे हैं।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

ईशोपनिषत् ६

जो समस्त वस्तुओं को परमात्मा में अवस्थित देखता है और सब वस्तुओं में परमात्मा का दर्शन करता है, वह किसी वस्तु से घृणा नहीं करता।

सर्वंभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
समं पश्यन्नात्मयाजो स्वाराज्यमधिगच्छति ॥

मनुसंहिता १२।९१

परमात्मा स्थावर, जंगम, समस्त पदार्थों में विद्यमान हैं और परमात्मा में सब प्राणियों की अवस्थिति है, इस प्रकार समदृष्टि द्वारा आत्मयाजी व्यक्ति स्वाराज्य (मोक्ष) प्राप्त करते हैं ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षतें योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

गीता ६।१२

जिसका चित्त योगाभ्यास से स्थिर हो गया है, जिसकी दृष्टि भी सर्वत्र समान रहती है, वे परमात्मा में सर्वभूतों को तथा सब भूतों में परमात्मा को देखता है ।

हिन्दुओं का संसार से अलग ईश्वर नहीं है और ईश्वर को छोड़ कर संसार भी नहीं है । इसी कारण हिन्दुओं के संन्यासी को भी संसारी माना जाता है । ईसाई तथा मुसलमान का ईश्वर, हिन्दुओं की भाँति सर्वव्यापी ईश्वर नहीं है । उनका ईश्वर संसार से भिन्न एक स्वतन्त्र पुरुष है । ये लोग केवल मुँह से ही ईश्वर को सर्वव्यापी कहते हैं; किन्तु केवल हिन्दू ही उसको सर्वव्यापक रूप में सर्वत्र देखता है । वह उसे शालग्राम शिला में देखता है, चन्द्र, सूर्य, ग्रह नक्षत्र, आकाश, मेघ, सागर, नदी, गंगा, गोदावरी, काशी, प्रयाग, जल, स्थल, अग्नि, वायु, वनस्पति, अश्वत्थ, वट, आम्र आदि समस्त वस्तुओं में उसके विश्वव्यापी रूप को अनुभूत करके उसी की पूजा करता है । कोई भी जड़-वस्तु की पूजा नहीं करता, वरन् सब लोग उस जड़ के अन्तर्गत शक्ति-निहित अभिन्न पुरुष को पूजते हैं । सर्वघटों में उसको वर्तमान समझकर ही प्रधानतः हिन्दुओं की पूजा घट और पट रूप में दृष्टिगोचर होती है । मूर्ति का निर्माण न करके भी हिन्दू उस परम पुरुष की पूजा

करता है। जैसे कि धान्य या चावल के रूप में वह लक्ष्मी की पूजा करता है, वहाँ भी पहले अनन्त की पूजा तथा बाद में देवीपूजा करता है। हिन्दू के समस्त देवी-देवता युगलरूपधारी हैं। अतएव उसके देवी-देवता के पूजन में अद्वैत ब्रह्म भी अति सूक्ष्म रूप में विद्यमान हैं। हिन्दू देखता है कि ब्रह्म के ही अनन्त रूप की ऐश्वर्य मूर्तियों का अपने तैंतीस कोटि देवता हैं। द्वैतजगत् में उसे अद्वैत रूप का इसी प्रकार आभास मिलता है। परब्रह्म का सूक्ष्म रूप प्रकृति में अनु-प्रविष्ट ब्रह्म अथवा ईश्वर, उसका स्थूल रूप यह ब्रह्माण्ड है। उसकी ऐश्वर्यरूप केवल प्रकृति शक्ति ही है, जिस शक्ति में विद्यमान रहकर वह संसार का लालन-पालन और शासन करता है। उस लालन-पालनकारिणी शक्ति के द्वारा वह व्यस्त है। अतएव उसका अपना कोई कर्म न होने पर भी, वह उस प्रकृति शक्ति के द्वारा शक्तिमान् है। प्रकृति के उस स्वामित्व के कारण ही वह विश्वकर्ता, विधाता और नियन्ता सब कुछ है। हिन्दू लोग उपासना के लिए शक्ति और शक्तिमान् की अभेद रूप से कल्पना करते हैं। जीव योग और साधन के बल से उसके ऐश्वर्य को प्राप्त कर ईश्वरत्व लाभ करता है। उस समय केवल गुण भाव ही वर्तमान रहता है। अन्त में निस्त्रैगुण्य साधन द्वारा परिपूर्ण परब्रह्म भाव में पहुँच जाता है। क्षुद्र आकाश महाकाश में मिल जाता है। क्षुद्र नदी अनन्त सागर में लीन हो जाती है। इस प्रकार समस्त क्षुद्रनदियों का गतिपथ ही आत्मा की अनन्त सागर की ओर गति का मार्ग है। इसी कारण हिन्दुओं का मूल मन्त्र है—"एकमेवाद्वितीयम्"

ऐसी दशा में कोई कैसे कह सकता है कि हिन्दू लोग पौत्तलिक जड़ोपासक और तैंतीस करोड़ देवताओं के उपासक हैं? हिन्दू-धर्म समझने की चेष्टा करो, देखोगे वह सूक्ष्म आध्यात्मिक विज्ञान से पूर्ण है। वह दार्शनिकता से परिपूर्ण है। कितने ही युग युगान्तर से इस धर्म की विमल स्निग्ध रश्मियाँ विकीर्ण हो रही हैं।

और साधन रहस्य का उद्भेद हो रहा है। इतना उदार, विश्वव्यापक सार्वभौम धर्म संसार में दूसरा और नहीं है। तुम आक्षेपकर्ता चार सौ वर्ष से कुछ ही पहले तो सभ्यता सीखे हो, तुम लोगों का ज्ञान ही कितना हो सकता है? आज भी तुम लोग जड़ पदार्थों की साधना कर रहे हो, हिन्दूधर्म की सीमा के निकट पहुँचने में अभी तुम्हारे लिए बड़ी देर है। इसीलिए कहना पड़ता है कि अभी तुम लोगों को हिन्दुओं से धार्मिक शिक्षा ग्रहण करना और हिन्दूशास्त्रों के रहस्य जानने की चेष्टा करनी चाहिए। हिन्दूधर्म के साधारण जनसमाज के आचारित धर्म को देखकर अन्धों के हाथी देखने की भाँति ( उसके ) कान या पाँव पर हाथ लगाकर उसे ( हाथी को ) सूप या स्तम्भ के रूप में न समझ लो, इससे तुम्हारी जीभ ही दूषित होगी। जब तुम आध्यात्मिक तत्त्व की सीमा में प्रवेश करोगे तब अवश्य तुम हिन्दूधर्म की महत्ता को समझ सकोगे और तभी हिन्दूधर्म की अमल-धवल कौमुदी से उद्भासित एवं प्रफुल्लित हो सकोगे। इस मर्त्यजगत् में अमरत्व लाभ करके मानव जीवन को सार्थक करते हुए मुक्ति लाभ कर सकोगे।

# हिन्दूधर्म का गौरव

भारत का सुखसूर्य अस्त हो गया है। पिछले सात सौ वर्षों से भारतभूमि विदेशियों के दुर्धर्ष आक्रमणों को सहन करती आ रही है। कितने ही जातियों ने भारत पर अपना प्रभुत्व जमाया फिर कितने ही उससे वञ्चित हुए; किन्तु भारत को स्वतन्त्रता के दिन फिर नसीब नहीं हुए। आज पराधीनता ही भारत का स्वाभाविक धर्म बन बैठी है। दीर्घरोगी जिस प्रकार करवट बदलने में भी कष्ट अनुभव करता है उसी प्रकार आज भारत भी पराधीनता के कठोर प्राचीर से बाहर निकल कर एक पैर तक आगे बढ़ने में कष्ट अनुभव करता है। किन्तु भारत की इतनी दुर्दशा हो जाने पर भी हिन्दूजाति की जीवनशक्ति अभी तक

विनष्ट नहीं हुई है। मुसलमानों के शासनकाल में हिन्दुओं को कितनी ही यातनाएँ सहन करनी पड़ी तथा मुसलमान सम्राटों ने हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिए कितना ही प्रयास किया ओर कितने ही हिन्दू मूर्तिपूजा के अपराध में भगवत् चरणकमल स्मरण करते-करते निहत हो गए, इसका पता इतिहास ही लगा सकता है। सुलतान मामुद ने कितनी ही देवमूर्तियों को लूट कर नष्ट-भ्रष्ट किया और शास्त्र ग्रन्थों के संग्रहालयों को जलाकर भस्मीभूत कर डाला। इसी प्रकार मुगल बादशाहों के शासन काल में भी महापापात्मा कालापहाड़ ने भी हिन्दुओं के श्रेष्ठतम तीर्थ पवित्र पुरुषोत्तमधाम में प्रवेश करके—लिखने में छाती फटने लगती है—जगन्नाथ की मूर्ति को दग्ध कर दिया था। आज भी सुसभ्य अंग्रेजों के सुशासित देश में पूर्व बंगाल के कितने ही हिन्दू छोटे-मोटे किसान मुसलमानों द्वारा उत्पीड़ित हो रहे हैं।* ईसाई सरकार विद्यालयों में अंग्रेजी साहित्य पढ़कर हिन्दूबालक ईसाईधर्म की शिक्षा पाते हैं; इसी के साथ-साथ गवर्नमेण्ट की अनेक विध सहायता से पालित परिपुष्ट ईसाईधर्म के प्रचारक लोग हिन्दुओं को ईसाई बनाने के लिए कितने ही प्रयत्न कर रहे हैं। पादरी मेमें ( सिस्टर्स ) हिन्दुओं के अन्तःपुर में प्रवेश करके सुकोमल स्वभाव रमणियों को बाइबल की शिक्षा देती हैं। कितनी ही अज्ञानता व्याप्त हो रही है ? जो लोग आजीवन 'नानी को कहानी' सुन-सुनकर ईसाइयों के स्पर्श से अपने को अपवित्र समझते हैं, वही क्या बाइबल के केवल दो पृष्ठों के उपदेश से हिन्दूधर्म का परित्याग कर देंगे ? जो भी हो, किन्तु इतने कष्ट, इतनी यातनाएँ और अपमान सहते हुए भी—इतनी विपत्तियों में रहकर भी नानाविध प्रलोभन में आज भी भारतीय आर्यवंश विलुप्त नहीं हो पाया है। आर्य भारत में पवित्रतम आर्यभाव आज भी पूर्ण रूप

---

* पाठकगण ! सन् १३१४ ( बङ्गाब्द ) की जमालपुर अंचल की घटना को स्मरण करें।

से नहीं चला गया है, कभी भी चला जायगा यह बात नहीं सोच सकता हूँ। जब तक हिन्दुओं के वेद उपनिषद्, रामायण और महाभारत जैसे ग्रन्थ विद्यमान रहेंगे, तब तक इस पुण्यभूमि भारत से हिन्दुत्व का कभी लोप नहीं हो सकेगा। आर्यों के परिवार-मण्डल में, हिन्दूसमाज के क्षेत्र में, आचार व्यवहार और सांसारिक धर्मसाधना के साथ सनातन हिन्दूधर्म के सम्बद्ध होने पर हिन्दूजाति का स्वातन्त्र्य सुरक्षित रहा है।

सात सौ वर्षों तक विजातीय सम्राटों के अत्याचार और उपद्रव सहन करने के वाद भी केवल हिन्दुओं के अतिरिक्त संसार की अन्य कोई जाति अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित नहीं रख सकी है। प्राचीन रोमवासी आज कहाँ हैं ? कई दुर्दान्त पर्वत-निवासी जातियों ने अकस्मात् आक्रमण करके रोम राज्य पर अधिकार कर लिया; तथा धीरे-धीरे कुछ दिनों में रोम जाति अपने विशेषत्व को भूलकर काल के अनन्त सागर में विलीन हो गई। प्राचीन ग्रीक जाति, उनका धर्म और उनका आचार-व्यवहार आज कहाँ है ? प्राचीन पारसियों का धर्म और आचार-व्यवहार कहाँ चला गया ? ये सब आज पुरातत्त्व संशोधकों के अनुसन्धान के विषय बन गए हैं। किन्तु धन्य है ! हिन्दूजाति !! और धन्य उसका धर्म !! तुमने अपने पूर्ण गौरव को खोकर भी अपनी धर्म मर्यादा को नष्ट नहीं होने दिया। बार-बार विजातीय राजाओं के असह्य अत्याचार सहन करके भी उन्होंने अपने जातीय धर्म को सुरक्षित रखा है। इतना ही नहीं वरन् आज भी देखने में आता है कि अनेक हिन्दू विधर्मियों के जल को स्पर्श तक न करके क्षुधापिपासा सहन करते हुए प्राण त्याग कर यमराज का आलिङ्गन करते हैं। हिन्दूजाति की धर्म-प्राणता की टेक को संसार में कौन नहीं जानता ? 'धर्मो रक्षति रक्षकम्' यह महावाक्य कभी मिथ्या नहीं हो सकता। हिन्दूलोग धर्म की रक्षा करते हैं, अतएव धर्म भी हिन्दुओं की रक्षा करता है। रोमन आदि अन्यान्य जातियों के पूर्व-पुरुषगण पार्थिव विषयलालसा से ही अन्तःकरण को पूर्ण करके विषयवासना के साधन में लगे रहे, अतएव वे धर्म को

प्राप्त न कर सके। धर्म के मूल को शिथिल होने के कारण ही सामान्य वातावरण में ही वे विलीन हो गए। फिर हिन्दुओं ने सर्वस्व त्याग करके धर्म की साधना की; इसी कारण हिन्दुओं की धार्मिक नींव अत्यन्त दृढ़ रही और पराधीनता की प्रवल झंझावायु में भी वह अचल बनी हुई है।

किन्तु दुःख का विषय है कि वर्तमान काल में एक श्रेणी की हिन्दू-जाति इस प्रकार आत्ममर्यादा को भूल गई है कि जब तक पश्चिम के विद्वान् उनके बहुमूल्य शास्त्रों को श्रेष्ठ नहीं बता देते तब तक वे अपने राष्ट्रीय ग्रन्थों की ओर आँख उठा कर देखने में भी लज्जा अनुभव करते हैं। यूरोपियों द्वारा अंग्रेजी में अनुवादित हिन्दूशास्त्रों पर भले ही वे एक दृष्टि डाल लेते हों। समय के सर्वनाशक गुरुतर संघर्षण के कारण और विजातीय शिक्षा के प्रचार से आजकल अनेक व्यक्ति हिन्दूशास्त्रों की अवहेलना करके अपनी मार्जित बुद्धि और उर्वर मस्तिष्क से निकले हुए, स्वकपोल-कल्पित मत के अनुसार धर्म-साधन करने के प्रयत्न में लगे हुए हैं। यह उनकी मार्जित बुद्धि या उर्वर मस्तिष्क का फल हो या न हो; किन्तु पाश्चात्य धर्म के आगमन और विजातीय संसर्ग से दूषित मस्तिष्क का फल तो निस्सन्देह कहा जा सकता है। इस समय नई बाबूजाति अपने धर्म-कर्म को नहीं जानती अपनी पुरातन रीति-नीति को नहीं मानती और न आर्यशास्त्रों को देखना ही चाहती है। साथ ही वह अपने समाज के किसी सदाचार का भी पालन नहीं करती और न उसकी खबर ही रखती है। अपने गौरव को भूलकर प्रकृति (स्वभाव) एवं अवस्था की अवहेलना करते हुए दूसरों के भाव में विभोर हो रही है। इसी कारण आजकल नाना प्रकार के स्वकपोल-कल्पित मत-प्रवर्तक एवं आसुरी प्रकृति के अनेक हिन्दू दिखाई देते हैं; किन्तु जर्मन के सुविख्यात विद्वान् शोपेनहौर ( Schopenhaur ) का कहना है कि "हिन्दुओं के उपनिषद्समूह ने उनके इस जीवन में शांति-दान किया है कि तथा पर जीवन में भी उन्हें शांतिदान देते हैं।" इसी

प्रकार और भी एक प्रसिद्ध विद्वान् का कहना है कि "पृथ्वी के समस्त सम्प्रदायों के धर्मशास्त्र विलुप्त हो जाने पर भी केवल हिन्दुओं की उपनिषदों के रहने से ही किसी धर्म-सम्प्रदाय को धर्मग्रन्थ का अभाव अनुभव नहीं करना पड़ेगा।" इसलिए कहना पड़ता है कि बाबूजाति कितने ही कृत्रिम भाव से आवरण या वेषभूषा क्यों न बनावें, किन्तु साहब लोग तो उन्हें 'काला आदमी' के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कहेंगे। क्योंकि उनकी विद्या-वुद्धि उनसे छिपी हुई नहीं है; क्योंकि वीरों की जाति कभी अम्लपित्त रोग से ग्रस्त, धातुहीन बाबूजाति को अपने समान जाति की नहीं समझती। एक शिक्षित युवक ने यूरोप अमेरीका आदि देशों में भ्रमण करके भारत में लौटने के बाद किसी विशेष अवसर पर कहा था कि "आप किसी भी देश में चले जाइए, अपने को हिन्दू बतलाते ही वे लोग आदरपूर्वक आपको नमस्कार करेंगे। किन्तु वह नमस्कार आपको नहीं, वरन् हिन्दू कहने के कारण आपके राष्ट्रीय धर्म को करते हैं।"

धर्म रक्षा के लिए प्राणपण से चेष्टा करने के कारण ही हिन्दूजाति का यश:सौरभ देश-विदेश में विस्तारित हुआ और हो रहा है। पाश्चात्य विद्वान् इसके लिए हिन्दूजाति की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं—वे केवल हिन्दूजाति की प्रशंसा करके ही शान्त नहीं हो जाते; वरन् जिन समस्त शास्त्रों की कृपा से हिन्दूजाति धर्मभाव को इस प्रकार परिपुष्ट करने में शक्तिमती हो सकी है, उन समस्त हिन्दूशास्त्रों को भी वे 'कण्ठ के भूषण' और 'शान्ति वारि' के रूप में आदर की वस्तु समझते हैं। पाश्चात्य जगत् के सुविख्यात अध्यापक 'मोक्षमूलर' ने एक इङ्गलैण्ड प्रवासी हिन्दू से कहा था कि "तुम हमें अंग्रेजी में क्या सिखलाओगे? यदि कुछ सिखला सकते हो तो एकमात्र हिन्दुओं के उपनिषदादि शास्त्रों का 'ब्रह्मज्ञान' सिखलाओ। यथार्थ में ही आर्य ऋषियों के साधन फल से आज तक इन शास्त्रों ने केवल हिन्दू-

जाति को ही नहीं, समग्र सभ्य जगत् को धार्मिक सुविमल-प्रकाश प्रदान किया है। हिन्दू आज सब विषयों में सब जाति से अधम हो गए हैं; किन्तु केवल हिन्दूजाति का धर्म गौरव ही अक्षुण्ण रहा है।

# हिन्दुओं की अवनति का कारण

हिन्दुओं की भौतिक अवनति का कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर एक ही शब्द में देना हो तो कह सकते हैं कि वह कारण है—'धर्म।' पृथ्वी भर की अन्य समस्त जातियाँ विजय-लालसा के कारण धर्म लाभ नहीं करती, न कर सकीं। किन्तु वे कानून, पदार्थ-विज्ञान और शिल्प-नैपुण्य आदि के उत्कर्ष-साधन करने के लिए श्रम उठा रही हैं। किन्तु इन सब पार्थिव विद्याओं को आर्य ऋषियों ने निम्न श्रेणी की बतलाया है यथा—"**अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।**"

मुण्डकोपनिषत्

इस प्रकार कहकर एकमात्र ब्रह्मविद्या को ही उन्होंने श्रेष्ठ प्रमाणित किया है। शिक्षा और अभ्यास द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसे सम्पाद्य ज्ञान कहते हैं।

प्राचीन विद्वानों ने इस सम्पाद्य ज्ञान को दो भागों में विभाजित किया है—एक ज्ञान, दूसरा विज्ञान।

मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः।

—अमरकोष

मोक्ष विषयक ज्ञान को ज्ञान कहा है और शिल्प या शिल्पशिक्षणोपयोगी वस्तु और वस्तुशक्ति जिस ज्ञान के विषय हैं, उसे विज्ञान कहा है। हिन्दूशास्त्र के मतानुसार आत्मतत्त्व का ज्ञान ही मुख्य है, शेष गौण है। इसी कारण, भारतीय आर्यों के पूर्वपुरुष ऋषि-मुनियों ने पार्थिव विषय-लालसा को दूर पर हटा कर गिरि कन्दरा या नदी के तीर पर

अथवा गहन वन रूपी प्रकृति-सुरचित निर्जनतम प्रदेश में अ त्म संगोपन करके अनन्यचित्त से ब्रह्म-साधन करके अनुपम धर्म-लाभ किया था। वह अनुपम ब्रह्म साधनोपाय हिन्दूशास्त्रों में वर्णित है। उस धर्म-चर्चा को ही हिन्दुओं ने मानव जीवन का एकमात्र कर्तव्य समझ कर उसी में मनोनिवेश किया है। किन्तु फिर भी इस भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य किस देश में संख्या गणना का सर्वप्रथम आविष्कार हुआ है ? इसके सिवाय कौन ऐसा देश है, जहाँ आयुर्वेद और ज्योतिर्विद्या का सर्वप्रथम आविर्भाव होकर उनकी उन्नति हुई हो ? किसी समय भूमण्डल की समस्त जातियों की अपेक्षा केवल हिन्दूजाति ही सब विषयों में उन्नति की चरम सीमा पर पहुँची हुई थी। वह उन्नत अवस्था ही वर्तमान अवनति का कारण है। उस अवनति का कारण जानने के लिए स्वर्गीय बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय प्रणीत 'बङ्किम निवन्धावली' नामक ग्रन्थ के 'भारतीय किसान' शीर्षक लेख का तीसरा अध्याय पढ़ना चाहिए।

सारांश, धर्मालोचना को ही एकमात्र कर्तव्य मान लेने के कारण हिन्दूलोग ऐहिक सुख के प्रति निस्पृह हो गए हैं। इस प्रकार ऐहिक सुख के प्रति निस्पृहता और सभी अवस्थाओं में सन्तुष्ट रहने की शिक्षा मिलने के कारण ही हिन्दूलोग पार्थिव-लालसा परित्याग करके धर्म-चिन्तन में कालयापन करते थे। धर्मशास्त्रों द्वारा निवृत्तिपरक शिक्षा का प्रचार होने लगा और शिल्प विज्ञान में किसी की ओर से विशेष मनो-योग न किया जाने की वजह से वे क्रमशः लुप्त होने लगे तथा कोई भी उनकी ओर आँख उठाकर न देखने लगा। उस समय जो जिस अवस्था में था, वह उसी में सन्तोष मान कर धर्म साधना करने में लग गया। किन्तु आगे चलकर काल की कुटिल गति के अधःस्रोत में पड़कर भारतवर्ष वर्तमान शोचनीय अवस्था में पहुँच गया। प्रायः सभी व्यक्तियों ने प्राकृतिक गुणानुसार धर्मामृत-पान में विभोर होकर इस ओर कभी दृष्टि तक नहीं डाली। दुरवस्था की आशंका से विचलित न होकर

सन्तोष-सुधा के पान करने में लोग कालक्षेप करने लगे। आज भी हिन्दूलोग सन्तोष के उस मोहपाश से मुक्त नहीं हो सकते और इसी कारण वर्तमान युग के अत्याचार, उत्पीड़न, दुर्भिक्ष का प्रकोप, प्लेग आदि महामारियों के प्रादुर्भाव को साहस के साथ सहन करते हैं। राजपुरुषों की अवैध यथेच्छाचार-प्रियता को चुपचाप देखते रहते हैं। दूसरा देश होता तो वहाँ अशान्ति की ज्वाला तत्काल भड़क उठती। आयर्लैण्ड और रूस इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। हिन्दुओं के द्वारा किसी समय या किसी स्थान में किसी कारण अशान्ति उत्पन्न नहीं हुई, जो लोग धर्म के बल पर हँसते-हँसते मृत्यु को आलिङ्गन कर सकते हैं वे किसी भी पार्थिव कष्ट से कैसे विचलित हो सकते हैं? इसी कारण हिन्दू कैदियों के मुख पर अन्य कैदियों की अपेक्षा श्री और सद्भाव विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। सुप्रसिद्ध चार्ल्स डार्विन भी इसे धार्मिक बल ही समझता था। उसने अण्डमान द्वीप के पोर्टलुई नगर में हिन्दूबन्दियों की मुखश्री को देखकर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा था कि—"Were such noble looking" (वे सभ्य दिखाई दिए) आगे चलकर उन्होंने और भी लिखा है कि—"These men are generally quiet and welconducted; from their outward Conduct, their Cleanliness and faithful Observance of their strange religious rites, it is impossible to look at them with the same eyes as on our wretched Convicts in New south Wales."*

अतएव धर्म के द्वारा हिन्दुओं को सब के प्रति उदासीन बना देने के कारण विजातियों की प्रतिपत्ति भारतवर्ष में वर्द्धित हुई है। धर्मबल के द्वारा बलवान् होने से ही हिन्दुओं ने सबको शरण दी है। हिन्दुओं का धर्म ही सर्वस्व है। इसी कारण विश्वासघात और कपटपूर्वक अधार्मिक मुसलमानों ने धर्मप्राण हिन्दूराज्य को आत्मसात् कर लिया था। विजा-

* —A Naturalists Voyage Round the World, P. 484.

तीय शासक की अधीनता में हिन्दू-समाज उच्छृङ्खल हो जाने से हिन्दू-गण प्रकृत धर्म से विच्युत हो गए हैं। हिन्दूराजा के अभाव से प्रायः सबके सब स्वेच्छाचारी हो जाने के कारण उपधर्मों की प्रबलता बढ़ती जा रही है। समाज में जो सर्वथा अज्ञानी हैं. वे ही आज हिन्दू जाति के गुरु या पुरोहित के रूप में धर्म शिक्षा देते हैं। जो लोग शिक्षित हैं, वे गुरु या पुरोहित के कार्य को घृणित समझकर राज्य सेवा में प्रवृत्त हो रहे हैं। एक बार आसाम लाइन के स्टीमर में स्वामी कालिकानन्द से बङ्गाल के प्रसिद्ध गोस्वामी वंश के गुरुगिरी करने वाले एक ब्राह्मण ने पूछा—"महाशय क्या अन्नाहार भी त्याग दिया है?" इस प्रश्न से कालिकानन्दजी ने हँसते हुए उत्तर दिया—"क्यो ? मैं तो दिन में तीन बार मांस-मछली सहित प्रचुर भोजन करता हूँ। यही नहीं, ईसाई या मुसलमान के अन्न का भी मैं त्याग नहीं करता।" इस पर गोस्वामी ने चौंककर कहा—"यह क्यों ? मांस मछली तो सत्त्वगुण को नष्ट करने वाले हैं, और संन्यासी सत्त्वगुण का साधक होता है।" संन्यासी ने कहा—"सत्त्वगुण से ब्राह्मण का जन्म होता है। मैं भी ब्राह्मण की ही सन्तान हूँ। फिर मुझे संन्यास ग्रहण की आवश्यकता क्या थी ? गोस्वामी जी ने कहा —"वर्तमान मत से शायद सब जातियों में आहार-विहार के कारण ही आपने समाज त्याग कर दिया होगा।" इस पर फिर संन्यासी ने कहा—"तब तो ब्राह्मण धर्म ग्रहण करने से ही सुविधा होती।"

पास ही एक विद्वान् वैश्य बैठे हुए थे, वे बोले—"गोस्वामी जी, ब्राह्मण सत्त्वगुण की और संन्यासी निस्त्रैगुण्य की साधना करते हैं।" भला, जिस जाति के गुरुगण इतना अगाध ज्ञान रखते हैं, उसकी अधोगति होने में शेष क्या रह जाता है ? अतएव, मुझे तो आज भी यह विश्वास है कि अनुकूल परिस्थिति में आर्य हिन्दुओं को पुनः पूर्व महिमा से जाग्रत देखा जा सकेगा।

●

# हिन्दूधर्म का विशेषत्व

मुसलमान और ईसाई धर्म सकाम है; क्योंकि इन धर्मों की साधना में स्वर्ग-प्राप्ति ही मुख्य बतलाई गई है। किन्तु हिन्दूधर्म निष्कामता-मूलक है क्योंकि हिन्दूधर्म में बतलाया गया है—

यावन्न क्षीयते कर्म शुभञ्चाशुभमेव वा।
तावन्न जायते मोक्षो नृणां कल्पशतैरपि॥
यथा लौहमयैः पाशैः पाशैः स्वर्णमयैरपि।
तथा बद्धो भवेज्जीवः कर्मभिश्चाशुभैः शुभैः॥

महानिर्वाण तन्त्र, १४ उ० १०९-१०

जब तक शुभ या अशुभ कर्मों का क्षय नहीं होगा, तब तक (१००) सौ कल्प पर्यन्त भी मनुष्य मुक्ति लाभ नहीं कर सकता। जिस प्रकार लोहे और स्वर्ण दोनों प्रकार की शृङ्खलाओं से जीव को बाँधा जा सकता है, उसी प्रकार पाप और पुण्य द्वारा जीव संसार में बद्ध हो जाता है। मुक्त नहीं हो सकता। साथ ही इन दोनों का भोग किए बिना विनाश भी नहीं हो सकता, यही हिन्दुओं का कर्मफलवाद है। यही कर्मफलवाद ही हिन्दूधर्म में पापों का शासन और पुण्य कर्मों का उद्बोधनकर्ता है। कर्मफलवाद का तात्पर्य यह है कि, सुख भोग लेने पर उसके कारण पुण्य क्षीण हो जाता है और दुःख भोग लेने से पाप क्षीण (नष्ट) हो जाते हैं। अतएव स्वर्गसुख भोगने के पश्चात् मानवात्मा को पुनः दुःख भोगना पड़ता है। इसी कारण हिन्दूधर्म में आत्मा के गतिपथ को इससे भी ऊपर नियोजित किया गया है। अन्यान्य साम्प्रदायिक धर्म प्रणालियाँ आत्मा के गतिपथ का अन्त दिखला देती हैं। क्योंकि उनके द्वैत मतानुसार ईश्वर मानवात्मा से सर्वथा भिन्न पदार्थ है। उनमें केवल सगुण ईश्वर की सूक्ष्म साकार उपासना तक की ही साधना विहित मानी गई है। इसीलिए ईसाई धर्म में "Be perfect

as God'' ( ईश्वर की तरह पूर्ण बनो ) कहकर वे निश्चिन्त हो गए हैं। इसीलिए उन्होंने मानवात्मा को सामीप्य मुक्ति तक पहुँचने के लिए कहा है, मानो इससे आगे उनकी पहुँच ही नहीं है। किन्तु हिन्दू जानते हैं—Be God ( ईश्वर होना ) वेदान्त कहता है—

"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।"—मुण्डकोपनिषद् ३।२।९

ब्रह्म को जानने वाला पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है। यही हिन्दूधर्म की विशेषता है। ईसाई आदि धर्मों की तरह हिन्दूधर्म में भी सम्प्रदाय अवश्य हैं, सही, किन्तु वे हिन्दूधर्म के अंशमात्र ही हैं। हिन्दूधर्म में भी द्वैतवाद है सही, किन्तु वह अद्वैत के साथ मिश्रित होकर अद्वैत प्रधान हो गया है, पर यही उसकी उक्ति-सीमा नहीं है। हिन्दूधर्म में भी साधक-सामीप्य लाभ करके 'as God' ( ईश्वर की तरह ) हो सकता है सही, किन्तु यहीं उसकी गति का अन्त नहीं हो जाता। भक्त इससे भी आगे बढ़ सकता है और अग्रसर होकर क्रमशः सारूप्य लाभ करता हुआ निस्त्रैगुण्य-साधन में प्रवृत्त हो सकता है। जो ऐसा नहीं हो सकते हैं, हिन्दूशास्त्रों के मतानुसार उनकी आत्मा की गति कुछ समय के लिए वहीं रुद्ध हो जाने पर भी जन्म-जन्मान्तर की साधना द्वारा एक दिन अन्त में उस आत्मा को परामुक्ति लाभ हो ही जाती है। उस समय आत्मा अपने स्वरूप को प्राप्त कर परम आनन्दधाम में पहुँच जाती है। किन्तु जबतक वह निस्त्रैगुण्य का साधन नहीं करता, तबतक आत्मा का संसार बन्धन किसी प्रकार से भी नष्ट नहीं हो सकता। इसी कारण हिन्दूधर्म के अनुसार मानवात्मा की गति अनन्त-पथ आनन्दधाम की ओर है। विषयानन्द-साधना के बल से क्रमशः स्फूर्ति लाभ करते हुए वह परमानन्दधाम में पहुँच जाती है। विषयानन्द ब्रह्मानन्द के प्रवेशद्वार के समान हैं। केवल हिन्दूधर्म की साधना के बल से वह विषयानन्द ब्रह्मानन्द में परिणत हो सकता है। विषयी लोगों की आत्मा में विषयानन्द रूप में ब्रह्मानन्द का आभासमात्र विद्यमान है। क्योंकि,

संसार के अनेक विध मायामय बन्धनों के कारण सांसारिक पुरुषों की आत्मा आबद्ध रहती है, इसी कारण उसका आनन्दस्वरूप आवृत रहता है। उस आवरण से मुक्त होकर आत्मा निजस्वरूप को प्राप्त हो अनंत ब्रह्मानन्द में मिल जाती है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश सूर्य के प्रकाश मे मिल जाता है, उसी प्रकार मानवात्मा का आनन्द अनन्त पूर्णानन्दमय ब्रह्मानन्द में मिल जाता है। यही मुक्ति का साधन-मार्ग है।

सुतरां आत्मा का परमात्मा के साथ योग होने का साधन पथ भी है। इसी कारण हिन्दूधर्म की समस्त साधन प्रणालियाँ ही, चाहे वे गौण भाव से ही हों या मुख्य भाव से किन्तु वे इसी योग का साधना-पथ हैं। यही योग साधन-तपस्या, भक्तिमार्ग, कर्मकाण्ड एवं ज्ञानमार्ग में विहित है। यह त्रिविध मार्ग हिन्दूधर्म के शास्त्रकर्ता ने परिष्कृत रूप में प्रदर्शित किया है। हिन्दूधर्म की तरह अन्य किसी भी धर्म में आत्मा के लिए मुक्ति का साधनपथ इतने विशद रूप से प्रदर्शित नहीं किया गया है। इसी कारण इस विषय के परिचय द्वारा हिन्दूधर्म का गौरव शतमुखों से प्रमाणित होता है।

इस प्रकार हिन्दूधर्म में वीतराग होकर जो विजातियों से स्वर्गप्राप्ति मूलक सकाम धर्म की शिक्षा ग्रहण करने जाते हैं, उनको मन्दभाग कहने के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? जिन अदूरदर्शी हिन्दूधर्म-द्वेषियों ने इस धर्म की मिथ्या निन्दा का प्रचार किया है, करते हैं उसके खण्डन एवं हिन्दूधर्म के विशाल तत्त्व एवं महान् उद्देश्य का परिचय यहाँ तक के विवेचन से ज्ञात हो ही चुका होगा। अतः अब उन देवकल्प आर्य ऋषियों ने सूक्ष्मदृष्टि से जिन नये तत्त्वों का ( जो कि अन्यान्य धर्मों में नहीं दिखाई देते ) आविष्कार किया है, उनकी चर्चा में प्रवृत्त होना चाहिए। संसार भर के लिए सर्वजाति का आदरणीय श्रीमद्भ-गवद्गीता से यह तत्त्व प्रमाणित हो सकता है।

●

# गीता की प्रधानता

हिन्दूधर्म-शास्त्रों में 'श्रीमद्भगवद्गीता' अपने गौरव के कारण क्या हिन्दू और क्या अहिन्दू समस्त धर्मावलम्बियों के लिए आदर की वस्तु हो रही है। लगभग प्रत्येक हिन्दूधर्माभिमानी के घर में गीतापाठ नित्य नैमित्तिक कर्मों में परिणत हो गया है। केवल मात्र गीता पर ही निर्भर रखने से अन्य किसी शास्त्र के पढ़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि एक जन्म में ही कोई समस्त शास्त्रों को पढ़कर समाप्त नहीं कर सकता। कारण स्पष्ट है कि शास्त्र अनन्त हैं और जीवन क्षणभङ्गुर है। इसीलिए सबसे गीतापाठ करने का अनुरोध किया जाता है। भगवद्गीता महाभारत में भीष्मपर्व के अन्तर्गत कही गई है। जिस प्रकार कोई बड़ा हीरा शुभ्रमाला की शोभा बढ़ाता है, उसी प्रकार गीता ने महाभारत को सुशोभित कर दिया है। गीता समस्त शास्त्रों का साररूप एवं एकमात्र धर्मज्ञान की अन्तिम शिक्षादात्री है। आजकल योरोपवासी भी आदरपूर्वक गीतापाठ करने लगे हैं और अंग्रेजी में गीता के अनेक अनुवाद निकल चुके हैं। गीता के सम्बन्ध में कुछ महद्वाक्य यहाँ दिए जाते हैं। महायोगी ज्ञानमय महादेव कहते हैं—

अहं वेद्मि शुको वेत्ति व्यासो वेत्ति न वेत्ति वा।
श्रीधरः सकलं वेत्ति श्री नृसिंहप्रसादतः॥

अर्थात् इस गीता का वास्तविक अर्थ महेश्वर, शुकदेव एवं श्रीनृसिंह देव की कृपा से श्रीधर स्वामी ये ही तीन व्यक्ति भलीभाँति जानते हैं। महाभारत के रचयिता व्यासदेव स्वयं भी गीता का आशय जानते हैं या नहीं इसमें सन्देह है। बतलाइए तो इस कथन में क्या रहस्य है ?

वैष्णवीय तन्त्रसार में गीता का माहात्म्य बतलाया गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

( अर्थात् ) समस्त उपनिषद्‌रूपी गौओं को दूहने वाले श्री गोपाल-नन्दन हैं। अर्जुन उसका बछड़ा है। सुधीवृन्द गीतामृतरूपी दूध के भोक्ता हैं।

सर्ववेदविद् श्रीमच्छङ्कराचार्य ने कहा है कि—

तदिदं गीताशास्त्रं वेदार्थसारसंग्रहभूतम्।

( अर्थात् ) यह गीताशास्त्र वेदार्थ के सारांश का संग्रह रूप है। इसी प्रकार श्रीधरस्वामी ने कहा है कि—

"इह खलु सकललोकहितावतारः परमकारुणिको भगवान् देवकी-नन्दनस्तत्त्वज्ञान विजृम्भितशोकमोहभ्रंशितविवेकतया निजधर्मपरित्या-गपूर्वकपरधर्माभिसन्धिनमर्जुनम् धर्मज्ञानरहस्योपदेशप्लवेन तस्माच्छोक-मोहसागरादुद्धार। तमेव भगवदुपदिष्टमर्थं कृष्णद्वैपायनः सप्तभिः श्लोक-शतैरुपनिबवन्ध। तत्र च प्रायशः श्रीकृष्णमुखाद्विनिःसृतानेव श्लोकान-लिखत् कांश्चित् तत्सङ्गतये स्वयञ्च व्यरचयत्।"

ब्रह्मसमाज के प्रतिष्ठाता राजाराममोहन राय ने भी कहा है कि—

"भगवद्‌गीता माने ना ये, तार कथा मानिवे के?"

( अर्थात् ) जो भगवद्‌गीता को नहीं मानता, उसकी बात कौन मानेगा?

इसी प्रकार बाबू राजनारायण वसु ने भी कहा है—"कल्पतरु महाभारत से जो अमृतफल प्राप्त होते हैं, उनमें भगवद्‌गीता प्रधान है। महाभारतरूप खान में जो हीरे पाए जाते हैं, उनमें भगवद्‌गीता सर्व-श्रेष्ठ है।"

मोनियर विलियम ( Monier William ) लिखते हैं :—
"In which poem [ the Mahabharata ] it [ the Bhagawadgita] lies inlaid like a pearl Contributing with other numerous episodes, to the tessellated character of that immense epic.

मि० एच० एच० विलसन ( H. H. Wilson ) साहब कहते हैं :—"The Bhagawadgita, as is well-known, is a treatise on the theology, communicated by Krishna to his friend a pupil Arjuna, during a short suspension of the engagement between the Pandava and Kuru armies. It is a section of the Mahabharata and as observed by Schlegel is proved to be a genuine and unadulterated work. Schlegel and Wilkins both regard as a composition of high antiquity."

अपनी प्रिय वस्तु को यदि दूसरे भी प्रिय कहें तो हमारा आनन्द द्विगुण हो जाता है। इसी दृष्टि से विदेशियों की सम्मतियाँ उद्धृत की हैं। जिनकी शास्त्रालोचना में गति न हो वे यदि नाना शास्त्रों की चर्चा रूप खिचड़ी न पकाकर भगवद्गीता पढ़ें तो उत्तम होगा। यद्यपि आज गीता का यथार्थ आशयं समझने या समझाने वाले गुरु सुलभ नहीं हैं। तथापि धर्मज्ञान-पिपासु व्यक्ति शुद्ध चित्त से भक्ति-पूर्वक नित्य गीता पाठ करें। महापुरुषों का कथन है कि भक्ति-पूर्वक गीता पाठ करने से साधक के हृदय में गीता का वास्तविक आशय स्वयमेव प्रगट हो जाता है। महाभारतीय युद्ध के पश्चात् एक मात्र भगवद्गीता ही प्रायः चार-पांच हजार वर्षों से भारत की समग्र हिन्दूजाति में प्रत्यक्ष और परोक्ष भाव से पवित्र धर्मस्रोत को अखण्ड प्रवाहित रखने में समर्थ हो सकी है। इस पुस्तक में भी अधिकांश प्रमाण भगवद्गीता से ही दिये गये हैं।

# देहात्मवाद खण्डन और आत्मा का प्रमाण

एक ब्रह्म के ही भोग के लिए अध्यास ( भ्रम ) के कारण समस्त जगत् में नाना रूप शरीरधारी आत्मा रूप से विद्यमान हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि :—

"अन्नमयाद्यानन्दमयान्तं पञ्चकोषान् कल्पयित्वा
तदधिष्ठानं कल्पितं ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा।"

अर्थात् व्यष्टि पुरुष की तरह समष्टि आत्मा के अथवा अव्यय पुरुष ईश्वर के पंचकोषमय देह हैं। यथा, (१) पंचीकृत पंच महाभूत और उनकी कार्यात्मक स्थूल समष्टि ही अन्नमय कोष है और यही विराट् मूर्ति है, (२) उसके कारण स्वरूप अपंचीकृत पंच सूक्ष्मभूत भी उसकी क्रियाशक्ति सहित प्राणमय कोष हैं, (३) उसकी नाम मात्रात्मक समष्टि-ज्ञान-शक्ति ही मनोमय कोष है, (४) उसका स्वरूपात्मक विज्ञानमय कोष है, इन प्राणमय, मनमय और विज्ञानमय कोष अथवा सूक्ष्म समष्टि ही हिरण्यगर्भाख्य लिङ्ग शरीर एवं (५) उसके कारणात्मक माया उपहित चैतन्य सर्व-संस्कार शेष आत्मा ही अव्यक्त नामक आनन्द-मय कोष है।

सांख्य मतानुसार शरीर दो प्रकार के हैं—सूक्ष्मशरीर और स्थूल या मातापितृजात शरीर। मृत्यु से केवल स्थूल या अन्नमय शरीर नष्ट होता है। जीवात्मा सूक्ष्मशरीर सहित इस जीवन और पूर्व जीवन के संस्कारों से बद्ध होकर प्रयाण करता है। कारणशरीर केवल देवताओं का और लिङ्गशरीर मनुष्यों का होता है। यह शरीर पाँच कोषों अथवा आवरणमय है, मृत्यु से केवल अन्नमय कोष ही नष्ट होता है। मोक्ष प्राप्त

होने पर सभी कोषों का नाश हो जाता है। पुरुष या आत्मा इस शरीर से भिन्न है। जीव का क्रियादर्शन आत्मा के अस्तित्व में विश्वास स्थापित करता है। रथ की गति को देखकर जिस प्रकार की विद्यमानता स्वीकार की जाती है, उसी प्रकार शरीर के विद्यमान और दैहिक क्रियादर्शन के द्वारा आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, किन्तु आत्मा का अस्तित्व न मानने वाले नास्तिक कहते हैं कि :—

चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते।
किणादिभ्यः समस्तेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ॥ चा०

जैसे गुड़, तण्डुल ( चावल ) आदि अलग-अलग रहने पर मादक नहीं होते, किन्तु, वे सब द्रव्य एकत्र होने पर क्रिया विशेष द्वारा जिस प्रकार इन्हीं से सुरा तैयार हो जाती है और तब उसमें मादकता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार यह देह भी अचेतनभूत समूह से उत्पन्न होते हुए भी समष्टि के परिणाम से चैतन्य की उत्पत्ति होती है। आत्मा का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं होता। सांख्यकार कपिल ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। वे कहते हैं, तण्डुलादि सुराबीजरूप समस्त पदार्थों में से प्रत्येक में सूक्ष्मरूप से मादक शक्ति वर्तमान होती है। तण्डुल, गुड़ादि के परस्पर-संयोग के कारण सूक्ष्मभाव में अवस्थित मादक-शक्ति का केवल आविर्भाव ही होता है। अतएव स्वीकार करना पड़ता है कि पञ्चभूतों से जिनकी देह निर्मित हुई है, उनमें चैतन्य सत्ता सूक्ष्म भाव से निहित ( छिपी हुई ) थी। उनके एकत्र संयोग से चैतन्य का ज्ञान सिद्ध हुआ और ऐसा होने पर ही प्रकारान्तर से चैतन्य की स्वतन्त्र विद्यमानता स्वीकार की गई। यदि यह कहा जाय कि हल्दी और चूने के संयोग से एक नया रंग उत्पन्न हो जाता है, तो यह दृष्टान्त यहाँ समीचीन नहीं हो सकता; क्योंकि हरिद्रा ( हल्दी ) और चूने के परस्पर संयोग से रंग का लोप न होकर जब दूसरे रंग की उत्पत्ति होती

है, तब जड़भूत समूह के परस्पर मिलने से तो जड़ धर्मान्वित वर्ण (रंग) की ही उत्पत्ति होना सम्भव है; किन्तु ऐसा न होकर तद् विपरीत धर्मा-क्रान्त चैतन्य की उत्पत्ति हो सकती है। अतएव देह चैतन्य नहीं है। गुड़-तण्डुलादि के संयोग से मादकशक्ति उत्पन्न होने की तरह मनुष्य देह में यदि भूतों की समष्टि से चैतन्य की उत्पत्ति होती है तो एक प्रकार की होगी एवं देहावयवों के परिवर्तन से वह ज्ञान भी नष्ट हो जाता। साथ ही पूर्वशरीर से उत्पन्न समस्त-संस्कार परवर्ती शरीर में भी संक्रान्त ( प्रविष्ट ) और स्थापित नहीं हो सकते। क्योंकि ऐसा होने पर माता के द्वारा अनुभूत वस्तु गर्भस्थ शिशु को भी स्मरण रहनी चाहिए। किन्तु माता ने जो कुछ देखा है, उसके शरीर से उत्पन्न सन्तान उन सब वस्तुओं को क्यों स्मरण नहीं कर सकती? अतएव स्पष्ट है कि देह चैतन्य नहीं है, वरन् देह से भिन्न चैतन्यरूप आत्मा है। मन, प्राण और इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं हैं। यदि मन आत्मा होता तो हम ज्ञान-सुखादि का अनुभव नहीं कर सकते। क्योंकि—

"त्वङ्मनः संयोगो ज्ञानसामान्ये कारणम्।"

इन्द्रियादि के साथ विषयों ( रूप-रसादि ) का सन्निकर्ष होकर मन का संयोग होने से ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

यदि मन ही आत्मा होता तो एक साथ दर्शन, श्रवण आदि का ज्ञान उत्पन्न होता। किन्तु सब लोग अनुभव कर चुके हैं और पाश्चात्य दर्शन ने भी स्वीकार किया है कि एक ही साथ दो विषयों में मन का संयोग नहीं हो सकता। ज्ञान समूह की अनुपपत्ति के कारण मन, विभु या व्यापन शील पदार्थ नहीं हो सकता; अतएव मन अणु पदर्थ हुआ। इसीलिए मन को प्रत्यक्ष कर सकना असम्भव है। इस प्रकार जब मन ही अप्रत्यक्ष हो तो ज्ञान-सुखादि मन के गुण-समूह भी अप्रत्यक्ष सिद्ध होंगे। अर्थात् चाक्षुषादि मानस पर्यन्त कोई भी प्रत्यक्ष के विषयीभूत नहीं हो सकेंगे। सारांश,

हमारे मन के अतिरिक्त एक व्यापकशील आत्मा है और ज्ञान-सुखादि उसी के गुण हैं। मनरूप इन्द्रिय की सहायता से उक्त ज्ञान सुखादि का अनुभव होता है।

इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं हो सकतीं। क्योंकि ऐसा होने पर किसी इन्द्रिय के विनाश से उस इन्द्रियजनित अनुभव का स्मरण असम्भव हो जायगा। विशेषतः इन्द्रियादि के द्वारा दर्शन, श्रवण के बिना सुख-दुःखादि का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अतएव सुख-दुःखादि के अनुभव निमित्त एक अतिरिक्त अन्तरिन्द्रिय का होना स्वीकार करना पड़ेगा। वह अन्तरिन्द्रिय ही मन एवं मन की सहायता से जो सुख दुःखादि को अनुभव करे, वह कर्ता ही जीव की आत्मा है। प्राण भी आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि शास्त्रों ने कहा है कि—

**आत्मन एव प्राणो जायते। यथैषा पुरुषच्छाया तस्मिन् एतदाततम् मनः कृतेनायात्यस्मिन् शरीरे।—श्रुतिः**

आत्मा से प्राणों की उत्पत्ति हुई है; जिस प्रकार पुरुष की छाया उत्पन्न होती है, उसी प्रकार आत्मा पर ही प्राण अवलम्बित है। मन के संकल्प मात्र से ही प्राण समूह ने इस शरीर में प्रवेश किया है।

पाश्चात्य दार्शनिकगण भी इस बात को स्वीकार करते हैं। अध्यापक टैट ( Professor Tait ) ने अपने 'प्राकृतिक विज्ञान की उन्नति' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि भौतिक तत्त्वों की सहायता से प्राण क्या पदार्थ है, यह तो जाना जा सकता है सही, किन्तु प्राण के बिना प्राण की उत्पत्ति असम्भव है, इस बात को वे स्वीकार कर चुके हैं।★ अतएव

---

★ But let no one imagine that, should we ever penetrate this mystery, we shall, thereby, be enabled to produce, except from life, even the lowest form of life. ( Recent Advance in Physical Science, P. 24 )

सभी प्रकार से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि प्राण आत्मा नहीं है, वरन् उससे आत्मा भिन्न वस्तु है।

साथ ही चक्षुरादि के करणत्व को अस्वीकार करके स्वतःप्रकाश ज्ञानसमष्टि को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ज्ञान की समष्टि कहने से पूर्व-पूर्व ज्ञान का स्मरण और वर्तमान ज्ञान इन दोनों की ही समष्टि ज्ञात होती है। किन्तु पूर्व-पूर्व ज्ञान का स्मरण कौन करेगा? फिर ज्ञानसमूह किसके सम्मुख सदृश एवं किसके सम्मुख विसदृश रूप में प्रतीत होगा? अतएव यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि क्रियामात्र के लिए कर्ता अवश्य ही होता है। क्रिया का कारक हो कर्ता होता है। अतएव ज्ञान का भी ज्ञाता होना चाहिए। पाश्चात्य दार्शनिक महामति 'जौन स्टूअर्ट मिल' ने भी इसे स्वीकार किया है।

"इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति"

न्याय-दर्शन

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख एवं ज्ञान आत्मा के गुण हैं। अतएव सिद्ध होता है कि सुख, दुःख, ज्ञानादि शरीर या इन्द्रियों के धर्म नहीं हैं। ऐसी दशा में बाध्य होकर ही शरीर में आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

मुण्डकोपनिषद् ३।१।१

सुन्दर पंख वाले दो पक्षी ( जीवात्मा और परमात्मा ) एक वृक्ष पर बैठे हुए हैं। दोनों परस्पर सखा हैं। किन्तु उनमें एक ( जीवात्मा ) सुस्वादु फल आस्वादन करता है और दूसरा ( परमात्मा ) निराहार रहकर केवल दर्शन करता है।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥
श्रुतिः

एक ही देवता सभी भूतों में गूढ़ ( गुप्त ) रूप से अवस्थित है । वह सर्वव्यापी एवं समस्त भूतों का अन्तरात्मा है । वही कर्मों का अध्यक्ष, साक्षी, चैतन्य, केवल और निर्गुण है ।

यदि यह कहा जाय कि हम उस आत्मा को देख क्यों नहीं सकते ? वह किस रूप में देह में वर्तमान है ? तो शास्त्र ही इसका उत्तर इस प्रकार दे देते हैं कि—

काष्ठमध्ये यथा वह्निः पुष्पे गन्धः पये घृतम् ।
देहमध्ये तथा देवः पापपुण्यविवर्जितः ॥

जिस प्रकार काष्ठ के भीतर अग्नि, पुष्प में गन्ध और दूध में घृत होता है, उसी प्रकार शरीर में आत्मा का निवास है । दूध का मन्थन करने से जिस प्रकार नवनीत ( मक्खन ) उत्पन्न होता है, उसी प्रकार साधना द्वारा आत्मा का दर्शन किया जाता है । काष्ठ यानी लकड़ी को चीरने से भी जिस प्रकार उसमें स्थित अग्नि दृष्टिगोचर नहीं होती; उसी प्रकार शरीर का छेदन करने से भी उसमें आत्म दर्शन लाभ नहीं हो सकता । अरणीमन्थन की क्रिया द्वारा काष्ठ को घिसने से जिस प्रकार उसमें विद्यमान अग्नि प्रकट होकर दिखाई देती है, उसी प्रकार योगबल के आश्रय द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष किया जा सकता है । जिस प्रकार बीज में प्रकाण्ड वृक्ष सूक्ष्म रूप से निहित (छिपा हुआ) होता है; किन्तु स्थूल दृष्टि से न दिखाई देने के कारण उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता । क्योंकि सूक्ष्मदर्शक-यन्त्र की सहायता से वह देखा जा सकता है । शर्बत में मिठास न दिखाई देने पर भी जिस प्रकार उसे पीने से मीठेपन का अनुभव होता है । उसी प्रकार आत्मा

स्थूलदृष्टि से न दिखाई देने पर भी उसका अस्तित्व स्वीकार किए विना काम नहीं चल सकता। वह साधना की सूक्ष्म दृष्टि से साधक को दिखाई देती है। भगवान् ने कहा है कि—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। —गीता १०।२०

हे गुडाकेश ! मैं ही सब प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित आत्मा हूँ।

अणोरणोयान्महतो महीयान्
आत्माऽस्य जन्तोर्निहितोगुहाय.म्।
कठोपनिषत् २।२०

सूक्ष्म से सूक्ष्म और महत् से महत् आत्मा प्राणी समूह के हृदय में अवस्थित है।

अतएव आत्मा का होना तो निश्चित ही है, किन्तु अविशुद्ध-चित्त व्यक्ति उसे जान नहीं सकते। भगवान् ने कहा है कि—

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥
—गीता

ध्यान द्वारा प्रयत्नशील विशुद्धचित्त योगिगण ही आत्मा को देह में निर्लिप्त भाव से अवस्थान करते हुए देख सकते हैं। किन्तु जो चित्त शुद्ध न होने से मन्दमति हैं, वे शास्त्राभ्यास द्वारा सहस्र प्रयत्न करने पर भी आत्मा का दर्शन नहीं कर सकते।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
कठोपनिषत् २।२३

इस आत्मा को वेदाध्ययन अथवा मेधा (ग्रन्थार्थ-धारण शक्ति) या शास्त्रज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

दुश्चरित्र के कारण अविरत, अशान्त, असमाहित अथवा अशान्त-मानस व्यक्ति ज्ञान ( सामान्य ज्ञान ) द्वारा भी आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव इन प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि देह या चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियाँ अथवा मन, प्राण एवं ज्ञान-समष्टि आदि कोई भी आत्मा नहीं है, देह के अतिरिक्त चैतन्य ही आत्मा है। जो आत्मज्ञान-विमूढ़ हैं, वे किसी भी दशा में आत्मा को देख नहीं सकते। केवल अध्यात्मयोग द्वारा उस आत्मा को—

हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।

—मुण्डक श्रुति।

जो हिरण्मय कोष में अवस्थित जानकर दिव्यज्योति से निजगृहरूप हृदय को हिरण्मय कर चुके हैं, वे ही दिव्यज्योतिसम्पन्न निर्मल आत्मा को देख सकते हैं। अध्यात्मयोग के द्वारा ही ज्ञानचक्षु प्राप्त होते हैं और उन ज्ञानचक्षुओं द्वारा ही आत्मदर्शन होता है। जिन्हें वे ज्ञानचक्षु प्राप्त नहीं हुए हैं, वे प्रत्येक विषय में ही जड़वादी अथवा देहात्मवादी बन जाते हैं। उन ज्ञानचक्षु सम्पन्न श्रेष्ठ व्यक्तियों के उपदेश वचन के प्रति जो विश्वासभाव रखता है, उनमें से थोड़े व्यक्ति आत्मज्ञान लाभ कर सकते हैं, तथा उसमें विश्वास कर सकते हैं। अन्यथा सामान्य व्यावहारिक बुद्धि से केवल भटकते रहते हैं। अध्यात्मयोग द्वारा विवेक लाभ होता है और विवेक लाभ होने पर ही आत्म-साक्षात्कार हो सकता है।

# द्वैताद्वैत-विचार

द्वैतवाद और अद्वैतवाद के नाम पर बहुत दिनों से विवाद विसंवाद और द्वन्द्वकोलाहल मचा हुआ है। दोनों पक्ष ही अपने-अपने मत के समर्थन के लिए अनेक युक्ति प्रमाण उपस्थित करते हैं। उन युक्ति प्रमाणानुसार आर्यशास्त्रों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि कितने ही शास्त्र द्वैतवाद और कितने ही अद्वैत गर्भस्थ द्वैतवाद एवं कितने ही अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं। यहां प्रत्येक वाद के प्रमाण उद्धृत किए जाते हैं—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहाम्प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ॥

कठोपनिषत् ३।१

शरीर के परम उत्कृष्ट स्थान-रूप गुहा में दो व्यक्ति प्रविष्ट हुए हैं। उनमें एक तो अवश्यम्भावी कर्मफल को भोगता है, दूसरा उसे देता है।

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखञ्च जन्मसु ॥

मनुसंहिता १२।१३

अन्तरात्मा नाम की एक स्वतन्त्र आत्मा प्रत्येक व्यक्ति के शरीर के साथ उत्पन्न होती है, वही सुख-दुःख का अनुभव करती है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

गीता १५।१६,१७

इस संसार में दो प्रकार के पुरुष प्रसिद्ध हैं, एक क्षर, दूसरे अक्षर। सब पदार्थ क्षर एवं कूटस्थ ( जीवात्मा ) पुरुष अक्षर के नाम से प्रसिद्ध हैं। किन्तु अन्य ( क्षर और अक्षर से भिन्न ) एक पुरुष और है, वही उत्तम पुरुष है और 'परमात्मा' शब्द वाचक है। वही ईश्वर है और वही त्रिलोक में प्रविष्ट होकर समस्त चराचर का पालन करता है। उपरिलिखित श्लोकों में स्पष्ट रूप से द्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया है।

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥

कुलार्णवतन्त्र ५।१।११०

कोई द्वैतपक्ष का अवलम्बन करते हैं और कोई अद्वैतपक्ष का प्रतिपादन, किन्तु दोनों ही मेरे प्रकृत तत्त्व को नहीं जानते हैं। क्योंकि मेरा जो यथार्थ तत्त्व है, वह द्वैत और पूर्णअद्वैत दोनों ही भाव से रहित है। अर्थात् द्वैताद्वैत मिश्रित भाव ही मेरा प्रकृत तत्त्व है।

द्वैतञ्चैव तथाऽद्वैतं द्वैताद्वैतं तथैव च।
न द्वैतं नापि चाद्वैतमित्येतत् पारमार्थिकम्॥

दक्षस्मृति ७।४८

द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत इन तीनों में शुद्ध द्वैत या शुद्ध अद्वैत का रूप नहीं है; द्वैताद्वैत ही पारमार्थिक है। द्वैताद्वैतमिश्रित ज्ञान का स्वरूप क्या हो सकता है? परमात्मा और आत्मा भिन्न अवश्य है, किन्तु आत्मा परमात्मा में अधिष्ठित होकर जीव लीला करती है, वही द्वैताद्वैतमिश्रित वादी कहते हैं।

उपास्यं परमं ब्रह्म आत्मा यत्र प्रतिष्ठितः।

योगी याज्ञवल्क्य

जिस परमब्रह्म में आत्मा प्रतिष्ठित है, वही उपास्य देवता है।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

मुण्डकोपनिषत् २।२।४

प्रणव ( ॐ ) धनुष के समान है और आत्मा बाण स्वरूप है, तथा ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा गया है। अतः प्रमादशून्य होकर परब्रह्म को विद्ध करते हुए शर की तरह तन्मय होना चाहिए। जिस प्रकार लक्ष्य वस्तु के साथ शर संयुक्त होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में तन्मय हो जाना चाहिए।

इन श्लोकों में द्वैताद्वैत मिश्रितवाद का प्रतिपादन किया गया है।

प्रतिभासत एवेदं जगन्न परमार्थतः ।

योगवाशिष्ठ, स्थिति प्र०

यह जगत् केवल प्रतिबिम्बमात्ररूप में ही प्रतिभासमान होता है, परमार्थतः जगत् वस्तु नहीं है।

एक एवहि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ।
एकः स विद्यते शक्त्या मायया न स्वभावतः ॥

श्रुति

एक ही आत्मा सभी भूतों में अधिष्ठित है, केवल जलगत चन्द्र की तरह अनेक रूप में दिखाई देती है। वह नित्य, सर्वव्यापी, कूटस्थ एवं दोषवर्जित है। वह एक होकर केवल मायाशक्ति द्वारा विभिन्नवत् प्रतीयमान होती है।

जलपूर्णेष्वसंख्येषु शरावेषु यथा भवेत्।
एकस्य भात्यसंख्यत्वं तद्भेदोऽत्र न दृश्यते ॥

शिवसंहिता १।३।६

असंख्य जलपूर्ण मृण्मय पात्रों में जिस प्रकार एक सूर्य प्रतिबिम्बित होकर अनेक संख्या में दृष्टिगोचर और अनुभूत होता है। एक आत्मा भी उसी प्रकार मायावच्छिन्न होकर बहुसंख्यक कही जाती और दृष्टि-गोचर होती है। अर्थात् सूर्यबिम्ब की तरह आत्मा में द्वित्वभाव नहीं है।

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः ॥

श्रुति

एक ही आत्मा में अज्ञानवश नाना प्रकार की भेद बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार एक ही आकाश, घटाकाश, पटाकाशादि के रूप में क्षुद्र और वृहत् सिद्ध होता है, उसी प्रकार व्यवहारजन्य नानाविध जीवों की कल्पना हुई है।

उपाधिषु शरावेषु या संख्या वर्तते परम्।
सा संख्या भवति यथा रवौ चात्मनि सा तथा ॥

शिवसंहिता १।३७

जिस प्रकार एक सूर्य बहुसंख्यक मृण्मयपात्ररूप उपाधि में अनुप्रविष्ट होकर उपाधि की संख्यानुसार बहुसंख्यावत् प्रतीयमान होता है, उसी प्रकार आत्मा भी अनेक उपाधियों में अनुप्रविष्ट होकर उपाधि की संख्यानुसार ही अनेक संख्या में प्रतीयमान होती है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।

गीता १८।६१

हे अर्जुन ! ईश्वर सर्वभूतों एवं प्राणियों के हृदय-मन्दिर में स्थित होकर अपनी माया से भूतमात्र को यन्त्र पर चढ़ाकर माया से घुमाता है ।

ये सब श्लोक दृढ़ अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि एक ही हिन्दूधर्मशास्त्र में इन त्रिविध मत-विरोधों का कारण क्या हो सकता है ? शास्त्र ही इसकी मीमांसा इस रूप में करते हैं—

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः ।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ।।

श्रुति

संसार में उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन प्रकार के अधिकारी हैं। जो उत्तम अधिकारी हैं, वे उपासना नहीं करते। जो संसारासक्त हैं वे अधमाधिकारी हैं। और जो इन दोनों के मध्यवर्ती हैं वे मध्यम अधिकारी हैं। मध्यम और अधम अधिकारी के लिए ही उपासना का उपदेश किया गया है। उपास्य और उपासक के हुए विना उपासना नहीं हो सकती। अतएव धर्म के प्रथम स्तर के साधकों की भक्ति आकर्षण और कर्मयोग में प्रवृत्त करने के लिए ही शास्त्र में द्वैतवाद मूलक उपदेश किया गया है। भक्तिशास्त्रमात्र ही द्वैतवाद से पूर्ण हैं। मुसलमान और ईसाईधर्म भी द्वैतवाद मूलक हैं। अविवेकी एवं साधारण मनुष्यों की नास्तिकता दूर कर भक्ति का उत्कर्ष साधन करने के लिए द्वैतमतानुसार उपदेश दान किया गया है। इस प्रकार उपास्य और उपासक सम्बन्ध के अनुसार धर्माचरण द्वारा चित्त को पवित्र कर लेने पर ऐसी एक अवस्था प्राप्त हो जाती है, जिसमें साधक

आत्मकर्तृत्व ज्ञान को भूलकर ईश्वरकर्तृत्व को विशेष रूप से अनुभव करना चाहता है एवं अपने को उपास्य में ( परमात्मा में ) अधिष्ठित अनुभव करता है। यह ज्ञान भी अति संकीर्ण है। यथा—

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते।
प्रागुत्पत्ते रजः सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः ॥

श्रुति

उपासनागत धर्म का अवलम्बन करने से जिनके हृदय में ब्रह्मज्ञान का उदय हो गया है, अर्थात् जिसे द्वैतवाद में यह ब्रह्मज्ञान हो गया कि ब्रह्म उपास्य और मैं उपासक हूँ, उसे ब्रह्मविद् योगीगण कृपण कहते हैं; क्योंकि उसका यह ब्रह्मज्ञान अत्यन्त संकीर्ण है।

इस प्रकार का ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति ब्रह्मतत्त्व का कोई अंश भी नहीं जानता; क्योंकि उसके हृदय में इस प्रकार का द्वैतवाद विद्यमान है और द्वैतवाद का उपशम ही वेदान्त का यथार्थ मर्म है। अनेक दिनों तक समाधि-अभ्यास के पश्चात् निर्विकल्प समाधि लाभ होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी कारण किसी आचार्य ने कहा है कि :—

अविज्ञाते तत्त्वे परिगणनमासीत् प्रथमतः,
शिवोऽयं पूजेयं गुरुरयमहं पूजक इति।
इदानीमद्वैतं कलयति गुणातीतमनघं,
शिवः कः पूजा का गुरुरपि च कः कोहऽमिति च ॥

तत्त्वज्ञान के पूर्व ये शिव ( आराध्यदेव ) हैं। ये तत्त्वोपदेशकर्ता गुरु हैं। यह आराध्यदेव की पूजा और मैं पूजक हूँ। प्रथमतः इस प्रकार भेद-भाव की गणना होती है। किन्तु तत्त्वज्ञान के उदय होने पर अद्वैत ही गुणातीत ब्रह्म के रूप में प्रकाशित होता है। उस समय शिव कौन हैं और पूजा क्या है तथा गुरु कौन हैं एवं मैं कौन हूँ ?

इत्यादि किसी भी भाव का उदय नहीं होता; केवल तूष्णी भाव (मौन) आकर जीव का आश्रय करता है।

सांसारिक व्यक्ति साधन-सम्पन्न एवं विवेकयुक्त न होने पर अद्वैत-ब्रह्मज्ञान के अधिकारी नहीं हो सकते। क्योंकि परात्पर परमात्मा का अविवेकी व्यक्ति को द्वैतभाव से ही ज्ञान होता है। बाल्यावस्था तक द्वैतज्ञान हमारे लिए अभ्यस्त विषय हो जाता है। अतएव उसे कठोरसाधना और विवेक के बिना पलटने का दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। साधना-द्वारा द्वैत-भाव को बदल कर बड़े कष्ट से अद्वैतवाद में परिणत किया जा सकता है। वस्तुतः 'सर्व पदार्थ एक हैं' यह ज्ञान क्या सहज से धारण किया जा सकता है? "इसलिए शास्त्रकर्ताओं ने उसके ये सब उपाय बताए हैं। द्वैतज्ञान को अद्वैतज्ञान में बदलने के लिए समस्त पृथक् पृथक् ज्ञान को पृथक् पृथक् भाव से समझाकर अन्त को एकत्व में नियोजित किया है। प्रथमतः सृष्टि और स्रष्टा अथवा ब्रह्म और जगत् के रूप में द्वैतवाद स्थापित करके अन्त में कह दिया है कि ब्रह्म ही जगत् रूप में प्रतीयमान है। अर्थात् जगत् ब्रह्म से स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं है। जगत् की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसके बाद प्रकृति और पुरुष के रूप में द्वैतवाद स्थापन करके अन्त में शिव-शक्ति का एकत्र सम्मिलन दिखाकर अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद फिर जीवात्मा और परमात्मा अथवा उपास्य और उपासक के द्वैतवाद की स्थापना करके अन्त में जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य ज्ञान द्वारा अद्वैतवाद सम्पन्न किया गया है। इन सबके अन्त में साकार और निराकार भाव का अवलम्बन करके द्वैतवाद की स्थापना करते हुए साकार को निराकार में लय करते हुए अद्वैतवाद दिखलाया गया है। इसे एकमात्र हिन्दुओं की ही गम्भीर गवेषणा का फल स्वीकार करना होगा।

हिन्दूधर्म सभी प्रकार के अधिकारियों के लिए उपदिष्ट होने के कारण उसमें मत विरोध दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि जो जितना ज्ञान संचित कर सका है और जो जिस प्रकार का अधिकारी बन चुका है, वह उतने ही अभ्रान्त चित्त से अपने मत को प्रतिपादन करने का प्रयत्न करता है। शास्त्रों में भी सभी प्रकार के अधिकारियों के योग्य उपदेश दिया जाने से उनके लिए युक्ति और प्रमाणों का अभाव नहीं रह जाता। इसी कारण द्वैतवाद और अद्वैतगर्भस्थद्वैत-वाद हिन्दूशास्त्रों में दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु ये सब केवल अद्वैत-वाद की स्थापना के उपाय ही हैं। जो कि स्थूल दृष्टि से अन्य रूप में प्रतीत होते हैं। गीता में भगवान् ने निम्नश्रेणी के अधिकारियों के साधनामूलक उपदेश में अर्जुन के सम्मुख द्वैतवाद प्रदर्शित कर बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कहा है कि :—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

—गीता १०।१२

अर्थात् हे गुडाकेश ! मैं ही सभी भूतों का अन्तःकरण स्थित आत्मा हूँ। इसी कारण आगे चलकर भगवान् ने फिर कहा है कि :—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग-युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

योगाभ्यास द्वारा जिनका चित्त समाहित हो चुका है और जो सर्वदा ही ब्रह्मदर्शन करते हैं, वे ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त सभी भूतों में अपने को और अपने में भी सभी भूतों को देखते हैं। सिद्ध भक्त रामप्रसाद ने शक्ति उपासक होते हुए भी अद्वैतवाद का अनुभव किया था; इसी कारण उसने गाया है :—

"प्रथमे मूला प्रकृति, अहंकारे लक्ष्य कोटि।"

अर्थात् प्रथमतः मूल प्रकृति ही है, किन्तु अहंकार के कारण वह लाखों करोड़ों दिखाई देती हैं। वेद में और भी स्पष्ट कहा है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना॥
—श्रुति

जो व्यक्ति सभी भूतों में आत्मदर्शन करता और आत्मा में सभी भूतों का दर्शन करता है, वही परब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। अन्य किसी भी उपाय से ब्रह्म नहीं जाना जा सकता। अतएव इससे सिद्ध हो जाता है कि अद्वैतवाद ही हिन्दूशास्त्र का चरम उद्देश्य है। ऐसी दशा में जब तक यह ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक के लिए द्वैतवाद या द्वैताद्वैतमिश्रित ज्ञान से उपासना करना ही कर्तव्य हो जाता है। क्योंकि अद्वैतज्ञान शास्त्रों के पढ़ने से या तर्क द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता, केवल उपासना की परिपक्वावस्था में निर्विकल्प समाधि द्वारा ही उसकी प्राप्ति होती है। अतएव अद्वैतज्ञान की प्राप्ति के बिना जीव के लिए परममुक्ति लाभ करना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता।

हमारे देश में अनेक कृतविद्य व्यक्तियों ने अपने बनाये हुए ग्रन्थों में द्वैतवाद या अद्वैतगर्भस्थ द्वैतवाद का प्रतिपादन करने के लिए बड़ा परिश्रम किया है और तदनुकूल हिन्दूधर्म-शास्त्रों से प्रमाण और युक्तियों का संकलन कर अपने पाण्डित्य का परिचय दिया है। किन्तु यह समझ में नहीं आता कि द्वैतवाद का प्रतिपादन करने में कौन-सी वीरता है। तुम्हारे और हमारे अलग होने का ज्ञान तो स्वाभाविक ही है। इसीलिए कोई बालक भी इस बात को नहीं मान सकता कि शास्त्रकर्ता ऋषि मुनियों ने द्वैतज्ञान को समझाने के

लिए ही यह सब कठोर परिश्रम किया है।

तत्त्व ज्ञान का अर्थ है :—

> अभेदप्रत्ययो यस्तु जीवस्य परमात्मना।
> तत्त्वबोधः स विषयो वेदतन्त्रादिभिर्मतः ॥
>
> —स्मृति

जीवात्मा से परमात्मा का अभेदज्ञान ही तत्त्वज्ञान है। वेद और तन्त्रादि शास्त्रों का भी यही मत है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'तुम द्वैतवाद का प्रतिपादन करके जीव को किस ज्ञान तक पहुँचाना चाहते हो। कोई कोई "तत्त्वमसि" महावाक्य का कर्मधारय समास के वदले षष्ठी—तत्पुरुष समास करके (तस्य+त्वम्+असि=तत्त्वमसि, षष्ठीतत्पुरुष समास में विभक्ति का लोप हो जाने से तस्य सब्द वदल कर तत् हो गया है) द्वैतवाद का समर्थन करते हैं। किसी एक ही शब्द का व्याकरण की सुविधा के कारण अनेक अर्थों में प्रयोग अवश्य किया जा सकता है, किन्तु यह क्या कोई प्रकृत ज्ञान है ? साधक साधना के द्वारा जिसे उपलब्ध करता है, वही सत्य है। जो केवल शास्त्र पाठ करके द्वैतवाद या अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं, वे लोग भी भ्रान्त हैं। वे स्वतः भ्रम में पड़कर दूसरों को भी भ्रम-जाल में फँसाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यथार्थ में जो साधक हैं और जिन्होंने उपासनामिश्रित धर्म साधा है—वे साधकावस्था में निश्चित रूप से द्वैतवादी थे और द्वैतवादानुसार साधना करते-करते जब—

> अत्रात्म व्यक्तिरेकेण द्वितीयं नो विपश्यति।

(अर्थात्) साधक परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को नहीं देखता तभी वह अद्वैतज्ञानी होता है। उस अवस्था में साधक सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करता है एवं स्पष्ट देखता है कि जो कुछ भी द्वैत-
भास है, वह सब एक ब्रह्मशक्ति का प्रतिबिम्ब मात्र है। वस्तुतः

साधक की उस अवस्था का वर्णन करना बड़ा कठिन है। इनके अतिरिक्त जो (द्वैत या अद्वैत) किसी एक पक्ष को विराट तर्कजाल का विस्तार करते हैं, उनका ज्ञान केवल मिथ्याप्रलाप ही कहा जा सकता है।

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते।
तेषामुभयथाद्वैतं तेनायं न विरुद्धयते ॥

अनेकविध श्रुति प्रमाणों से ज्ञात होता है कि अद्वैत ही परमार्थ एवं द्वैत उस अद्वैत का कार्य है। जब समाधि अवस्था उपस्थित होती है, तब द्वैतबुद्धि नहीं रह जाती। क्योंकि जिनमें द्वैतबुद्धि होती है वे भ्रान्त हैं। वेदों में स्पष्टतः कहा है कि "एकमेवाद्वितीयम्" वह परमात्मा एक एवं अद्वितीय है; अतएव अद्वैतवाद वैदिक मत के सर्वथा अनुकूल प्रमाणित होता है।

# कर्मफल और जन्मान्तरवाद

परमेश्वर और परलोक को लेकर ही धर्म है। जन्मान्तर और परलोक के विषय में विश्वास न होने पर मनुष्य किसके लिए धर्म करेगा ? इस लोक के साथ ही यदि मनुष्य का सब सम्बन्ध छूट जाता हो या उसकी सारी ज्वालाएँ शान्त हो जाती हों, तो फिर यम, नियम और उपासना की आवश्यकता ही क्या ? कठोर संयम-विधान का प्रयोजन ही क्या रह जायेगा ? किन्तु भारत के प्रायः सभी आबाल-वृद्ध-वनितादि जन्मान्तरीय कर्मफल को स्वीकार करते हैं। इसी विश्वास को हृदय में रखकर हिन्दू-सती-नारियाँ पति-प्रेम के अधीन होकर परलोक या पर-जन्म में पति से मिलने की आशा से जलती हुई चिता में मृतपति के साथ बैठकर भस्म हो जाती हैं। इसी

विश्वास के बल पर भारतीय पुरुष-समाज विपन्नार्तिहर बन कर जड़ देह की बलि देते हुए शरणागत की रक्षा करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। किन्तु आजकल तो एक श्रेणी के लोगों के लिए ये सब बातें कवि-कल्पना एवं काव्यालङ्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वर्तमान शिक्षा-विपर्यय के साथ-साथ हमारे शिक्षित समाज में इस विषय का विश्वास कपूर की तरह उड़ता चला जा रहा है। यदि जन्मान्तर और जन्मान्तरीय कर्मफल-भोग प्रभृति हमारे हृदय में दृढ़ विश्वास सहित जागरुक रहा होता, यदि हम अध्यात्मजीवन की बातें और परलोक एवं कर्मफल जनित अदृष्ट ( भाग्य ) का ज्ञान विस्मृति के नीचे दबने नहीं दिये होते, तो कभी भी इस जीवन के पाप की अग्नि प्रज्ज्वलित करके दानवी— दीप्तिपूर्ण आकांक्षा से वासना की पूर्णाहुति लेते हुए खडे नहीं होते।

ईसाई और मुसलमानीधर्म में भी जन्मान्तर तो स्वीकार नहीं किया जाता, किन्तु स्वर्गादि लोकान्तर को वे भी मानते हैं। वे कहते हैं "मनुष्य मृत्यु के बाद पाप या पुण्य के अनन्तकाल के लिए नरक या स्वर्ग में वास करता है। अर्थात् पाप और पुण्य के तारतम्यानुसार जिसका परिमाण अल्प होगा, पहले वह उसी लोक में वास करने के बाद अनन्त नरक या स्वर्ग में निवास करेगा।" किन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार तो ईश्वर के प्रति घोरतर निष्ठुरता और अविचार का आरोप किया जाता है। क्योंकि परिमित काल, कोटि-कोटि युगों के होते हुए भी अनन्त काल की तुलना में कुछ भी नहीं है। जिन्हें हम "दया के सागर" कहते हैं, वही इस अल्पकाल परिमित मनुष्य जीवन में किए हुए पापों के लिए अनन्तकाल व्यापी दण्ड विधान कर दें, इससे बढ़कर अविचार और निष्ठुरता और क्या हो सकती है ?

अतएव इस बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि स्वर्ग या नरक

भोग अनन्तकाल के लिए विहित हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार परब्रह्म में लीन हो जाना भी सम्भव नहीं है। क्योंकि स्वर्ग-नरक में ज्ञान कर्मादि की साधना नहीं हो सकती। तब तो आत्मा कहाँ जाती है। फिर संसार की ओर दृष्टिपात करें तो संसार में कहीं भी समता दृष्टिगोचर नहीं होती। इस विविध विषय-वासना युक्त अनन्त सुख-दुःख पूर्ण संसार में कोई मनुष्य तो नाना प्रकार के सुख भोग करता है और कोई दुःख दुर्दशा से कष्ट पाता है। कोई आजीवन सुख की गोद में लालित-पालित और परिवर्द्धित होकर आनन्द एवं उत्साह युक्त आमोद-प्रमोद पूर्वक जीवन बिताता है और कोई रोग-शोक से जर्जरित होकर मानसिक क्लेश सहता हुआ काल यापन करता है। कोई धनवान के घर सुखमय संसार में जन्म ग्रहण कर महान् सुख पूर्वक बाल्य यौवन अतिक्रम करके बुढ़ापे में संसार-सागर की उत्ताल तरंगमाला के घात-प्रतिघात सहकर अन्त में विध्वस्त हो जाता है। कोई आमरण वृक्ष-तलवासी बनकर द्वार-द्वार पर भ्रमण करते हुए भिक्षा में प्राप्त अन्न द्वारा उदरपूर्ति करता है। किसी के दूध में शक्कर और किसी के शाकान्न में रेती, इस प्रकार विविध अवस्था-वैषम्य का कारण क्या हो सकता है? अनन्त करुणानिधान न्यायवान् भगवान् तो पक्षपात से शून्य हैं। वे क्षुद्र-वृहत्, राजा-प्रजा, धनी-निर्धन, पण्डित-मूर्ख, सुखी-दुःखी सबको समान दृष्टि से देखते हुए सबके साथ समान स्नेह भाव दिखाते हैं। उनके लिए अपना-पराया कुछ भी नहीं है। उनकी सृष्टि में वैषम्य या पक्षपात भी नहीं है। तब सृष्टि राज्य में विषमता का कारण क्या है? कारण केवल अदृष्ट (प्रारब्ध) ही है। किन्तु यह अ-दृष्टपूर्ण अदृष्ट क्या है? केवल अपने-अपने पूर्व जन्मार्जित कर्मों का फल के अतिरिक्त अदृष्ट और कुछ नहीं है। महामति चाणक्य ने कहा है कि :—

"कर्मदोषेण दरिद्रता"

इस कर्मक्षेत्र में मनुष्य पूर्ण रूप से कर्म के अधीन है। पिछले जन्म में मनुष्य ने जैसे-जैसे कर्म किये हैं, वर्तमान जन्म में ये ही कर्म अदृष्टरूप से प्रतिभात ( प्रकट ) होकर फल प्रदान करते हैं। क्योंकि :—

कर्मणा सुखमश्नाति दुःखमश्नाति कर्मणा।
जायन्ते च प्रलीयन्ते वर्तते कर्मणो वशात् ॥

( अर्थात् ) मनुष्य कर्म के द्वारा ही सुखभोग करता है। और कर्म के द्वारा ही दुःख उठाता है। कर्मवश ही वह जन्म ग्रहण करता है और कर्म द्वारा शरीर धारण करके अन्त में कर्म से ही मृत्युवश होता है। किसी छोटे बच्चे को रोग यन्त्रणा से विकृताङ्ग देखकर कौन मूर्ख और पाखण्डी उसे कर्मफल का भोग नहीं कहकर कहेगा कि—'भगवान् उसे कष्ट दे रहे है ? इन सब कारणों से आर्यजाति को जन्मजन्मान्तर के विषय में चिरकाल से दृढ़ विश्वास है, इसी कारण पूर्व जन्म के प्रति दृढ़ विश्वास रखने से क्या परलोक, क्या आत्मा एवं क्या ईश्वर—हिन्दू के लिये ये सभी विषय स्वतःसिद्ध हैं। यह हिन्दूधर्म के लिए कोई साधारण महत्ता या गौरव की बात नहीं है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने इस बात को स्वीकार किया है कि इस जगत् का कोई भी पदार्थ एक बार में नष्ट नहीं हो जाता। हिन्दूधर्म में नाश की यही मीमांसा है। जब स्थूलदेह का ही एकदम नाश नहीं होता, तब कामनामय सूक्ष्म मानस-शरीर का नाश कैसे हो सकता है ? क्योंकि स्थूलदेह के सब पदार्थ (पाँचो तत्त्व) मृत्यु पश्चात् समजातीय पदार्थों में मिल जाते हैं। प्राकृतिक नियमानुसार मनुष्य की मृत्यु होने पर जब स्थूलदेह का नाश होता है, तब सूक्ष्म देह भी स्थूल देह से विच्छिन्न होकर समजातीय जीव में आकृष्ट हो दूसरे

जीव के रूप में उत्पन्न होता है। इसी कारण भगवान् ने गीता में कहा है कि :—

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीरा.णि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।"

(अर्थात्) जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्र को त्याग कर नया वस्त्र ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार जीव भी जोंक की तरह उत्तर—देह का अवलम्बन करके पूर्व जीर्णदेह को परित्याग कर देता है।

जो जिस जाति का पदार्थ है, वह उसी जाति के पदार्थ में जाकर मिल जाता है, यही भगवान् की संकर्षण शक्ति का विषय है। अन्यान्य धर्मों की तरह हिन्दूधर्म जीव को पाप-पुण्य के विचार के लिए विचार के स्थान पर नहीं बैठाता, यह भी हिन्दुओं के लिए विशेष गौरव का विषय है।

मनुष्य इस देह में ही नाना प्रकार से देहान्तर को प्राप्त हो रहा है। बाल्यावस्था में मनुष्य की जो देह थी वह युवावस्था में क्या काम दे सकती थी ? नहीं; तब क्या यौवन के लिए किसी नई देह की सृष्टि की गई ? नहीं, क्योंकि बाह्य विज्ञान के मतानुसार प्रतिक्षण देहान्तर की सृष्टि, स्थिति और लय कार्य चलता रहता है। तब उस सृष्टि, स्थिति और लय कार्य के प्रभाव से प्रति दश वर्ष के अन्तर से क्या मनुष्य के नये-नये देहान्तर घटित नहीं होते ? यदि घटित होते हैं तो कुमारावस्था के पश्चात् यौवन के आने पर मनुष्य का देहान्तर होता है तथा यौवन के पश्चात् प्रौढ़ावस्था का और उसके पश्चात् वृद्धावस्था का देहान्तर होना अनिवार्य ही है और उस दशा में मनुष्य की कुमारावस्था की मृत्यु, यौवन की मृत्यु, और प्रौढ़ावस्था की मृत्यु भी अवश्य होती है। क्योंकि उन उन अवस्थाओं में उनसे पूर्व शरीर का पूर्ण रूप से ध्वंस हो जाता है। जीव यदि एक बार मृत्यु के पश्चात् जीवित रह सकता है, तब जरा मृत्यु के

पश्चात् जबकि वृद्धावस्था के शरीर का ध्वंस होता है—जीव जीवित क्यों नहीं रह सकता ? अतएव मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा विद्यमान रहकर उसके नूतन शरीर धारण करने की बात युक्ति-सिद्ध है। अतएव इस युक्ति से जीव के विद्यमान रहने की बात कहकर बुद्धि-युक्त ज्ञानी जीव (प्राणी) की मृत्यु होते देखकर मुह्यमान नहीं होते। मृत्यु के पश्चात् जीव को जो देहान्तर प्राप्त होता है उसमें भी कौमार, यौवन, जरा और मृत्यु होती ही है। इसके बाद भी देह की इसी प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और लय के क्रम से जीव के जन्म-जन्मान्तर अनादि काल से होते चले आ रहे हैं। इसी कारण भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया है कि :—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
—गीता २।१७

अतएव हिन्दूधर्म के अनुसार जीवात्मा के मुक्त न होने तक उसका पृथ्वी पर आना-जाना बन्द नहीं होता। जीवात्मा स्थूलदेह परित्याग करने से पूर्व लिङ्गदेह में आश्रित हो जाता है। लिङ्गदेह का आश्रय करके जीव स्थूलदेह का परित्याग करता है। और वह लिङ्ग-देह भूलोक अर्थात् हमारे इस पृथ्वीलोक से अन्तरिक्ष लोक को गमन कर जाता है। इसी स्थान को प्रेतलोक कहते हैं। प्रेतलोक में जाकर पापों का फल भोगना पड़ता है। इसके बाद पुण्यकर्म का फल भोगने के लिए वह स्वर्गादि लोकों में गमन करता है और वहाँ पुण्यफल का भोग समाप्त हो जाने पर कर्मक्षय हो जाने पर उसके जो संस्कार होते हैं उन्हीं का नाम है अदृष्ट। उस अदृष्ट को लेकर जीव फिर इस मार्ग से जगत् में आने के लिए गर्भ-कटाह में प्रविष्ट होता है और स्थूलदेह धारण करता है। कैसी विचित्र लीला और कितना अद्भुत काण्ड है ! संस्कार-सूत्र से ग्रथित होकर सभी वासना

विदग्ध जीवात्माएँ जिस प्रकार मातृगर्भ में प्रवेश करतीं और अन्त में देहपात करती हैं, वह सब योगियों के लिए प्रत्यक्ष घटना है। साधन के बिना साधारण जड़चक्षुओं से उसका दर्शन या व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

# ईश्वर दयामय है, तब पाप-प्रणोदक कौन है ?

संसार के ज्ञानी-अज्ञानी, सुखी-दुःखी, हिन्दू-मुसलमान, राजा-प्रजा सभी परमेश्वर को "दया सागर" आदि विशेषणों से सम्बोधन करते हैं। किन्तु यथार्थ में ही वह दयामय है या नहीं, इसका किसी ने विचार भी किया है ? जो लोग दुःखी हैं और दिन रात रोग शोक एवं दारिद्रय कष्ट से मुह्यमान हैं, वे भी कातर भाव से भगवान् को "दयामय" के नाम से पुकारते हैं। बालक जिस प्रकार माता से अलग किया जाने पर "मां" "मां" करके रोता है, क्या उसी प्रकार दुःखियों का "दयामय" सम्बोधन है ? अथवा क्या निरोग एवं बलशाली व्यक्ति सुखैश्वर्य के लिए ईश्वर को "दयामय" कहकर कृतज्ञता प्रकट करते हैं ? इस प्रकार तो "दयामय" शब्द खुशामद का ही नामान्तर मात्र हो सकता है। जिसने जिस रूप में श्रम किया है, परमात्मा ने उसे उतना ही पारिश्रमिक दिया है। ऐसी दशा में उस प्रभु को "दयामय" कहना अकारण खुशामद ही प्रकट करता है। क्योंकि संसार में सुख-दुःख तो जीव के स्वोपार्जित है; अर्थात् जैसे कर्म उसने किये हैं, उसी के अनुसार फल भोगता है। इसमें भगवान् की दया अथवा निष्ठुरता का परिचय कहाँ मिलता है ? विशेषतः जबकि संसार के सुख-दुःख क्षणस्थायी हैं, मुहूर्त मात्र में लुप्त हो

जाते हैं। अतः उनके लिए ज्ञानी लोग कभी ईश्वर की खुशामद नहीं करते। हम जानते हैं कि जो लोग विषयसुख में भगवान् को भूले हुए हैं, उनके समान दुःखी और हतभाग्य जीव दूसरा नहीं हो सकता। किन्तु दरिद्र लोग ही भगवान् के निकट अवस्थान करते हैं। भगवान् जीव मात्र के प्रति समान दया दिखाते हैं? और समदृष्टि से ही सबको देखते हैं। अतएव सभी पूर्वजन्म का फल भोगते हैं, ऐसी दशा में वे दयामय कैसे कहे जा सकते हैं?

मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति ही यथार्थ उन्नति है। उस विशेष अवस्था के योग्य उपायों का अवलम्बन करने से क्या उसकी उन्नति नहीं होगी? ऐसी दशा में उन सब उपायों का अवलम्बन करने एवं तदनुसार कार्य करने की बुद्धि न होने पर किसी प्रकार उसे अवलम्बन करना सीखा जा सकेगा और किस प्रकार हमारी आध्यात्मिक उन्नति की सम्भावना हो सकती है? तथा वह बुद्धि एकमात्र अन्तर्यामी के सिवाय और कौन दे सकता है? अतएव ईश्वर ही हमारी शुभबुद्धि का प्रेरक है। भारत के घर-घर में विश्वामित्र ऋषिप्रणीत "गायत्री मन्त्र" इसी बात को घोषित करता है। यथा :—

ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य
धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ॐ ॥

ओंकार को प्रणव या नाद कहते हैं।० ॐ शब्द का अर्थ सृष्टि-स्थिति-संहारात्मक ब्रह्मा, विष्णु और रूद्ररूप त्रिगुणात्मक परब्रह्म हैं। जो दिवाकर-मण्डल के अभ्यन्तर में तत्प्रकाशक आदित्य देव स्वरूप (हृदयाकाश में द्योतमान होने से उसे देवता कहते हैं) परम पुरुषरूप में विराजित है, वही जीव के हृदय कमल में जीवात्मा के

०प्रणव का विशेष विवेचन मत्प्रणीत "योगी गुरू" ग्रन्थ के योग-कल्प खण्ड के **'प्रणब तत्व'** शीर्षक प्रवन्ध में किया गया है।

आकार में प्रकाशमान होता है। उस अभेदज्ञान द्वारा (देवस्य) दीप्ति और कृपाविशिष्ट, (सवितुः) सर्वभूतप्रसवकारी सूर्य की (भूर्भुवः स्वः) पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग इन त्रिभुवन स्वरूप में (वरेण्यं) जनन-मरण-भीति निवारण करने के लिए उपास्य रूप है, (तद्भर्गः) वह भर्ग नामक ब्रह्म-स्वरूप जो ज्योति हैं; उसी का हम (धीमहि) चिन्तन करते हैं। (यो) जो भर्ग सर्वान्तर्यामी ज्योतिःरूपी परमेश्वर (नः) हम सांसारिक जनों की (धियः) बुद्धिवृत्ति को (प्रचोदयात्) धमार्थकाममोक्षरूप चतुर्वर्ग में निरन्तर प्रेरणा करता है। भगवान् ने अर्जुन से भी यही कहा है :—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीति-पूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

—गीता १०।१०

जो लोग श्रद्धा सहित मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं ऐसी बुद्धि प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझे ( ईश्वर को ) प्राप्त हो जाते हैं।

अतएव ईश्वर सुख, दुःख-दण्डप्रदाता होने से दयामय नहीं हो सकता। वह तो नियमानुसार हमें धर्मार्थ-काम-मोक्ष-प्रयोजक बुद्धि-वृत्ति की प्रेरणा करता है। इसी कारण संन्यासी और गृहस्थ सुखी-दुःखी सभी एक स्वर से उसे "दयामय" कह कर पुकारते हैं। यही दयामय नाम का परिचय है।

भगवान् निश्चित नियमानुसार हमें शुभबुद्धि अवश्य प्रदान करता है, किन्तु अशुभबुद्धि की प्रेरणा वह कदापि नहीं करता। तथापि धर्मशास्त्रों में स्थान-स्थान पर ऐसी अनेक बातें दिखाई देती हैं, जिन पर ध्यान देने से प्रथमतः यही जान पड़ता है कि सभी प्रकार के पाप ईश्वर ही कराता है। किन्तु थोड़ा सा विचार करते से

जान पड़ता है कि यह धारणा ठीक नहीं है। इस प्रकार के विरोधाभास वाले स्थान पर पूर्वापर सम्बन्ध देख कर सामञ्जस्य कर लेना पड़ता है। यदि ईश्वर पाप कराता होता तो शास्त्रकर्त्ताओं ने पापियों के लिए दुर्वाक्य का प्रयोग कभी नहीं करते। भगवान् ने स्वयं भी कहा है :—

"न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।"

—गीता ७।१५

दुराचारी, मूढ़ और नराधम लोग मेरी उपासना नहीं करते। तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्यों को पाप में नियुक्त कौन करता है? यही जिज्ञासा अर्जुन ने भी भगवान से की थी। यथा :—

"अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥"

—गीता ३।३६

(अर्थात्) हे वार्ष्णेय! मनुष्य के पाप करने की इच्छा न रखने पर भी जबरन उसे पापकर्म में नियोजित कौन करता है?

इस पर भगवान् ने उत्तर दिया कि :—

"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिहि वैरिणम्॥
आवृत्तं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पुरेणानलेन च॥"

—गीता ३।३७।३९

"मनुष्य काम क्रोध के वशीभूत होकर ही ऐसा पापाचरण करता है। काम द्वारा ज्ञान के आच्छादित हो जाने से मनुष्य यथार्थ मार्ग को नहीं देख सकता। अतएव इन्द्रियसंयम का अभ्यास करके

काम, क्रोधरूपी शत्रुओं को नष्ट करना चाहिए...इस प्रकार स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य अपने ही दोष से पापाचरण करता है। यदि हम उस (ईश्वर) के द्वारा प्रेरित होकर पाप कर्म करते तो फिर उसके लिए हमें क्यों दण्ड भोगना पड़ता? ईश्वर ऐसा निष्ठुर राजा नहीं है, जो हमारे द्वारा उसका अपनी इच्छानुसार कोई कार्य करवाकर फिर उसी के लिए हमें वह दण्ड भी दें। अतएव कौन-सा कर्म ईश्वरानुमोदित है और कौन-सा नहीं, इसको जानने के लिए हमारी चित्तशुद्धि होना आवश्यक है, साथ ही धर्म-पथ का आचरण भी करना चाहिए, इससे अनायास वह ज्ञान हो जाता है।

# ईश्वर-उपासना का प्रयोजन

जीव के लिए ईश्वर-उपासना करने की क्या आवश्यकता है? कोई यह सोचते हैं कि ईश्वर मायामुक्त पुरुष है, मायायुक्त जीव के हितार्थ वह जो कुछ करता है—वह करेगा ही,—वह सुख, दुःख, स्तुति, निन्दा और पूजा आदि से उपर है। जो कुछ उसके करने का है, उमें वह करता ही है, ऐसी दशा में ईश्वर की उपासना करने की आवश्यकता क्या है? हम मायायुक्त जीव है, विवेक-बुद्धि के द्वारा नीति पथ की अवलम्बन करके आचरण करते हैं; ईश्वर का कार्य वह करे; हमारा काम हम करते रहेंगे। तब खुशामद करके उसे खुश करने की क्या आवश्यकता? किन्तु उपासना का उद्देश्य खुशामद नहीं है। उपासना का अर्थ है ईश्वर-चिन्तन। किन्तु ईश्वर-चिन्तन किसे कहते हैं? केवल आँखें मूँदकर ईश्वर का ध्यान करने से अन्धकार के अतिरिक्त कुछ भी नही दिखाई देगा। यही नहीं वरन् विषय-वासना की बातें सैकड़ों रूप में उत्पन्न होकर समस्त हृदय को घेर लेंगी।

"स्तुति-स्मरण-पूजाभिर्वाङ्मनःकाय कर्मभिः।
सुनिश्चला हरेर्भक्तिर्भवेदीश्वरचिन्तनम् ॥"
—गरुड़पुराण

स्तुति, स्मरण, पूजादि एवं काय—मन-वाक्य द्वारा कर्म करते हुए जो अचला भक्ति होती है, उसी को ईश्वर-चिन्तन कहते हैं।

ईश्वर की तुष्टि के लिए स्तुति या पूजा नहीं की जाती है, वरन् उसका ध्यान करके तत् सारूप्य लाभ करना ही उपासना का उद्देश्य है। भ्रान्त जीवों को भ्रम निवारण करने के लिए ईश्वर निरत होना चाहिए। चित्तवृत्ति का निरोध करके यथार्थ भगवत्चिन्तापरायण न होने पर स्तुति-पूजा के द्वारा तत्त्वज्ञान का उदय हो सकता है। तत्त्वज्ञान का उदय हो जाने पर उत्कृष्ट गुणों का उदय होकर क्रमशः आत्मप्रसाद और जन्मान्तर की उन्नति होती है। किन्तु चित्त-वृत्ति-निरोध करके निरन्तर ध्यान करने से तत्सारूप्य लाभ होता है। यदि ईश्वर चिन्तन न होकर सर्वदा ही विषय या भौतिक पदार्थों की चिन्ता में समय नष्ट करने से अवास्तव विषयों का ध्यान यथार्थ-वत् प्रतीयमान होता है। उस समय जीव विषयचिन्तन में ही निमग्न रहता है और सांसारिक चिन्ता करते-करते संसारत्व की प्राप्ति होना अनिवार्य है। इसीलिए भगवान् कहते हैं :—

विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥
तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम्।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनोमद्भावभावितम्॥
—श्रीमद्भागवत

जो व्यक्ति विषय का चिन्तन करता है, उसका मन विषयों में ही आसक्त होता है और जो व्यक्ति मेरा (ईश्वर का) ध्यान करता

है, उसका मन मुझ में ही लीन हो जाता है। अतएव स्वप्न के मनोरथ की तरह असत्-चिन्ता त्याग कर मेरे भजन द्वारा शोभित अन्तः-करण को मुझ में ही समाहित करना चाहिए। ऐसे ही अर्जुन से कहा है कि :—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
—गीता ८।१४

जो अनन्य चित्त होकर निरन्तर मेरा स्मरण करता है, हे पार्थ! उस नित्ययुक्त योगी के लिए मैं सुलभ हो जाता हूँ।

भगवान् बुद्धदेव ने ईश्वर-चिन्तन को छोड़कर कर्मफल-शून्य होकर विवेक के वशीभूत रहते हुए कर्म करने का उपदेश दिया है। इसी कारण कुछ ही दिनों में बौद्धधर्म नास्तिकता और जड़वाद में परिणत हो गया। यहाँ सब कुछ ईश्वर का है और उसकी कृपा से वह सब हमारा भी है, इस प्रकार विचार न करने से अस्मिता (ममता) कैसे दूर होगी? छोटे बच्चों के लिए माता के स्तन की तरह उपासना द्वारा जो अमृत पान किया जाता है, आत्मा के लिए भी ठीक वही नियम प्रयुक्त हो सकता है। उपासना के द्वारा हमारी आत्मा क्रमशः दृढ़ और अधिकाधिक बलवती होती है और असंख्य प्रकार के विघ्न-बाधाओं का अतिक्रम करके भी उन्नति के पथ पर अग्रसर होने में समर्थ बन जाती है। उन्नति पथ पर अग्रसर होने में आत्मा का जो कुछ प्रयोजन होता है, उसे वह उपासना द्वारा बड़ी सुगमता से सिद्ध कर सकती है। किम्बहुना, उपासना ही आत्मा का सर्वस्व है। हमारे लिए ईश्वर-प्रार्थना करना इसलिए आवश्यक है कि इसके द्वारा हम सर्वदा उपासना करने का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। शास्त्रों में कहा है :—

उपासनायाः सामर्थ्यात् विद्योत्पत्तिर्भवेत्ततः।
नान्यः पन्था इति ह्येतच्छास्त्रं नैव विरुद्ध्यते ॥
—पञ्चदशी

उपासना के सामर्थ्य से मुक्ति के कारण स्वरूपज्ञान का उदय होता है। उपासना के विना प्रकृत तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति असम्भव है।

एवमात्मारणौ ध्यानमथने सततं कृते।
उदितावगतिज्वाला सर्वज्ञानेन्धनं दहेत् ॥
—आत्मबोध

आत्मरूप अरणिकाष्ठ को सर्वदा ध्यानरूप मथनी द्वारा मथन करने से ज्ञानरूपी अग्नि प्रगट होकर अज्ञानरूपी वन्धन को भस्म कर देती है। इससे अतिरिक्त ईश्वर उपासना-द्वारा हमारा चित्त जैसा निर्मलभाव धारण करता है, वैसा अन्य किसी उपाय से नहीं कर सकता। यथा :—

यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हन्ति धातुजम्।
तथैवात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम् ॥
—श्रीमद्भागवत

जिस प्रकार अग्नि स्वर्ण में प्रविष्ट होकर उसे विशुद्ध कर देती है। (अर्थात् अन्य धातु-मिश्रित स्वर्ण की मलिनता दूर कर देती है) उसी प्रकार योगियों के हृदय में आविर्भूत होकर परमेश्वर उनके अन्तर की मलिनता अशुभवासनादि) दूर कर देता है।

कोई-कोई दुर्बल अधिकारियों (किन्तु निराकार परब्रह्म के उपासक) के मुख से यह सुनने में आता है कि "जिसका कोई रूप या आकार नहीं है—उसका ध्यान ही क्या किया जाय ?" किन्तु उन्हें यह उत्तर दिया जा सकता है कि पितामह ब्रह्मा ने इसी प्रकार परब्रह्म की स्तुति की है। यथा :—

स्थितं सर्वत्र निर्लिप्तमात्मरूपं परात्परम् ।
निरीहमवितर्क्यञ्च तेजोरूपं नमाम्यहम् ॥

—ब्रह्मवैवर्तपुराण

जो आत्मरूप में अलिप्तभाव से सर्वत्र विद्यमान है, और जिसके समान संसार में दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है, उस निरीह तर्कातीत, तेजोरूप-विद्यमान पुरुष को नमस्कार करता हूँ ।

इसी प्रकार परब्रह्म के ज्ञान और शक्ति का ध्यान किया जा सकता है । यथा :—

"तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि"

—गायत्री

हम जगत्-प्रसविता परम देवता के उत्कृष्ट ज्ञान और शक्ति का ध्यान करते हैं । क्योंकि सामान्य उपासना करने से मुक्ति नहीं हो सकती; अर्थात् उस उपासना से मुक्ति के कारणरूप तत्त्वज्ञान का लाभ नहीं हो सकता । जिस प्रकार मृदु आघात से मर्मभेद नहीं हो सकता; अर्थात् मृत्यु नहीं होती, और कठोर आघात से मर्मभेद होकर मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार दृढ़ उपासना-द्वारा उत्पन्न होकर मुक्ति हो जाती है ।* समस्त दिवस अन्यमनस्क होकर केवल एक या दो बार माला और गौमुखी लेकर बैठने से उसके द्वारा मुक्ति होना असम्भव है । अतएव पुनः पुनः उपासना करना चाहिए और दिन भर उपासना के भाव में निमग्न होने की आवश्यकता है । एक सिद्ध महापुरुष ने कहा है कि :—

उठिते, बसिते, खाइते, शुइते उपासना करा चाई ॥
भोजन आमार आहुति प्रदान,
शयन आमार साष्टाङ्ग प्रणाम,

---

* न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः । (ब्रह्मसूत्र ३।३।५१)

भ्रमण आमार प्रदक्षिण तार,
प्रति कथा ( बात ) मोर मन्त्र।
प्रति अङ्ग-भङ्गी मुद्रा विरचण,
ये भावेइ बसि सेइ त आसन,
ये चिन्ताइ करि ताँरि ध्यान धरि;
ए जीवन तार यन्त्र ॥

भोजन, भ्रमण, शयन और उपवेशन (बैठने) में आठों प्रहर उपासना-निरत न रहने से सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। इस प्रकार की उपासना में जीवात्मा का महत्तम कार्य है, परमात्मा के साथ सम्मिलित होना। जीवात्मा और परमात्मा के सम्मिलन का नाम योग है। इस योग साधना के तीन प्रधान उपाय हैं :—

**कर्म, ज्ञान और भक्ति।**

●

# कर्मयोग

जो कुछ किया जाता है वही कर्म (कृ+मन्) है। काय, मन, और वाक्य द्वारा जो कुछ किया जाता है। उसी का नाम कर्म है

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।
—पातञ्जल दर्शन, २।१

तपस्या, अध्यात्मशास्त्रादि पाठ, ईश्वरप्रणिधान अर्थात् ईश्वर में दृढ़ विश्वास अथवा समस्त कर्मों का फल ईश्वर को समर्पण करा का नाम क्रियायोग है।

कर्म का परित्याग सहज नहीं है। शरीर से कर्म परित्याग करने पर भी यथार्थ ज्ञान लाभ हुए बिना मन की कर्म-निवृत्ति नहीं होती। कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है और कर्म ही बन्धन के कारण उसे स्वीकार करता है। किन्तु कर्म परित्याग करने की बात मुँह से कहने पर भी कर्म त्याग नहीं किया जा सकता। हम कर्म त्याग करने पर भी कर्म हमारा त्याग करना नहीं चाहता। क्योंकि :—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

—गीता, ३।५

कोई भी मनुष्य कभी कर्मत्याग करके क्षणमात्र के लिए भी बैठ नहीं सकता; किसी के इच्छा न करने पर भी प्राकृतिक गुणसमूह उसे कर्म में परिवर्तित कर देते हैं। अतएव जब तक गुणों का अस्तित्व है, तब तक कर्म भी अवश्य रहेंगे; क्योंकि गुण का लोप हुए बिना कर्म से भी छुटकारा नहीं हो सकता। अतएव कर्म करके गुणों का क्षय करना चाहिए। ऐसा होने पर भी क्रमशः ज्ञान का प्रकाश होगा। किन्तु कर्म करते रहने से फिर कर्म-फल का सञ्चय हो जाता है और उसके फल-स्वरूप पुनः गुणों की उत्पत्ति होगी और गुणों के होने पर पुनः कर्म करना पड़ेगा। इन गुण-कर्मों को लेकर ही मनुष्य के पीछे जन्मजन्मान्तर का चक्र लगा हुआ है। अतएव जहाँ कर्म किये बिना काम नहीं चल सकता, वहाँ कर्म अवश्य करना चाहिए, किन्तु वह कर्म सर्वथा आसक्ति रहित होकर ही करना चाहिए। समस्त कर्म-फल को ईश्वर में समर्पण करते हुए अनासक्त चित्त से कर्म करने का नाम ही कर्मयोग है। भगवान् कहते हैं कि—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

—गीता, २।४८

हे धनञ्जय ! आसक्ति परित्याग करके सिद्धि या असिद्धि के विषय में समचित्त होकर युक्त-भाव से कर्म करो।

तस्मादसक्तः संततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरूषः॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि॥

—गीता, ३।१९-२०

पुरुष यदि आसक्ति शून्य होकर कर्म करें, तो मोक्ष लाभ कर सकता है; अतएव तुम भी आसक्ति परित्याग करके कर्मानुष्ठान करो। जनक आदि महात्माओं ने कर्म द्वारा ही सिद्धि लाभ की है। अतएव सभी लोगों के स्वधर्म प्रवर्त्तन के प्रति दृष्टि रखकर कर्म करना उचित है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा तेऽसंगोऽस्त्वकर्मणि॥

—गीता, २।४७

तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने का ही है, कर्म-फल में नहीं है।

यह निष्काम कर्म भी भगवद्भक्ति वर्जित होने से शोभा नहीं देती। चावल पाने की आशा से भूसे को कूटना जिस प्रकार निष्फल होता है, उसी प्रकार भगवद्भक्तिशून्य होकर कर्म के लिए प्रयास करना भी निष्फल ही होता है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा है कि—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर॥

—गीता, ३।९

भगवद् आराधनार्थ-कर्म के अतिरिक्त जो कर्म किये जाते हैं, वे ही बन्धन के कारण होते हैं। अतएव हे अर्जुन ! तुम, आसक्ति त्याग कर के भगवान् के प्रीत्यर्थ निष्काम कर्म करो।

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

—गीता, ९।२७

अर्थात् तुम जो कुछ कर्म कर रहे हो, उसे ईश्वर के अर्पण करो। इस प्रकार कर्मयोग का अभ्यास करने से कर्म-बन्धन अर्थात् फल-कामना-विशिष्ट कर्म समूह के सुदृढ़ पाश से मुक्त होकर योग साधन के पथ पर अग्रसर हो सकोगे। किन्तु पाठकगण देखेंगे कि—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म करोति यः।

—गीता, ६।१

"कार्य-कर्म"—अर्थात् कर्त्तव्य कर्म—जिसके न करने से दोष होता है; उस कर्म के करने का शास्त्रकारों ने उपदेश किया है। किन्तु यह स्मरण रहे कि फलाफल के प्रति दृष्टिपात न करते हुए मन्द कर्म या दुष्कर्म करने से उसकी गणना कर्मयोग में कभी नहीं हो सकेगी।*

अनेक कर्म करते रहो, किन्तु मन को भगवान् में अर्पण किये रहो; इस प्रकार इन्द्रियगण को संयम द्वारा बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् से हटाकर अपने वश में कर लेने का नाम ही कर्मयोग है और इन सबको एक मात्र ईश्वरोद्देश्य होकर करना कर्तव्य है। हिन्दूधर्म के कर्मकाण्ड में भी यही शिक्षा दी गई है इस प्रकार कर्म-योग में सिद्धि-लाभ करने पर ही ज्ञान का उदय होता है।

---

* निष्काम कर्म-साधना के उपदेश स्थूलरूप से अस्मत्प्रणीत "योगीगुरु" ग्रन्थ के 'साधनकल्प' में "उपदेश" शीर्षक प्रबन्ध में देखिये।

# ज्ञानयोग

ज्ञानयोग का प्रथम सोपान है आत्मज्ञान। जो साधक कर्मयोग के अनुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धि लाभ करके निर्मलचित्त एवं शम-दमादि चतुर्विध-साधन-सम्पन्न हो जाता है, वही सद्गुणशाली व्यक्ति ज्ञानयोग का अधिकारी है।

एत्कवं बुद्धिमनसोरिन्द्रियाणाञ्च सर्वशः।
आत्मनो व्यापिनस्तात! ज्ञानमेतदनुत्तमम्॥

—महाभारत, मोक्षधर्म

बहिर्मुखी मन, बुद्धि, विषय और इन्द्रियों को बाह्य विषयों से निवृत्त करके अन्तर्मुखी करते हुए सर्वव्यापी परमात्मा में संयुक्त करने का नाम ही "ज्ञान" है।

यह जीव जगत् केवल एक ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सभी ब्रह्ममय है। हम-तुम, चन्दन-विष्ठा, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, भेदाभेद, धर्माधर्म आदि कुछ नहीं है। सभी को ब्रह्ममय देखने के भाव को ही ज्ञानयोग कहते हैं। इस ग्रन्थ में ज्ञान और उसकी साधना बताई गई है; अतएव यहाँ अधिक कुछ भी कहना अनावश्यक होगा।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

—गीता, ४।३७

हे अर्जुन जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि समस्त ईन्धन (लकड़ियों) को जलाकर भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर डालती है।

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

—गीता, ४।३३

हे परन्तप ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है । क्योंकि ज्ञान में सभी कर्मों की परिसमाप्ति हो जाती है ।

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

—गीता, ४।३८

इस लोक में ज्ञान के समान दूसरी वस्तु है ही नहीं; किन्तु इस ज्ञानयोग की साधना के लिए इन्द्रियों का संयम परमावश्यक है ।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

—गीता, ४।३९

ज्ञानप्राप्ति के लिए तत्पर व्यक्ति संयतेन्द्रिय और श्रद्धावान् होने से ज्ञान लाभ करता है ।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

—गीता, २।५८

जिस प्रकार कछुआ अपने सभी अवयवों को अपने शरीर में छिपा लेता है, उसी प्रकार योगी व्यक्ति जब इन्द्रियों को विषय से अनायास ही निवृत्त करने को सक्षम हो जाता है, तब उसकी बुद्धि ईश्वर में स्थित हो जाती है । किन्तु प्रकृत ज्ञानयोगी तो इच्छा करते ही वाह्य विषयों से मन को हटाकर परमात्मा में संयुक्त कर सकते हैं ।

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ।

—पातञ्जल दर्शन

धारणा, ध्यान और समाधि इन त्रिविध मानस-व्यापार को एकत्र

संयुक्त करने से संयम नामक प्रक्रिया उपस्थित होती है और संयम से प्रज्ञा नामक आलोक अर्थात् उत्कृष्ट बुद्धि-ज्योति प्रकाशित होती है। उस ज्योति या प्रज्ञा को ज्ञान कहते हैं। प्रज्ञा कहने से जिस ज्ञान का बोध होता है, वह साधारण ज्ञान के समान नहीं होता है, वरन् वह योगयुक्त होता है। ज्ञानयोग के सिद्ध हो जाने पर साधक समझने लगता है कि मैं ही जगत् में हूँ, मन या प्रकृति के साथ सम्बद्ध मोह में फँस गया था। मैं पूर्ण पवित्र चिद्घन हूँ, अपने सुख के लिए प्रकृति की सेवा करता हूँ। किन्तु यह एक बहुत बड़ी भूल है, क्योंकि मैं ही तो सुख-स्वरूप हूँ और मैं ही सर्व-शक्तिमान एवं सदानन्द-स्वरूप हूँ। इस अवस्था में उपस्थित होने पर साधक शान्त, सदानन्दमय एवं जीवन्मुक्त हो जाता है।

# भक्तियोग

जब कर्मयोग द्वारा चित्त-शुद्धि होगी और ज्ञानयोग द्वारा आत्मज्ञान एवं परमात्मज्ञान हो जायगा, तभी भक्ति का अधिकार हृदय पर हो सकेगा। किन्तु नीरस ज्ञान अथवा नीरस कर्म के कारण किसी-किसी का हृदय इतना कठिन हो जाता है कि भक्ति की कोमलता उसके हृदय में स्थान पा ही नहीं सकती। जो लोग कर्म को चित्तशुद्धि का उपाय मानकर ज्ञानयोग में आरोहण करते हैं और एक पग आगे बढ़कर भक्तियोग में प्रवेश करते हैं, वे भी सच्चे योगी हैं। यथा :—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्य-युक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

—गीता, १२।२

जो लोग मुझ में चित्त स्थिर रखकर अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरी

उपासना करते हैं, वे ही श्रेष्ठतम योगी हैं। ईश्वर उन्हें शीघ्र ही संसार से पार कर देता है। यथा :—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसार-सागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ! मय्यावेशित चेतसाम्॥

—गीता, १२,६-७

जो अपने समस्त कर्म मुझमें समर्पण करके, मुझपर विश्वास रखकर अनन्य भक्ति से मेरा ध्यान और मेरी सेवा करते हैं। उनका चित्त मुझमें बँधा रहता है। इसलिए हे पार्थ! मैं इस मृत्युयुक्त संसार से शीघ्र ही उनका उद्धार कर देता हूँ।

जिसके द्वारा परम पुरुष परमात्मा की कृपा दृष्टि होती है और समस्त वासनाओं को शान्त कर देती है, उसी का नाम भक्ति है।

"सा परानुरक्तिरीश्वरे"।

—शांडिल्यसूत्र

परमेश्वर में परम अनुरक्ति को ही भक्ति कहते हैं। ज्ञान-कर्म को भूलकर तथा वासना-कामनाओं से मुक्त होकर, सुख-दुःख, धर्माधर्म, धनैश्वर्य स्त्री-पुत्र आदि से अपनेपन का भाव हटाकर ईश्वर में जो ऐकान्तिक अनुरक्ति होती है, उसी को भक्ति कहते हैं। केवल आँखें मूँदकर "तुम करुणामय दया के सागर हो" इस प्रकार प्रार्थना कहने मात्र से भक्ति नहीं हो सकती।

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
सालोक्य सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणान्मद्भावायोपपद्यते ॥
—श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध १०।११।१२

अब निर्गुण भक्तियोग किस प्रकार का है सो सुनो। मेरे गुणों के श्रवणमात्र से मुझ सर्वान्तिर्यामी में समुद्र-गामिनी गंगा के सलिल के समान अविछिन्न एवं फलानुसंधानरहित तथा भेददर्शन वर्जित मन की गति जो भक्ति है, वही निर्गुण भक्तियोग का लक्षण है। इस प्रकार भक्तियोगी की अपनी कोई कामना नहीं होती। यहाँ तक कि उनको सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारुप्य एवं एकत्व (सायुज्य) आदि मुक्ति प्रदान करना चाहें, तो भी वह मेरी सेवा के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहता। इस प्रकार के भक्तियोग को ही आत्यन्तिक कहते हैं। इससे बढ़कर कोई परम पुरुषार्थ नहीं हो सकता। मानव त्रैगुण्य त्याग करके ब्रह्म-प्राप्तिरूप परमधन को लाभ करता है, यह बात प्रसिद्ध है सही, किन्तु वह ( भक्त ) तो मेरी इस भक्ति के आनुषङ्गिक धन, भक्ति-योग से ही त्रिगुण अतिक्रम करके ब्रह्मत्व प्राप्त कर सकता है।

भक्ति की साधना राग-मार्ग है, अतएव जिसको जितनी ही अनुराग हो, वह भगवान को उसी रूप से हृदय में धारण करके मनोऽनुकूल विधि से भगवान् में तन्मयता प्राप्त करता है। उस अवस्था में विधि-निषेध, शास्त्र-उपदेश आदि सब छूट जाते हैं। राजमार्ग की साधना और साधक की अवस्था भाषा में व्यक्त कर सकना विडम्बना मात्र ही कहा जायगा।*

भक्ति की साधना में क्रम से प्रेमभक्ति का उदय होता है। उस समय साधक शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, कान्ता और_मधुर प्रभृति

---

* मत्प्रणीत "प्रेमिक-गुरु" ग्रन्थ में प्रेमभक्ति प्रभृति का स्वरूप और साधन प्रणाली अति विस्तार के साथ वर्णित है।

प्रेम की उच्च श्रेणियों की माधुरी लीला में विभोर हो जाता है। साधक सर्वत्र ही भगवान् के अस्तित्व का दर्शन करता है। वह जानता है कि :—

विस्तारः सर्वभूतस्य विष्णोर्विश्वमिदं जगत्।
द्रष्टव्यमात्मवत् तस्मादभेदेन विचक्षणैः॥

—विष्णुपुराण

यह विश्व-जगत्, सर्वभूत विष्णु के विस्तारमात्र है, किन्तु विचक्षण व्यक्ति अपने को इन सबसे अभिन्न देखता है। क्योंकि स्त्री-पुरुष का भेद-ज्ञान रहने से साधक प्रेम का अधिकारी नहीं हो सकता। पुराणों में कथित हर-गौरी ( शिव-पार्वती ) की मूर्ति इस ज्ञान और प्रेम का— उज्ज्वल दृष्टान्त-रूप है। प्रकाश यदि फानूस (चिमनी) द्वारा आच्छादित न हो तो वह किञ्चित् अप्रिय एवं मन्द प्रतीत होता है, किन्तु फानूस के लगाते ही एकदम स्निग्ध और उज्ज्वल हो जाता है। ठीक उसी तरह यह ज्ञान का प्रकाश किञ्चित कर्कश है, किन्तु प्रेम के फानूस द्वारा आच्छादित होने से स्निग्ध, मधुर, उज्ज्वल, ज्योति विकीर्ण करके तृप्त कर सकता है।

भक्तियोग सिद्ध होने पर साधक भक्ति और प्रेम के बल से जगत् रूपी जगन्नाथ को अपने साथ लय कर सकता है।

## धर्म के सम्बन्ध में शिक्षितों का अभिमत*

हिन्दूधर्म जागृत हो रहा है। अब हिन्दू-सन्तान हिन्दूशास्त्रों में विश्वास करती है, हिन्दूधर्म को मानती है और धर्मानुसार उपासना भी करती है। सभी श्रेणियों की—विशेषतः शिक्षित सम्प्रदाय की धर्म-

---

* 'शिक्षित' शब्द का प्रयोग यहाँ अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों के लिए किया गया है।

पथ में मति और साधना कार्य में प्रवृत्ति हो रही है। सुदूर यूरोप और अमेरिका वासियों में भी कितने ही हिन्दू-धर्म का महत्त्व समझते हैं; किन्तु हमारे देश के शिक्षित-समाज में एक श्रेणी के लोग फिर भी एक प्रकार के भ्रम में पड़े हुए हैं। दुःख का विषय यह है कि वे उचित मार्ग से नहीं चलते। वे अपनी-अपनी विवेक बुद्धि के अभिमान के वशीभूत होकर हिन्दू-शास्त्रों में कुछ अंश प्रक्षिप्त और कुछ अंश अतिरंजित बताकर उन्हें छोड़ देते हैं और अपने मनोनुकूल एक नया धर्म खड़ा कर लेते हैं। उसके द्वारा वे स्वयं तो धोखा खाते ही हैं, साथ ही दूसरों को भी प्रताड़ित करते हैं। स्वर्गीय बङ्किम बाबू के धर्ममत में इस विषय की आलोचना की गयी है।

बङ्किम बाबू ने अपने 'कृष्णचरित्र' और 'धर्मतत्त्व' नाम की दो पुस्तकों में हिन्दू-धर्म विषयक गम्भीर एवं गवेषणापूर्ण आलोचना की है। हमारे इन दुर्दिनों में इस प्रकार के ग्रन्थ और ग्रन्थकार का आविर्भाव होना निःसन्देह गौरव का विषय है। विशेषतः शिक्षित-समाज में इन दोनों पुस्तकों का प्रचार होना अधिक हितकर हो सकता है। इसके लिए शिक्षित समाज उनके प्रति कृतज्ञ रहेगा। किन्तु उनके प्रति उचित सम्मान-प्रदर्शनपूर्वक यह कहने के लिए भी बाध्य होना पड़ता है कि उनके समान विद्या बुद्धि-सम्पन्न भारतीय व्यक्ति भी अपने मत का समर्थन करने के कारण हिन्दूधर्म की गौरव-रक्षा नहीं कर सका। बङ्किम बाबू कई वर्ष पूर्व स्वर्गवासी हो चुके हैं। विशेषतः वे इस देश में सर्वसाधारण के श्रद्धा-भाजन हुए हैं; अतएव इस सम्बन्ध में विशेष आलोचना करने की इच्छा नहीं होती; क्योंकि उनके धर्ममत की आलोचना करने पर अनेक शिक्षित व्यक्तियों की सहानुभूति से हमें वञ्चित हो जाना पड़ेगा, यह जानते हुए भी न्याय की मर्यादा और सत्य के अनुरोध से दो-चार बातें कहने के लिए बाध्य होना पड़ता है।*

---

* लेखक इस निबन्ध को लिखते हुए हृदय में एक महान् अशान्ति

का अनुभव करता है; इसी कारण जिस दिन लेख छपना आरम्भ हुआ, उसी दिन ( सन् १३१४ बङ्गाब्द ) के १९ चैत्र बुधवार को रात के डेढ़ बजे योग-निद्रा ( Hypnosis ) की सहायता से स्वर्गीय बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय की आत्मा का आवाहन करके लेख के सम्बन्ध में जो कुछ वार्तालाप हुआ, सर्वसाधारण के लाभार्थ उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

प्रश्न—आप कैसे हैं ?

उत्तर—मैं सुख में हूँ। पौराणिक भाषा में स्वर्गभोग कर रहा हूँ।

प्रश्न—आपका क्या फिर जन्म होगा ?

उत्तर—भोग के अन्त में जन्म होना अवश्यम्भावी है।

प्रश्न—आपकी लिखी धर्मतत्व पुस्तक पढ़कर क्या हम अपना धर्म-ज्ञान ठीक कर सकते हैं ?

उत्तर—नहीं, कदापि नहीं। क्योंकि मैं धर्मोपदेष्टा गुरु या धर्म-प्रचारक नहीं हूँ और इसीलिए किसी धर्ममत का प्रचार मेरा उद्देश्य भी नहीं है। केवल एक श्रेणी के लोगों की दृष्टि हिन्दूधर्म की ओर आकर्षित करना ही मेरा उद्देश्य था। मैंने अंग्रेजी भाषा से मुग्ध एवं अंग्रेजी के अनुकरण में तत्पर, अप्रबुद्ध एवं दूसरों को सिखाने की आवश्यकता के समय स्वयं केवल विजय-दुन्दुभी उठाने वाले भारवाही की तरह अंग्रेजी शिक्षा में प्रवृत्त और पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित हिन्दुओं को ही अपने राष्ट्रीय धर्म द्वारा तृप्ति लाभ करने का उपदेश दिया है। शिक्षित गर्दभ-समाज की पीठ से अभिमान का बोझ हटाने की चेष्टा मात्र ही की है।

प्रश्न—किन्तु वे तो एक नये ही भ्रम में फँस गये हैं।

उत्तर—परवाह नहीं। जातीय धर्म में ...

आचार-निष्ठ हिन्दू भूल में पड़ जाने पर भी नास्तिक, पाखण्डी अथवा अर्ध-दग्ध होने पर भी धर्म-लोलुप हिन्दू की अपेक्षा श्रेष्ठ है। मैं जानता हूँ कि तत्त्वज्ञ हिन्दू मेरे लिखे हुए "धर्म-तत्त्व" को तृणवत् परित्याग कर देंगे और केवल उच्छृङ्खल एवं म्लेच्छ-पदानुसरणकारी शिक्षित कहे जाने वाले हिन्दूलोग ही मेरी बातों पर विश्वास करेंगे। इसी प्रकार मुझे यह भी विश्वास है कि किसी धारणा के करण हिन्दू-लोग एक बार राष्ट्रीय-धर्म में प्रतिष्ठित होने के बाद एक समय ऐसा अवश्य आवेगा, जबकि उनकी भ्रान्त धारणाएँ स्वयं ही विरोहिव हो जावेंगी। क्योंकि विश्वास हो जाने पर सत्य स्वयं ही आलोक की तरह प्रकाशित हो उठता है।

प्रश्न—यद्यपि वैसे समय की आशा अवश्य की जा सकती है। तथापि अनुशीलन-धर्म शास्त्र-सम्मत है। किन्तु शारीरिक, ज्ञानार्जनीय कार्यकारिणी एवं चित्तरञ्जिनी वृत्ति आदि सब का अनुशीलन करना कैसे सम्भव है? जो वृत्तियाँ नित्य हैं, उनका अनुशीलन आवश्यक है, किन्तु जो अनित्य है उनके अनुशीलन से जीवन-यापन करने से प्रकृति-मार्ग का अन्तर कैसे दूर हो सकता है?

उत्तर—धर्मतत्त्व के शिष्यरत्नों का स्मरण करने से ही इसका उत्तर सुगमतापूर्वक दिया जा सकता है। जो परकाल को नहीं मानते या पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते उन्हें "नित्यता" समझाने का प्रयत्न करना केवल विडम्बना ही कहा जा सकता है। इसी कारण मैंने दूसरे जन्म की चर्चा छोड़कर इहकालीन सुख को देने वाले धर्म को समझाने की ही चेष्टा की है। मनुष्य जिस उपाय से पाशवी प्रकृति को त्याग कर सच्चा मनुष्य बन सकता है; उसी के लिए मैंने यह सब प्रयत्न किया है। शिक्षित व्यक्ति की प्रकृति के पर्यालोचन से मुझे प्रतीत हुआ कि उनके मन के अनुसार धर्म की सच्ची व्याख्या न की जाने पर कोई भी उनमें

हिन्दूधर्म की ओर आकृष्ट नहीं हो सकता। अतएव धर्म को उनके मुख-रोचक ( स्वादिष्ट ) बनाने के लिए ही मुझे श्लोकों में काट-छाँट कर कुसंस्कारों का खण्डन अथवा स्थल-विशेष पर शास्त्र भाग को भी छोड़ देना पड़ा है।

प्रश्न—आपने तो चैतन्य, बुद्धदेव, ईसा आदि अवतारी पुरुषों के प्रचारित धर्म को भी अपूर्ण बताया है।

उत्तर—देश, काल और पात्र को देखकर ही हमें धर्म की व्याख्या करनी पड़ती है। तमोगुणी जड़वादी हिन्दुओं के हृदय में रजोगुण का उद्रेक करना ही मेरा उद्देश्य था। इसी कारण बुद्ध, चैतन्य आदि के सात्त्विक धर्मों को अलग रखकर राजसिक धर्म की व्याख्या की है। जिस बालक ने उठकर चलना भी न सीखा हो, उसे दौड़ने का उपदेश देना ठीक नहीं कहा जा सकता। यदि हम प्रत्यक्षज्ञान लाभ न भी कर सकें तो भी व्यावहारिक ज्ञान के बल पर धर्म के स्थूल भाव को जहाँ तक समझ सकते हैं, वह भी "धर्मतत्त्व" में पूरी तरह प्रगट नहीं किया जा सका है। हम ऋषि-मुनियों के प्रचारित शास्त्रों को भगवद्वाक्य कह कर मानते हैं। साधारण शिक्षित व्यक्तियों की तरह धर्मबलहीन हो जाने पर कभी हम विधवा-विवाह का तीव्र प्रतिवाद नहीं करते। हमारा उद्देश्य तो "येन-केन-प्रकारेण" अनुकरणप्रिय शिक्षित व्यक्तियों को हिन्दूधर्म की ओर आकृष्ट करना था। अतएव उनके मन की गति-विधि को समझकर—कार्य का स्वरूप देखते हुए आवश्यक काट-छाँट के बाद धर्म को प्रगट किया है। जो लोग अध्यात्म जगत् को स्वीकार नहीं करते, उनको आध्यात्मिक उपदेश देने से क्या लाभ ? इसी कारण शारीरिक और मानसिक धर्म का चित्र दिखलाया है।

प्रश्न—मैंने आपके उद्देश्य को न समझते हुए ही तीव्र आलोचना कर डाली है। किन्तु अब उस प्रतिवाद-प्रबन्ध को छापने से रोक देने की इच्छा होती है।

उत्तर—प्रतिवाद-निबन्ध के प्रचार से तो जनता का लाभ ही होगा। जो लोग हिन्दूधर्म में विश्वास करते हुए भी भ्रान्त धारणा-वश प्रकृत मार्ग को देख नहीं सकते, उनको विशेष रूप से लाभ होगा। जो लोग संशयी एवं अविश्वासी हैं, वे भी कृष्ण-चरित्र और धर्मतत्त्व का पाठ करके हिन्दूधर्म में विश्वास करने लगेंगे। इसके बाद धर्मतत्त्व और कृष्णचरित्र की भूलों को जान लेने पर वे सच्चे मार्ग का भी अनुसरण कर सकेंगे। हिन्दू लोग इस समय वाह्य सम्पत्ति से मुग्ध हो रहे हैं। इसी कारण षडैश्वर्यशाली विष्णु को सम्मुख रख कर हमने जयदेव के प्रेममय कृष्ण को दूर छोड़ दिया है। निवृत्ति मार्ग को प्रशस्त कर दिया है। अतः आपके प्रतिवाद से निवृत्ति-मार्ग का जीर्ण-तृण उड़ जायगा। उस समय हिन्दूलोग सन्तोष की अमल-धवल कौमुदी विभूपित एवं कुसुमावृत्त निवृत्त मार्ग में परिचालित होकर हमारे उद्देश्य को पुनरुज्जीवित एवं आलोकित करेंगे। मेरे भ्रम को समाज के सम्मुख किसी के द्वारा प्रगट न किया जाने से मैं अभी तक अशान्ति भोग रहा हूँ। किन्तु आज आपके द्वारा वह अशान्ति दूर हो गई। साथ ही मैंने यह भी जान लिया कि संसार में विद्या-बुद्धि एवं प्रतिभा का अहंकार वृथा है। क्योंकि ईश्वर को जिसके द्वारा जो कार्य कराना है, उसे वही शक्ति प्रदान करते हुए आपके या मेरे द्वारा वह संसार में उस कार्य को करवा लेता है। मैंने ही प्रथमतः आपके हृदय में धर्म का बीजा-रोपण किया और उस बीज से विशाल वृक्ष उत्पन्न होते देखकर उसके सुस्वादु फल को भक्षण करने के बाद निश्चिन्त चित्त से यथा स्थान गमन किया है।

अन्यान्य बातें सर्वसाधारण के सम्मुख प्रगट करना अनावश्यक है। पाठकों को उनके लिए दुःखी होने की आवश्यकता नहीं है।

बङ्किम बाबू ने कृष्ण चरित्र में जो भूल की है, उसे आज कई एक व्यक्ति समझ रहे हैं। प्रक्षिप्त विचारों में भी वे स्वाधीनता की रक्षा नहीं कर सके हैं। इन विषय में दो एक व्यक्तियों ने प्रतिवाद भी किया है, किन्तु यहाँ हम उन सब बातों की आलोचना करना आवश्यक नहीं समझते। विशेषतः इस ग्रन्थ में उसके लिए कोई स्थान नहीं है। बङ्किम बाबू वङ्गीय साहित्य के गुरु एवं प्रतिभा-परायण व्यक्ति थे। उनकी उस प्रतिभामयी बुद्धि में कृष्ण के अनुराग से ऐश्वर्यतत्त्व की अनुभूति हुई और उन्होंने अपने उस मानवीय बुद्धि-बल के द्वारा कृष्ण को समझने का प्रयत्न किया था; इसी कारण उनके कृष्ण मनुष्य रूप में चित्रित हुए हैं। मानव चरित्र के विश्लेषण और चित्रण में वे सिद्धहस्त थे ही, अतएव उन्होंने भगवान् को आदर्श मानव के रूप चित्रित करते हुए बड़ी कुशलता प्रदर्शित की है। किन्तु असल में वे अवतारों की सम्यक्ता को ही नहीं समझ सके थे। किस देश में किस अवतार की अलौकिक कार्य शक्ति का उल्लेख नहीं मिलता ? साधन-ज्ञान-हीन स्थूल मानुषी बुद्धि के द्वारा उनका चरित्र समझाने के लिए मानव चरित्र के सिवाय अन्य किस उपाय का अवलम्बन किया जा सकता है ? भगवान् के भाव साधन ज्ञान द्वारा जाने जा सकते हैं। ऋषियों ने साधन द्वारा ही उन्हें जानकर शास्त्रों में वर्णन किया है। जिसे हम समझ नहीं सकते और न जिसको धारण ही कर सकते हैं तथा जो मानवीय क्षुद्र-बुद्धि से परे की वस्तु है एवं जो योगियों के योग लब्ध ज्ञान से गोचरीभूत होती है, उसे आषाढ़ की गप्प (फ़ुर्सत की चर्चा) कहकर चुप हो जाते हैं। इसी कारण बङ्किम बाबू ने जो अलौकिक ईश्वरीय एवं नूतन तथा ज्ञानातीत विषय था, उसे प्रक्षिप्त तो नहीं, किन्तु अतिरञ्जित कहकर छोड़ दिया है। श्रीकृष्ण का ईश्वरत्व विदूरित करके उनकी मानुषी मूर्ति को मानव समाज में प्रतिष्ठित किया है। यही कारण है कि वे विनायक की मूर्ति बनाने जाकर बन्दर बना गये हैं। पाश्चात्य शिक्षा से

प्रभावित साधन ज्ञानहीन व्यक्ति के लिए कृष्ण-चरित्र आदर्श ईश्वर चरित्र हो सकता है, किन्तु विषय-वितृष्णयोगज्ञानशाली भक्तों के सम्मुख तो वह मानव-चरित्र मात्र ही रहेगा।

बङ्किम बाबू ने कृष्णचरित्र का आरम्भ करने से पूर्व लिखा है कि इसमें जो प्रक्षिप्त, अतिप्रकृत एवं मिथ्या लक्षणाक्रान्त है, उसे छोड़ दिया जायगा। किन्तु यह कथन क्या विचारशीलता का द्योतक कहा जायगा ? इससे तो उन्हें स्पष्ट शब्दों में यही कहना चाहिये था कि, मैं न तो शास्त्रों के आधार की चिन्ता करूँगा और न ऋषि-मुनियों के वचन पर ही ध्यान दूँगा। इसी प्रकार साधक और सिद्ध का भी कोई ध्यान न करते हुए अपने मनमाने धर्म का मैं पालन करूँगा। क्योंकि एक ही शास्त्र के कुछ अंश को यथार्थ और शेष को उपन्यास मानने का साहस वे ही कर सकते हैं। उनके मत का समर्थन करने वाला अंश यथार्थ और शेष सारा ही प्रक्षिप्त होने से उन्होंने छोड़ दिया। इस प्रकार ऊपरी बातों के आधार पर कोई बात कहना नितान्त अश्रद्धेय होता है। इससे भी अधिक दुःख के साथ हमें फिर यह कहना पड़ता है कि उन्होंने आत्म-मत के प्रचारार्थ अनेक स्थानों में श्लोकों का पाठान्तर भी कर दिया और इस प्रकार शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन किया है। साथ ही कई स्थानों पर शास्त्र-भाग को अग्राह्य भी कर दिया है। यथा :—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥
—गीता ४।८

इस श्लोक में काट-छाँट कर "धर्म संस्थापनार्थाय" के स्थान पर "धर्म संरक्षणार्थाय" कर दिया है और प्रचार के लिये यह भी लिख दिया है कि संस्कृत के अधूरे विद्वान ही इस पाठ "धर्म-संस्थापनार्थाय" को व्यवहार में लाते हैं। इससे अधिक उपहास की बात और क्या हो सकती है ? शंकराचार्य, श्रीधरस्वामी और मधुरसूदन

सरस्वती आदि भारत जननी के सुपुत्रों ने एक अक्षर या बिन्दु मात्रादि का भी परिवर्तन किये विना अपने भाष्य और टीका में "धर्म संस्थापनार्थाय' पाठ की ही व्याख्या की है ?* वङ्किम वावू ने स्वयं अपने द्वारा अनुवादित गीता में विल्सन साहब की हँसी उड़ाते हुए लिखा है कि "विल्सन साहब ने सोचा होगा कि मैं (वे) शंकराचार्य (जिन्हें कि चारों वेद और समस्त शास्त्र कण्ठस्थ थे) से भी अधिक संस्कृत को समझ सकता हूँ।" किन्तु यहाँ उनकी दृष्टि दूर तक नहीं जा सकी। हम दूसरों को दोष तो देख लेते हैं, किन्तु अपनी वार अन्धे हो जाते हैं। माया की कैसी विचित्र लीला है। जिसे जितना समझाने की बुद्धि दी गई है, उसी को वह चरम ज्ञान समझकर दूसरों के दोष ढूँढ़ने में जुट जाता है और जो इसे समझ लेते हैं, वे प्रचुर आनन्द प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त भी अनेक स्थानों पर वङ्किम वावू ने शास्त्रकारों को महान् उद्देश्य न समझते हुए उनके प्रति अनेक कटु वाक्यों का प्रयोग किया है, जिन्हें पढ़कर भक्तों के हृदय को कड़ी चोट लगती है।

अर्थात् धर्म-तत्त्व में वर्णित अनुशीलन धर्म ही अन्तिमधर्म नहीं है, वरन् वह हिन्दूधर्म का एक अंश मात्र ही है। अर्थात् उसमें कथित अनुशीलनधर्म गीतोक्त "कर्मयोग" मात्र ही है। यदि वे धर्म 'संस्थापनार्थाय' पद को यथावत् रहने देते तो उन्हें अपने मनचाहे अनुशीलनधर्म और श्रीकृष्ण के मानवचित्र की रचना करने में सफलता मिलनी असम्भव थी। उन्होंने लिखा है कि धर्म में नवीनता लाने का अर्थ क्या हो सकता है ? जबकि धर्म अनादि और चिरकाल

---

* शंधर भाष्य "धर्म-संस्थापनार्थाय, संस्थापनं सम्यक् स्थापनं तदर्थं संभवामि युगे युगे प्रतियुगम्।"

स्वामिकृत टीका—एवं धर्म—संस्थापनार्थाय साधुरक्षणेन दुष्टवधेन च धर्मं स्थिरी कर्त्तुं युगे युगे तत्तदवसरे संभवामीत्यर्थः ॥

से चला आ रहा है, तो यहाँ 'धर्म-संरक्षण' पद ही ठीक हो सकता है। उसी स्थान पर उन्होंने कृष्णावतार के उद्देश्य-पथ को त्यागकर मनमाना प्रचार किया है। क्योंकि कर्म-योग का प्रचार तो कृष्णा-वतार से पहले ही हो चुका था। जनक, अम्बरीष प्रभृति कर्म-योगियों ने निष्काम धर्म का ही साधन किया था। अतः श्रीकृष्ण के लिए उसे फिर से स्थापित करने की आवश्यकता नहीं थी, इसी कारण 'संरक्षण' शब्द की पाठ में योजना करनी पड़ी। श्रीकृष्णचन्द्र ने प्रेम-भक्ति की माधुर्य लीला का संस्थापन किया है। किन्तु बङ्किम बाबू ने उसे उपन्यास—या कल्पित मानकर छोड़ दिया है। फिर भी क्या कर्मयोग ही अन्तिम धर्म हो सकता है? कर्म के पश्चात् ज्ञान-योग और भक्तियोग की साधना किये बिना क्या ब्रह्म-निर्वाण की प्राप्ति कभी सम्भव है? इसीलिए गीता में ज्ञानयोग की विशेष प्रशंसा की गई है। यथा :—

'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

—गीता, ४।३८

अर्थात् ज्ञान के समान पवित्र वस्तु संसार में दूसरी नहीं है। इसी कारण तो अर्जुन ने जिज्ञासा की कि—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥

गीता ३।१

(अर्थात्) हे जनार्दन! जब आप के मतानुसार कर्म की अपेक्षा बुद्धि ( ज्ञान ) ही श्रेष्ठ है, तब हे केशव! मुझे आप इस घोर कर्म में क्यों नियोजित करते हैं?·········इस पर भगवान् ने उत्तर दिया कि—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

—गीता, ३।३

हे पार्थ ! मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि इस (संसार) में निष्ठा दो प्रकार की है। शुद्धचेताओं के लिए ज्ञान-योग की और कर्मयोगियों के लिए कर्म-योग की। इसके बाद उन्होंने फिर कहा है कि—

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
—गीता, ३।५

मनुष्य के इच्छा न करने पर भी प्राकृतिक गुण-समूह उसको कर्म में नियुक्त कर देते हैं। अतएव इस गुणक्षय के लिए कर्मयोग की आवश्यकता है। किन्तु जिनके कर्मों का क्षय हो गया है, वे फिर से कर्म ही क्यों करेंगे ? नाटोर के महाराजा रामकृष्ण एक उच्च कोटि के साधक थे। वे किसी भी सांसारिक कार्य में मन नहीं लगाते थे। इसी प्रकार वैद्य-कुल-तिलक साधकश्रेष्ठ रामप्रसाद भू-कैलास के जमीदार-सरकार के यहाँ नौकरी करते समय सिरिश्ते की चिट्ठी-पत्रियों में अपने बनाये हुए गीत लिखा करते थे। इस प्रकार के उच्च अधिकारियों के सम्मुख बङ्किम बाबू का अनुशीलन धर्म-बालकों के उपदेश के समान ही सिद्ध होगा। अर्थात् विषय-वासना में फँसे हुए मनुष्यों के लिए ही कर्मयोग है। यथा :—

यस्मै न रोचते ज्ञानमध्यात्मं मोक्ष-साधनम्।
ईशार्पितेन मनसा भजेन्निष्कामकर्मणा ॥
—योगवाशिष्ठ

"मोक्ष के साधनरूप ईश्वरीय ज्ञान में जिनकी रुचि नहीं है, वे ईश्वर में चित्त रमाकर निष्काम कर्म का अनुष्ठान करें।" इसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र ने भी अपने सखा उद्धव से कहा है कि :—

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर ॥
—श्रीमद्भागवत, ११।११।२२

यदि ब्रह्म में मन को निश्चल करना असम्भव हो तो निरपेक्ष होकर (फलादि कामना न करते हुए) सब कर्मों को मुझ में ही समर्पण कर दो।

पाठकगण ! देखा न आपने, कर्मयोग की व्यवस्था किनके लिए है ? किन्तु आज पर-भाषा शिक्षित व्यक्ति इस तत्त्व को न समझते हुए उच्चश्रेणी के साधकों को समाज के लिए 'गलग्रह' और 'स्वार्थी' कहने लग जाते हैं और उनके विरुद्ध मत प्रगट करने लगते हैं। कर्मसाधन परित्याग करके जो लोग अविच्छेदरूप से ब्रह्मरस के पान में नियुक्त हो जाते हैं और उन्हें जो अस्वाभाविक दोषी समझते हैं, वे सर्वथा भ्रम में ही फँसे हुए हैं। क्योंकि हमारी आत्मा का अन्तिम पुरस्कार (प्राप्य वस्तु) क्या हो सकता है ? और आत्मा की अनन्तकाल व्यापी जो उन्नति होगी, वह कैसे ? अनन्त उन्नति के पथ में अनन्त देवता का चिर-सहवास लाभ करना— अनन्त-काल पर्यन्त अविच्छिन्न रूप से उसकी रूप-सुधा का पान करना—अनिमेष अनन्तकाल पर्यन्त उनका गम्भीर पवित्रतम मूर्ति का दर्शन करना और निश्चिन्त एवं निर्भय हृदय से उनकी जय बोलना ही क्या हमारी आत्मा का अन्तिम पुरस्कार (प्राप्य) नहीं है ? इस जगत में रहकर भी यदि आत्मा अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त कर सके, तो तुम उसे न समझकर अस्वाभाविक बातों का प्रयोग क्यों करते हो ? बङ्किम बाबू को ईशामसि, शाक्यसिंह और चैतन्यदेव के उदासीन गीत अच्छे नहीं लगे। दूसरों को चाहे अच्छा भी क्यों न लगे, किन्तु शराबी को मदिरा का पात्र त्यागने का उपदेश क्या पसन्द हो सकता है ? संन्यासियों की निन्दा करना गृहस्थों का नित्य का कार्य है। जनक राजा की सभा में शुकदेवजी की "कौपीन-दुर्घटना" की चर्चा अनेक गृहस्थों ने अपने ग्रन्थों में की है और इक्कीस दिन तक जनक ने शुकदेव से छिपाकर अनेक प्रकार से उनकी

परीक्षा भी ली; किन्तु जब उन्हें विचलित न कर सके तब उन्होंने क्षमा प्रार्थना की हो, यह किसी से भी सुना नहीं।

इसी प्रकार निष्काम-धर्म के पालन के लिए भी कठोर साधना की आवश्यकता होती है। इसी कारण भगवान् श्रीकृष्ण ने भी वदरिकाश्रम में जाकर योगाभ्यास किया था। जनक राजा भी महान् हठयोगी थे; उन्होंने अपने गुरु अष्टावक्र से कहा था कि :—

कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः।
अथ चिन्तासहस्तस्मादेवमेवाहमास्थितः॥

—अष्टावक्रसंहिता, १२।१

"पहले मैं कायिक-कार्यों से विरत हुआ, पश्चात् वाक्य विस्तार से विरति प्राप्त की, अव मैं चिन्ता से निरस्त होकर इस रूप में अवस्थान कर रहा हूँ।"

पाठक ! देखा न आपने किस प्रकार की कठोर साधना करके जनक राजा कर्मयोगी बन सका था। निष्काम कर्म का महत्त्व हम भी समझते हैं, किन्तु साथ ही यह भी हम जानते हैं कि लिखना या बोलना जितना सहज है, पालन करना उतना सहज कदापि नहीं है। कर्म-संन्यास से भी कर्म-योग की साधना कठिन है। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कांटा-चमचधारी कुक्कुटभोजी एवं उनका अनुकरण करनेवाले उच्छृङ्खल म्लेच्छ-दासत्व-उपजीवियों के मुख से निष्कामधर्म का उपदेश सुनकर किसे हँसी नहीं आवेगी ? जो लोग नियम-संयम को 'आत्म पीड़न' और योगसाधना को "वेद की जादूगरी" कहते हैं; उनके द्वारा किस प्रकार निष्काम-कर्म का पालन हो सकता है—यह सहज ही अनुमान करने की वात है। इसी श्रेणी का एक व्यक्ति जो प्रसिद्ध कवि और शास्त्र-प्रचारक था,—एक मामूली नौकरी के लोभ में किस प्रकार विश्वासघातकता से किसी राजा को राज्यकर के

रूप से अर्पण कर निष्काम कर्म की ध्वजा उड़ा चुका है। वह सबको विदित ही है। इस प्रकार के कर्मयोगी के चरित्र का अनुसन्धान करने पर कितने ही गुप्त-रहस्यों का पता लग सकता है। पहले किसी नये मत की स्थापना करते समय कितनी और कैसी-कैसी विपत्तियों का सामना करना पड़ता था और कैसा होहल्ला मचता था। मोहम्मद, ईसा, बुद्ध, शंकर और चैतन्यदेव को प्रारम्भ में कितनी कठिनाइयों को सहन करना पड़ा था? किन्तु आज हमारा समाज मृतवत् हो रहा है। धन-जन-सम्पन्न व्यक्ति ही बड़ा माना जाता है; विशेषकर छापे की सुविधा और द्रव्य के बल पर जो चाहे अपने मत का प्रसार कर सकता है। केवल प्रकृत ज्ञानी को हँसते हुए मर जाना पड़ता है।

एक साधारण-सी बात पर भी बङ्किम बाबू को विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने गीता के "विश्वरूपदर्शन" अध्याय अलौकिक घटना-पूर्ण बताकर प्रक्षिप्त मान लिया और उसे छोड़ दिया है। हम जानते हैं कि आज भी कई योगी महिमा सिद्धि प्राप्त कर अपने शरीर के अङ्गों को इच्छानुसार बढ़ा सकते हैं। तब जो योगेश्वर हैं, उनके लिए विराट् मूर्ति धारण कर सकना क्या असम्भव बात है? यहाँ मुझे पुराणों की कथा स्मरण हो आती है:—"एक बार नारद जी बैकुण्ठ जा रहे थे, मार्ग में उन्होंने देखा कि एक पागल भगवान् को अनेक प्रकार से बुरे शब्दों में गालियाँ दे रहा था। नारद को देखकर उसने कहा "महात्मन्! उस काले छोकरे से पूछना तो सही कि मैं कितने दिन में मुक्ति पा सकूँगा? नारद उसको "ठीक है" कहकर आगे बढ़े। कुछ दूर जाकर उन्होंने देखा कि दूसरा एक भक्त भगवान् की स्तुति कर रहा है। उसने भी पूछा "भगवन्! प्रभु से पूछना कि मैं कितने दिनों में मुक्ति पा सकूँगा!" नारद ने उसका अनुरोध भी स्वीकार कर लिया।

इसके बाद यथा समय बैकुण्ठ में पहुँचकर नारद जी दोनों ही व्यक्तियों की जिज्ञासा भगवान् के सम्मुख प्रगट कर दी। भगवान् ने कहा "पहला व्यक्ति शीघ्र ही मुक्ति लाभ करेगा और दूसरे के लिए अभी बहुत देर है।" नारद जी ने आश्चर्य पूर्वक पूछा "ईश्वर के निन्दुक की शीघ्रमुक्ति और भक्त की विलम्ब से, यह कैसा नियम है ?"

भगवान् ने हँसते हुए कहा, "आप असल वात छिपा कर दोनों से कहिये कि "भगवान् एक हाथी को सुई के छिद्र में प्रविष्ट कराने में व्यस्त हैं इसीलिए उन्होंने तुम्हारी वात का कोई उत्तर नहीं दिया। इससे आप को यथार्थ रहस्य का ज्ञान हो जायगा।"

नारद वहाँ से विदा होकर भक्तों के निकट पहुँचे और उन्होंने भगवान् की आज्ञा उन्हें कह सुनाई। भक्त ने खिन्न होकर कहा "प्रभु की अभी कृपा नहीं हुई है; तभी तो असम्भव कार्य में प्रवृत्त होकर हमें प्रवञ्चित कर रहे हैं।"

इसके वाद पागल ने नारद जी का उत्तर सुनकर हँसते हुए कहा "जिसके लोमकूप में सौ-सौ ब्रह्माण्ड समा सकते हैं, और जिसके कटाक्ष मात्र से सृष्टि-स्थिति और लय हो सकता है, उसके लिए सुई के छिद्र में हाथी को प्रविष्ट कराना कौन बड़ा कठिन कार्य है। और इसी कारण उसने मेरी वात का उत्तर नहीं दिया।" इसके वाद उसने भगवान् को और भी कई भली बुरी गालियाँ दी।

तव नारद ने समझा कि पागल सच्चा ईश्वर-भक्त है, इसी कारण भगवान् उसे शीघ्र मुक्ति देना चाहते हैं। बङ्किम बाबू ने भी बारंबार श्रीकृष्ण को भगवान् कहकर विश्वास किया है, पर उनके अलौकिक कार्यसकल को 'उपन्यास' का स्थान दिया है। इस प्रकार के भगवान् तो नये ही होंगे।

'धर्मतत्त्व' में वर्णित अनुशीलनधर्म का पालन करने से मनुष्य पशुत्व से मुक्त होकर मनुष्यत्व प्राप्त करता है। इसी कारण बङ्किम बाबू ने भगवान् को आदर्श मानवरूप में चित्रित किया है। किन्तु क्या मनुष्यत्व ही हमारा अन्तिम लक्ष्य है? मनुष्यत्व से मुक्त होकर देवत्व लाभ किया जाता है। ईसके बाद देवत्व से ईश्वरत्व और अन्त में ब्रह्मत्व प्राप्त करना ही हमारा मोक्ष पद है। अतएव इनके लिए देवता और ईश्वर का आदर्श होना चाहिए। उनके स्व कपोल-कल्पित अनुशीलनधर्म के द्वारा क्या समाज के उस अभाव की पूर्ति हो सकती है? किसी समय निष्काम धर्म प्रवल था, किन्तु फिर वह क्रमशः 'सकाम' में परिणत हो गया, इसी कारण बुद्धदेव को कर्म का सम्प्रसारण करके ज्ञानयोग का प्रचार करना पड़ा। किन्तु ईश्वर के सम्बन्ध में नीरवता-प्रयुक्त बौद्धधर्म नास्तिकता और-जड़वाद में परिणत हो गया। इसी कारण शङ्कराचार्य ने बौद्धधर्म का जड़त्व दूर करने के लिए ज्ञान का प्रसार करके उसे अपने सार्वभौम ज्ञान-वाद में विलीन कर दिया। किन्तु वह भी शिक्षा के दोष से और मायावाद के प्रभाव से कठोरता में परिणत हो जाने पर चैतन्यदेव ने आविर्भूत होकर उसमें प्रेमभक्ति का समावेश कर हिन्दूधर्म को मधुर बना दिया है। सारांश, कर्मयोग ही साधक के लिए एकमात्र अन्तिम साधना नहीं है, वरन् क्रमशः ज्ञान और भक्ति की साधना ही उसे करना चाहिए। आशा है कि धर्म-पिपासु साधक गण क्रमशः कर्म, ज्ञान और भक्तियोग के आश्रय से साधना करके मानव जीवन को पूर्णत्व प्राप्त कराने में सफल होंगे।

# प्रतिपाद्य-विषय

प्रिय पाठक ! साधारणों के आचरित धर्म से लेकर निस्त्रैगुण्य साधक के निराकार ब्रह्म की उपासना पर्यन्त सभी हिन्दूधर्म के अङ्ग-भूत हैं। इनमें रञ्चमात्र भी कुसंस्कार या मिथ्याचार नहीं है। एकदेशदर्शी विधर्मियों की बात जान-बूझ कर छोड़ दी है। क्योंकि वे वाह्य धन-सम्पत्ति या बाह्य विज्ञान के बल पर चाहे जितने बड़े क्यों न बन गये हों; किन्तु धर्म के विषय में हिन्दुओं की अपेक्षा वे बहुत पीछे हैं। अतएव वे हिन्दूधर्म का महान् उद्देश्य न समझते हुए हिन्दुओं को कुसंस्काराच्छन्न पौत्तालिक एवं जड़ोपासक प्रभृति जो उनकी इच्छा होती है कहने लगते हैं। किन्तु हम यदि हिन्दूधर्म को समझाने की चेष्टा करें—तो देखेंगे कि इस प्रकार का सार्वभौम एवं विश्व-व्यापक धर्म दूसरा कोई नहीं है। जो हिन्दू-सन्तान घर की बात न जानकर दूसरों से धर्म की शिक्षा प्राप्त करते हैं, उनसे बढ़कर अभागा और कौन हो सकता है ? उन्हीं लोगों के लिए इस ग्रन्थ की प्रस्तुत खण्ड की रचना की गई है, क्योंकि हिन्दूधर्म के प्रति निम्नाधि-कारिणी जनता की तो दृढ़ आस्था है, और उच्चाधिकारी ज्ञानियों के लिए हिन्दूधर्म स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकृत है। केवल मध्यम अधिकारी मनुष्यों के लिए—उनमें भी सब के लिए नहीं—वरन् केवल संशयी व्यक्तियों के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होती है। पाश्चात्य-विद्या की विपुल आलोचना होने से समाज में इन संशयी व्यक्तियों की संख्या बहुत बढ़ गई है। अतएव इन संशयी व्यक्तियों को हिन्दूधर्म में स्थिर और दृढ़ करना ही इस ग्रन्थ का प्रधान उद्देश्य है।

अतएव उनके प्रति पूर्ण अनुरोध करते हुए हमने जिस प्रकार इस खण्ड में हिन्दूधर्म के आध्यात्मिक-भाव समझाने का प्रयत्न किया है;

वे भी अपने गुरुजनों से हिन्दूधर्म को समझने के लिए उसी प्रकार प्रयत्न करें। धर्म में अधिकार हुए बिना शास्त्र पढ़ने से वे केवल ईशप की कहानियाँ ही प्रतीत होंगी। किसी विषय को न समझते हुए उसे मिथ्या और कुसंस्कार बताकर उड़ा नहीं देना चाहिये, बल्कि किसी तत्त्वदर्शी हिन्दू से जिज्ञासा करके उसकी मीमांसा कर लेनी चाहिए। अधिकारानुसार प्रत्येक हिन्दू का धर्म विभिन्न है। अतएव स्वयं जो कुछ करते या जानते हों, उसे दूसरों के पास न देखकर उनकी निन्दा नहीं करने लग जाना चाहिए। इसी प्रकार किसी भी अन्य धर्म की निन्दा नहीं करनी चाहिए। जब जिस देश में धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तभी भगवान् उस देश में अवतीर्ण होकर धर्म की स्थापना करते हैं। वे केवल हिन्दूदेश में ही जन्म लेंगे, ऐसी कोई बात क्या किसी भी शास्त्र में है? इसीलिए दूसरों के धर्म की निन्दा से स्वधर्म के गौरव की हानि होती है। वही हिन्दूधर्म और वे ही हिन्दूशास्त्र सर्वत्र हैं। केवल उपयुक्त लोगों द्वारा उचित रूप से अनुष्ठान न होने से ही यह वर्तमान अवस्था उत्पन्न हो गई है। हिन्दू-धर्म की आलोचना करके उसके गूढ़ उद्देश्य एवं महान् भाव सर्व-साधारण को समझा देने से अल्पकाल में ही हिन्दूधर्म का गौरव दिग्दिगन्त में प्रतिध्वनित होगा।

साधना के तीन उपाय हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति। किन्तु कर्म प्रधान धर्म में कर्मयोग नहीं समझाया गया है। इसी प्रकार भक्ति के रागमार्ग की साधना होने की बात हम पहले ही कह चुके हैं; अतः उसे शब्दों द्वारा व्यक्त करना विडम्बना मात्र ही होगा। ज्ञानयोग हमारा प्रतिपाद्य विषय है। अतएव ज्ञान और उसकी साधना ही इस ग्रन्थ में प्रकाशित की गई है। आशा है मुसलमान, ईसाई आदि भी इस साधना द्वारा सफलता प्राप्त करने को यत्नशील होंगे।

सब प्रकार की साधनाओं में भक्ति विषयक साधना ही श्रेष्ठ है।

यही मानव-जीवन का एकमात्र प्रधान लक्ष्य है। हम प्रत्येक मनुष्य से मुक्ति लाभ के लिए प्रयत्न करने का अनुरोध करते हैं। दुर्भाग्यवश जो मुक्ति-पथ से दूर अवस्थित हैं, उन्हें शास्त्रकर्त्ताओं ने मानवगर्भ जात गर्दभ रूप में वर्णन किया है। यथा :—

जातस्तु एव जगति जन्तवः साधुजीविताः।
ये पुनर्नेह जायन्ते शेषा जठरगर्दभाः॥

—योगवाशिष्ठ

॥ ॐ शान्तिः ॐ ॥

# द्वितीय खण्ड

## ज्ञान काण्ड

# ब्रह्म-विचार

## गीत

### ललित झिझिट—झाँपताल

कि भावे भाविव तबे भवे भवाराध्या धने।
हरि-हर-विरञ्चि आदि ये तत्त्व ना पान ध्याने॥
अजरा अमरा तारा, अन्तहीना निर्विकारा,
प्रणवे प्रकाश त्रयी, त्रिगुणा त्रितापहरा,
नारी कि पुरुष तिनि, जानिव बल केमने॥

निर्गुणेते निराकारा, सगुणे हन साकारा।
लीलाते जगदाकारा, क्रियाशक्ति सृजने;—
इच्छाशक्ति हये पालेन, ज्ञानेते ज्योतिः केवल,
त्रिगुणेते ब्रह्मा - विष्णु - शिवादि याँहारे बल,
भिन्न भावे भावे केवल तत्त्वज्ञानहीने॥

शुद्ध सत्त्वे महत्तत्त्व, मलिनेते अहंतत्त्व,
क्रमे पञ्च तन्मात्रतत्त्व, प्रकाश भुवने,
( सेई ) सूक्ष्मभूत पञ्चदेव, प्रपञ्चे जगदुद्भव,
प्रलये विलय सब हवे कारणे ;—

ताँर मायाते जगत् बाँधा, रूप-रसादि लगाय धाँधा,
"सोहं" भुले "अहं" ज्ञाने सुख-दुःखेते हासा काँदा,
मुदले आंखि, सकल फाँकि, ठिक रे'ख मने॥

विराजे से सर्वघटे, धार्मिके शठे कपटे,
केह वा चित्रिया पटे रत साधने,
केह देश-देशान्तरे, ताँहारे खुँजिया मरे,
भावे ना आपन अन्तरे, बसि योगासने ;—
स्थूल सूक्ष्म यत देख—एक भिन्न दुई नाई,
स्वप्नेते जीव जगत् बृथा खेटे मर भाई,
"सर्व्वं—खलु—इदं—ब्रह्म" जेन नलिने ।

पुष्कर ८-५-१३०१
बङ्गाब्द

# ब्रह्म-विचार

## गीत

### ललित झिंझिट—झाँपताल

१—तव किस भाव से हम भावेंगे ( ध्यान करेंगे ) तुम भवाराध्या को; हरि-हर-विरश्चि भी ध्यान से जिस यथार्थ तत्त्व को धारण नहीं कर सके।

२—( तुम ) अजरा, अमरा, तारा (देवी) हो, तुम तत्त्वहीना निर्विकारा ; फिर प्रणव में तुम त्रयी ( तीन रूपों ) में प्रकाशिता हो और तुम त्रिगुणा, त्रिताप को हरनेवाली हो, तुम नारी हो या पुरुष ? यह मैं कैसे जान सकता हूँ ?

३—निर्गुण-तत्त्व में तुम निराकारा हो एवं सगुणतत्त्व में तुम साकारा हो ; फिर लीला करते समय तुम जगदाकारा हो और सृजन के समय तुम्हीं क्रिया शक्ति-रूपिणी हो :—

४—फिर इच्छा शक्तिरूप में तुम जगत् का पालन करती हो एवं ज्ञान में केवल ज्योतिःरूपा हो और त्रिगुण में तुम ब्रह्मा-विष्णु-शिव हो। जो तत्त्वज्ञानहीन होंगे, वे ही केवल भिन्न-भाव से देखते हैं।

५—( अनुभव के स्तरभेद ) जिसका सत्त्व शुद्ध है, वह महत्तत्त्व का अनुभव करता है एवं जिसका हृदय मलिन है, वह अहंतत्त्व में रहता है। उसके क्रमशः सारे ही पञ्चतन्मात्रातत्त्व भुवन (पृथ्वी) पर प्रकाश पाते हैं। वही सूक्ष्म-भूतरूपी पञ्चदेव हैं। उनके प्रपञ्च

से जगत् का उद्भव होता है एवं कारणवश प्रलयकाल में वह सब विलय (नाश) हो जायगा।

६—उनकी माया से जगत् बन्धन में है, रूप-रसादि का धन्धा चलता है। "सोऽहं" को भूलकर "अहं" का ज्ञान होने से सुख-दुःख में हँसना एवं रोना पड़ता है। आँख बन्द होने से यानी मृत्यु होने पर दुनियाँ का सब कुछ फाँकि ( असार ) हैं—यह बात यथार्थ रूप से ध्यान में रखना चाहिए।

७—वे सर्वघट में ही विराजमान हैं; चाहे वह शठ, कपटी या धार्मिक हो; फिर कोई पट में चित्रित करके भी उनकी साधना करता है।

८—कोई देश-देशान्तर में उनका अनुसन्धान करने को घूमते-घूमते मरते हैं, किन्तु वे योगासन में बैठकर अपने हृदय में अनुसन्धान नहीं करते :—

९—स्थूल-सूक्ष्म जो कुछ देखते हो वह सम्पूर्ण हीं एक है—दो नहीं। सारा जीव-जगत् ही स्वप्नवत् हैं, तुम वृथा परिश्रम कर रहे हो। केवल "सर्वं खलु-इदं ब्रह्म" ही है, नलिनी ( लेखक ) यह स्थिर जानना।

पुष्कर ८।५।१३०९
बङ्गाब्द

# ज्ञानीगुरु

## द्वितीय खण्ड—ज्ञानकाण्ड

## ज्ञान क्या है ?

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।

—गीता, १३।११

आत्मज्ञान-परायणता और तत्वज्ञान के उद्देश्य रूप मोक्ष की जो आलोचना की जाती है, उसीका नाम ज्ञान है एवं उसकी जो अन्यथा प्रतिपत्ति है, उसीका नाम अज्ञान है ।

अनाद्यन्तावभासात्मा परमात्मेह विद्यते ।
इत्येव निश्चयं स्फारं सम्यग् ज्ञानं विदुर्बुधाः ।।

—योगवाशिष्ठ

संसार के प्रत्येक स्थान में अनन्तकाल से परमात्मा वर्तमान हैं, और यह जगत् भी परमात्मा का आभास-रूप है । इस प्रकार के निश्चयात्मक ज्ञान को ही विद्वज्जन सम्यक् ज्ञान के रूप में मानते हैं ।

शास्त्रकारों ने केवल तत्त्वज्ञान को ही ज्ञान शब्द के रूप में उल्लेख किया है । अन्यथा वेद-वेदान्तादि शास्त्रों को पढ़ कर भी जो नाना प्रकार के सांसारिक वद्ध-भावों में अवस्थित हैं और अनेक प्रकार से विद्यार्जन करके भी जो ब्रह्मतत्त्वविद्या उपार्जन करने

में असमर्थ हैं—विज्ञ होकर भी जो अपनी आत्मा के मुक्तिसाधन में मूढ़-व्यक्ति की तरह अपनी स्थिति बनाये रखते हैं, उन्हें शास्त्र-कर्त्ताओं ने सदैव मूढ़ (मूर्ख) के रूप में ही वर्णन करते हैं। "मणिरत्नमाला" नामक ग्रन्थ में शंकराचार्य ने प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा है :—

"बोधो हि को ?—यस्तु विमुक्तिहेतुः।"

अर्थात् ज्ञान क्या है ? वही जो मुक्ति का कारण है।

पशोः पशुः को ? —न करोति धर्मम्।
प्राचीनशास्त्रोऽपि न चात्मबोधः ॥

पशु से भी अधिक पशु कौन है ? जो शास्त्राध्ययन करके भी धर्माचरण और आत्मज्ञान लाभ न करे।

ज्ञान ही मुक्ति का एक मात्र साक्षात् कारण है। भगवान् शिव कहते हैं कि :—

आत्मज्ञानमिदं देवि परं मोक्षैकसाधनम्।
सुकृतैर्मानवो भूत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥
—कुलार्णव तन्त्र

हे देवि, यह आत्मज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र श्रेष्ठ साधन है। इसके सिवाय मोक्ष का दूसरा कोई साधन नहीं है।* क्योंकि सौभाग्य-

---

*क्षितिं बिना यथा नास्ति संस्थितेः कारणं सदा।
तोयं विना यथा नास्ति पिपासा-नाशकारणम् ॥
तमोहन्ता यथा नास्ति भास्करेण विना प्रिये।
विना अग्निप्रयोगेण यथा किञ्चिन्न पच्यते ॥
मातृगर्भं विना कान्ते उत्पत्तिर्न यथा भवेत्।
तत्त्वज्ञानं विना देवि ! तथा मुक्तिर्न जायते ॥
—तन्त्रवचनम्।

वश मनुष्यजन्म लाभ करके जो ज्ञानी होते हैं, वे ही मोक्षसुख लाभ करके कृतज्ञ हो सकेंगे, दूसरे नहीं हो सकते ।

आरुणेनैव बोधेन पूर्वंतस्तिमिरे हृते ।
तत आविर्भवेदात्मा स्वयमेवांशुमानिव ।।
—आत्मबोध

जिस प्रकार सूर्य अपने उदय से पूर्व अपनी किरणों की अरुणता (लाली) के द्वारा अन्धकार को नष्ट करने पर उदित होता है। उसी प्रकार परमात्मा भी पहले ज्ञानच्छटा द्वारा अज्ञानान्धकार को दूर करता है और इसके बाद स्वयं आविर्भूत होता है। मनु कहते हैं :—

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ।
तपसो किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।
—मनुसंहिता, १२।१०४

तपस्या और आत्मज्ञान ये दोनों ही ब्राह्मणों के लिए मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं। इनमें तपस्या द्वारा पापकर्मों की आसक्ति नष्ट होती है और ज्ञान द्वारा मुक्तिलाभ होता है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।
—गीता, ७/ १६–१७

हे अर्जुन ! पूर्वजन्मकृत अपेक्षित पुण्यभेद से चार प्रकार के व्यक्ति मेरी आराधना करते हैं। उनमें प्रथम आर्त, दूसरे जिज्ञासु, तीसरे अर्थार्थी (द्रव्य के इच्छुक) और चौथे ज्ञानी। इन चारों में आत्मज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि आत्मज्ञानसम्पन्न व्यक्ति सदा सर्वदा ईश्वरनिष्ठ होते हैं और एक मात्र परमेश्वर में ही उनकी अचल

भक्ति होती है। अतएव जिस प्रकार आत्म-ज्ञानियों के लिए मैं प्रिय हूँ, उसी प्रकार वे भी मेरे प्रियपात्र हैं।

यहाँ तक जो कुछ लिखा गया है, उससे स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि आत्मतत्त्वज्ञान ही मुख्य है, अन्य सब बातें गौण हैं। आत्मा क्या है और ईश्वर क्या है तथा संसार क्या है? इन मोक्षोपयोगी तीनों प्रश्नों का तत्त्व जिस ज्ञान का विषय है, वही सच्चा ज्ञान है और उसका निर्णय करनेवाले शास्त्र ही ज्ञानशास्त्र हैं।

# ज्ञान के विषय

आत्मा क्या है, ईश्वर क्या है, तथा संसार क्या है?— यह जान लेना ही ज्ञान की चर्चा एवं मोक्ष उसका प्रयोजन है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमें अपने दर्शनशास्त्रों को मनोयोगपूर्वक पढ़ना उचित है। क्योंकि दर्शनशास्त्रों को ही ज्ञानशास्त्र कहते हैं। अर्थात् ज्ञानार्थक दृश् धातु से निष्पन्न "दर्शन" शब्द का साक्षात् अर्थ ज्ञान का प्रवेश द्वार है। अतएव ज्ञानशास्त्र कहने से दर्शनशास्त्र का ही बोध होता है। मूल दर्शनशास्त्र छह प्रचलित हैं। यथा :—

गौतमस्य कणादस्य कपिलस्य पतञ्जलेः।
व्यासस्य जैमिनेश्चापि दर्शनानि षडेव हि ॥

१-गौतम का न्याय, २-कणाद का वैशेषिक, ३-कपिल का सांख्य, ४-पतञ्जलि का योग, ५-व्यास का वेदान्त, ६-और जैमिनि का मीमांसा दर्शन, इस प्रकार इन छह ऋषियों के बनाये हुए विभिन्न विषयों के छह दर्शन ग्रन्थ मूल हैं। इनके अतिरिक्त उन ऋषियों के शिष्यो पशिष्य-विरचित और भी अनेक दर्शन विद्यमान हैं, जो इन्हीं ज्ञान शास्त्रों के अन्तर्गत माने जाते हैं। किन्तु जितने भी प्रकार के दर्शन

शास्त्र माने जाते हैं, उनमें प्रत्येक का मत भिन्न होने पर भी उनके प्रतिपाद्य विषय "मुक्ति" के विषय में कोई विवाद नहीं है। केवल मुक्ति के स्वरूप और उपाय निर्धारण करते समय उन्होंने अपने मत कुछ स्वतन्त्रता से प्रगट किये हैं।

इन षट् दर्शनों में सांख्यदर्शन का प्रभाव इस देश में विशेष है। चिकित्साशास्त्र जिस प्रकार चतुर्व्यूह से संगठित है, उसी प्रकार सांख्यशास्त्र भी चारों व्यूहों के द्वारा व्यवस्थित है। चिकित्साशास्त्र जिस प्रकार रोग, कारण, निदान और उपचार इन चार भागों में विभक्त है, उसी प्रकार सांख्यशास्त्र में भी दुःख, उसका कारण, दुःखनिवृत्ति और उपाय, इस प्रकार चार व्यूह बताये गये हैं। अर्थात् जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र मानव देह के रोग और उससे मुक्त कराने वाला शास्त्र है, उसी प्रकार सांख्यशास्त्र भी मानवात्मा के दुःख और उनकी निवृत्ति के लिए यत्नवान् हैं। क्योंकि :—अज्ञात-ज्ञापकं हि शास्त्रम्।

जो लौकिक प्रमाणों से अगोचर है उसे जानने या उसका ज्ञान कराने का नाम ही शास्त्र है। अतएव दुःख क्या है? और दुःख कहने से वास्तव में ही कुछ है या नहीं? सांख्यकार ने इस विषय का विशेष विचार नहीं किया है।

क्योंकि दुःख है या नहीं, यह शास्त्रविचार द्वारा नहीं जाना जा सकता। दुःख तो सदैव ही मनुष्य के अन्तःकरण में चेतना शक्ति के प्रतिकूल अनुभव के समय उपस्थित हो जाता है। इसके वाद दुःख निवारण का कोई उपाय है या नहीं, इसकी भी सांख्यशास्त्र में पूरी आलोचना नहीं की गयी है। क्योंकि सभी जानते हैं कि जो क्षण मात्र के लिए दूर होता है, वह स्थायी रूप से भी दूर हो सकता है। अत-एव जिसे सभी समझते और सब लोग जानते हैं, उसकी चर्चा करना

सांख्य-शास्त्र का उद्देश्य नहीं है। सांख्यकार जिसे समझाना चाहते हैं, वह दूसरों के लिए अगोचर हैं। जिसका उपदेश मनुष्य को कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकता, उसी को सांख्यशास्त्र ने प्रदान किया है। सांख्य-शास्त्र का उद्देश्य है मनुष्य को दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय बताना। मनुष्य निरंतर दुःख भोगता है किन्तु उसका स्वरूप एवं वासस्थान नहीं जानता है। इसी कारण उसे समझाकर मनुष्य को कृतार्थ करना ही सांख्यशास्त्र का प्र तिपाद्य विषय है। किन्तु यह मानवी ज्ञान के परे का विषय हे। यह ज्ञान लौकिक नहीं—अलौकिक है। साधारण ज्ञान से यह सत्य आविष्कृत नहीं हो सकता।

यथार्थ में सोचा यही जाता है कि दुःख निरोध होने पर ही मनुष्य मुक्त होता है। दुःख निवारण के लिए ही मनुष्य की आकुल-आकांक्षाओं की अस्तव्यस्तता है। एकान्तिक दुःख निरोध का नाम ही मुक्ति है। यह कोई अस्वाभाविक एवं तर्कजाल से घिरी हुई अद्भुत बात नहीं है, वरन् इसका प्राणों से निकट सम्बन्ध है। महात्मा जैमिनि ने भी कहा है कि :—

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

अर्थात् निरवच्छिन्न सुखसम्भोग ही स्वर्ग एवं वही मनुष्य की सुखतृष्णा का विश्राम स्थान है। वही परमपुरुषार्थ एवं वही मुक्ति और अमृत है। यह मोक्ष या स्वर्गसुख ही वेदोक्त यज्ञ-यागादि के द्वारा प्राप्त होता है, किन्तु इसका क्षय अवश्यम्भावी है। परिमित काल पर्यन्त सुखसम्भोग घटित होने के पश्चात् फिर दुःख उपस्थित हो जाता है। अतएव यह सब दुःखनिवृत्तियों के लिए कोई उपाय नहीं है। एक वार रोग से मुक्त होने के बाद फिर उसका उत्पन्न होना सच्चा आरोग्य नहीं कहा जा सकता। सांख्यमतानुसार आत्यन्तिक

दुःख-मोचन या स्वरूपप्रतिष्ठा (मुक्ति) का उपाय तत्त्वज्ञान है। "हम महत्, अहंकार, इन्द्रिय, प्रभृति नहीं हैं, इन सब में हम कुछ भी नहीं हैं। हम इन सब से भिन्न चित् एवं आनन्द स्वरूप हैं।" वही ज्ञान तत्त्वज्ञान है।

इस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए आत्मा और जगत् इन दोनों वस्तुओं का भलीभांति अन्वेषण किया जाता है। आत्मा और प्रकृति (जगद्भावापन्न) इन दोनों के यथार्थ तथ्य का अनुसन्धान करते हुए पुनः पुनः बुद्धि के आरोहण का नाम तत्त्वाभ्यास है। श्रद्धा और भक्ति के सहयोग से दीर्घकाल पर्यन्त तत्त्वाभ्यास करने पर ही तत्त्व-ज्ञान की व्युत्पत्ति होती है।

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए आत्मा और जगत् दोनों का विचार करना आवश्यक होता है। आत्मविषयक आलोचना करने से पूर्व जगत् के सम्बन्ध में आलोचना करना आवश्यक है। क्योंकि जगत् हमारी आँखों के सामने है—जगत् के स्वरूप का विचार करने से आत्मा विषयक विचार करना सुगम हो जाता है। इस संसार के मूलतत्त्व चौबीस हैं। इनके अतिरिक्त आत्मा भी एक तत्त्व है। इस प्रकार से पच्चीस तत्त्व हैं। इनमें चौबीस तत्त्वों की समष्टि का नाम जगत् है। इनकी व्यष्टि मूलप्रकृति, महत्, अहङ्कार, शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र, एकादश इन्द्रिय और क्षिति, अप, तेज, वायु एवं आकाश ये पञ्चमहाभूत आदि नामों से ख्यात है। आत्मा या चैतन्यपुरुष के अतिरिक्त यह सम्पूर्ण जगत् चौबीस तत्त्वों के अन्तर्गत है। आधुनिक विज्ञान इन चौबीस तत्त्वों को मौलिक पदार्थ एवं बौद्धशास्त्र धातु कहते हैं। तत्त्व शब्द का साधारण अर्थ यह है कि जो जिसकी योनि या मूल अवस्था है, वही उसका तत्त्व है। यथा :—घट का तत्त्व मृत्तिका और कुण्डल का तत्त्व स्वर्ण इत्यादि।

अतएव तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए भक्ति और श्रद्धा के सहयोग से दीर्घकाल पर्यन्त दृढ़ता पूर्वक तत्त्वाभ्यास करना चाहिए।

# साधन-चतुष्टय

तत्त्वाभ्यास की धारणा करना भी सहज नहीं है प्रकृत अधिकारी हुए विना तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। आहारशुद्धि, त्रिविध संघातशुद्धि, देशकाल और सत्पात्रादि की प्राप्ति, संकल्पत्याग, इंद्रियसंयम, व्रतचर्या एवं गुरुसेवा प्रभृति से अधिकार की प्राप्ति होती है। इन्द्रियाँ यदि चंचलता त्याग कर स्थिर भाव धारण न करें तो ज्ञान का प्रकाश असम्भव हो जाता है। ज्ञानी व्यक्ति इंद्रियों को संयत करके ब्रह्मपद का आश्रय लेने पर बड़ी सुगमता से सिद्धि प्राप्त कर सकता है। भगवान् भवानीपति कहते हैं कि :—

यावत् कामादि दीप्येत तावत् संसारवासना।
यावदिन्द्रियचापल्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः॥

—कुलार्णवतन्त्र

अतएव जब तक इंद्रियाँ चपल हैं, तब तक तत्त्वज्ञान की सम्भावना नहीं हो सकती। तालाब आदि का जल स्थिर होने पर ही जिस प्रकार उसमें सब प्रकार के प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई देते हैं, उसी प्रकार सभी दुष्टइन्द्रियों के स्थिर हो जाने पर तत्त्वज्ञान द्वारा ज्ञेय-पदार्थ का स्थायीभाव सन्दर्शन किया जा सकता है। हमारे मृत्यु के कर्त्ता (स्वामी) ने स्वयं ही कहा है कि :—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

—कठोपनिषत्

जो दुश्चरित्रता से विरत नहीं हो सके हैं तथा जो शान्ति और समाहित नहीं है तथा जिनका चित्त स्थिर नही हुआ है, वे केवल प्रज्ञा द्वारा इस (आत्मा) को प्राप्त नहीं कर सकते।

इन सब बातों का विवेचन करते हुए शास्त्रकारों ने उपदेश दिया है कि साधन चतुष्टय-सम्पन्न व्यक्ति श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के सहयोग से तत्त्वज्ञान-लाभार्थ ब्रह्मतत्त्व का विचार करें। वे चारों साधन ईस प्रकार हैं :—

(१) नित्यानित्यवस्तुविवेकः । (२) इहामुत्रार्थं फलभोगविरागः । (३) शम-दमादि षट्सम्पत्तिः । (४) मुमुक्षुत्वञ्चेति ।

(१) नित्यानित्यवस्तुविवेकः की व्याख्या इस प्रकार की गयी है :—

नित्यं वस्त्वेकं ब्रह्म तद्व्यतिरिक्तं सर्वमनित्यम्,
अयमेव नित्यानित्यविवेकः ।

एकमात्र परमेश्वर ही नित्य वस्तु है, उससे अतिरिक्त सभी क्षण-भंगुर एवं अनित्य हैं। इसके निश्चयात्मक ज्ञान का नाम ही 'नित्यानित्य विवेक' है।

(२) इहामुत्रार्थफलभोगविराग किसे कहते हैं ?

इहस्वर्गभोगेषु इच्छाराहित्यम् !

ऐहिक विषय-सुख अथवा मृत्यु के पश्चात् स्वर्गसुख दोनों ही प्रकार के सुखभोग के लिए रंचमात्र आस्था या इच्छा न रखने का नाम "ईहामुत्रार्थ फलभोग विराग है'।

(३) शमदमादि षट्सम्पत्ति कौन-कौन सी हैं ?

शमदमोपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधानञ्चेति ।

शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान इन छहों को षट्सम्पत्ति कहते हैं।

शम किसे कहते हैं ?—

"मनोनिग्रहः"—अन्तरिन्द्रिय जो मन है, उसी के निग्रह का नाम शम है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं:—"शमो मन्निष्ठिता बुद्धिः" ईश्वरनिष्ठ बुद्धि का नाम ही शम है।

दम किसे कहते हैं ?—

"दमो नाम चक्षुरादि-बाह्येन्द्रिय-निग्रहः"

चक्षु प्रभृति बाह्येन्द्रियों के दमन का नाम ही दम है।

उपरति किसे कहते हैं ?—

"उपरतिर्नाम विहितानां कर्मणां विधिना त्यागः।"

विहित कर्म समूह का संन्यास-विधान द्वारा जो परित्याग किया जाता है, उसी का नाम उपरति है। अथवा शब्दादि-विषय श्रवणादि में वर्तमान (तत्पर) मन का प्रत्याहार-पूर्वक ब्रह्मविषय श्रवणादि में तत्पर होना ही उपरति कहलाता है। यथा:—

'श्रवणादिषु वर्तमानस्य मनसः श्रवणादिष्वेव वर्तनं वोपरतिः।'

तितिक्षा किसे कहते हैं ?—

"तितिक्षा नाम शीतोष्ण-सुखदुःखादिद्वन्द्वसहनं, देह विच्छेद-व्यतिरिक्तम्।"

जिससे शरीर विच्छेद न हो अर्थात् जिसमें मृत्यु न हो इस प्रकार जो शीतोष्णसुखदुःखादि परस्पर विपरीत विषयों को सहन किया जाता है, उसी का नाम तितिक्षा है।

श्रद्धा किस प्रकार की होती है ?—

"गुरु-वेदान्त वाक्येषु विश्वासः।"

गुरु और वेदान्तशास्त्रों के वाक्यों में विश्वास करने का नाम श्रद्धा है।

समाधान किसे कहते हैं ?—

चित्तैकाग्रता—परमेश्वर में मन की एकाग्रता का नाम समाधान है। यही शमादि षट् सम्पत्तियाँ हैं।

(४) मुमुक्षु किसे कहते हैं ?

"मुमुक्षुत्वं नाम मोक्षेऽतितीव्रेच्छावत्त्वम् ।"

मोक्ष के विषय में अति तीव्र इच्छावान् होने का नाम ही मुमुक्षुत्व है।

एषा साधन चतुष्टय-सम्पत्तिः तद्वान् साधन-चतुष्टय सम्पन्नः ।

यही चारों साधनचतुष्टय सम्पत्ति हैं और इनसे सम्पन्न व्यक्ति ही साधन चतुष्टय सम्पन्न कहलाता है। ऐसे साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति ही आत्म-अनात्म-विवेक-विचार प्रशस्तता से कर सकते हैं। किन्तु ऐसे व्यक्ति के अभाव में यदि अन्य कोई व्यक्ति आत्म-अनात्म विचार करे तो उसमें उसे कोई प्रत्यवाय नहीं हो सकता, वरन् इससे उसके हित की ही सम्भावना है।*

# श्रवण-मनन-निदिध्यासन

साधनचतुष्टयसम्पन्न व्यक्ति श्रवण, मनन और निदिध्यासन के सहयोग से आत्मानात्मविवेक-विचार करता है। अतएव साधक को श्रवण, मनन, और निदिध्यासन का जानना आवश्यक है।

---

*साधन-चतुष्टयसम्पत्त्यभावेऽपि, गृहस्थानामात्मानात्मविचारे क्रियमाणे सति तेन प्रत्यवायो नास्ति; किन्त्वतीव श्रेयो भवति ।

(क) श्रवण

**षड्विधलिङ्गैरशेष-वेदान्तानामद्वितीयवस्तुनि तात्पर्यावधारणम् ।**

—वेदान्तसार, १४

षट् प्रकार लिङ्ग-द्वारा अद्वितीय वस्तु में—अथवा ब्रह्म में समस्त वेदान्त के तात्पर्य का अवधारण करने का नाम श्रवण है ।

षट् प्रकार लिंग इस प्रकार हैं :—

(१) उपक्रमोपसंहार (२) अभ्यास (३) अपूर्वता (४) फल (५) अर्थवाद (६) उपपत्ति ।

**उपक्रमोपसंहार**—प्रतिपाद्य वस्तु के आदि और अन्त में उसी वस्तु के प्रतिपादन करने का नाम ही उपक्रमोसंहार कहते हैं ।

**अभ्यास**—जो वस्तु जिस प्रकरण में प्रतिपादित होता है, उसी प्रकरण में उस वस्तु का पुनः-पुनः प्रतिपादन करना ही अभ्यास है ।

**अपूर्वता**—प्रतिपाद्य वस्तु को प्रमाण के अतिरिक्त प्रमाण के अविषय रूप में उस वस्तु को प्रतिपादन करने का नाम ही अपूर्वता है ।

**फल**—प्रतिपाद्य वस्तु के प्रयोजन को सुनाना ही फल है ।

**अर्थवाद**—प्रतिपाद्य वस्तु की प्रशंसा सुनने का नाम अर्थवाद है ।

**उपपत्ति**—प्रतिपाद्य विषय के प्रतिपादन की युक्ति का नाम उपपत्ति है ।

इन छहप्रकार लिङ्गों के द्वारा एक मात्र अद्वितीय ब्रह्म के ही तात्पर्य-निरूपण करने का नाम श्रवण है।

### मनन

वेदान्त की अविरोधयुक्तिओं के द्वारा वंदा सुनी जाने वाली अद्वितीय ब्रह्म वस्तु के चिन्तन का ही नाम मनन है।

### निदिध्यासन

तत्त्वज्ञानविरोधी देहादि जड़ पदार्थों के ज्ञान-परिहार-पूर्वक अद्वितीय ब्रह्मवस्तु के अविरोधी ज्ञानप्रवाह को निदिध्यासन कहते हैं।

साधनचतुष्टय सम्पन्न तत्त्वज्ञान के साधक श्रवण-मनन-निदिध्यासन के सहयोग से चिन्तन करेगा कि—"मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध हूँ और प्रकृति मेरी दासी है। मेरी ही सेवा के लिए उसका समस्त आयोजन है। मैं ज्ञान-स्वरूप, प्राण-स्वरूप एवं अस्तित्व-स्वरूप हूँ। अतएव मुझ पर प्रकृति प्रतिबिम्बित होकर अपने गुण (सत्त्व-रज-तम) का केवल विकास करती है। तब सुखदुःखादि गुण के धर्म होने से मेरी क्या हानि हो सकती है?"

# दुःख का कारण और मुक्ति का उपाय

ज्ञान के द्वारा समय-समय पर यही उपलब्ध किया जा सकता है, यह सब मिथ्या ही है। ब्रह्म ही सब, भेद कल्पना मूढ़ता मात्र है। इस ज्ञान को स्थायी करने के लिए ज्ञान-साधना की आवश्यकता

होती है। सांख्यकार ने दुःख को 'हेय' शब्द से अभिहित किया है। यथा :—

त्रिविधं दुःखं हेयम्—सांख्यदर्शनम्

त्रिविध दुःखों का नाम 'हेय' है। किन्तु वे त्रिविध दुःख क्या हैं?—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। ये तीनों प्रकार के दुःख ही 'हेय' हैं।

प्रकृति पुरुषसंयोगेन चाविवेको हेयहेतुः।
—सांख्यदर्शन

प्रकृति और पुरुष के संयोग से जिस अविवेक का जन्म होता हैं, वही 'हेय' (तुच्छता) का हेतु (कारण) है। किन्तु संयोग किसे कहते हैं?

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः।

दृश्य और द्रष्टा के भोग्यत्व एवं भोक्तृत्वरूप में उपलब्धि का नाम संयोग है। आत्मा प्रकृति के साथ संयुक्त होकर उस संयोग-वश द्रष्टृत्व और दृश्यत्व दोनों ही शक्तियाँ प्रकाशित होती हैं और इसी कारण इस जगत् का प्रपंच विभिन्न प्रकार से व्यक्त होता है। इस संयोग का कारण एकमात्र अज्ञान है। जीव में जन्म-जन्मान्तर के अविद्यासम्भूत भ्रमज्ञान के संस्कार विद्यमान होते हैं। यह सूक्ष्म संस्कार-ज्ञान परमाणुजात जगत् में गन्धादि मनोहर विषयों को नाना रूपों में प्रगट करता है। उसके साथ मन प्रभृति इन्द्रियों का संयोग होने से सुखदुःख अनुभव होता है और इसी से सुख की तृष्णा उत्पन्न होती है। सुख-तृष्णा से प्रयत्न करने की इच्छा उत्पन्न होती है। और मानसिक एवं शारीरिक प्रयत्न से कर्म-फल की उत्पत्ति होती है। कर्मफल से जीव का जन्म होता है, अतएव जन्म ही दुःख का

कारण है। यह दुःख प्रकृति-पुरुष के संयोग से उत्पन्न होता है और अज्ञान ही इसका हेतु (कारण) है।

**तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ।**

इस ज्ञान का अभाव होने से पुरुष-प्रकृति का संयोग नष्ट हो जाता है। साधना द्वारा इस संयोग का नाश करना ही आवश्यक है और यही आत्मा की कैवल्य-पद में अवस्थिति है।

**तदत्यन्तनिवृत्तिर्हानम्**—सांख्यदर्शन।

दुःखत्रय की अत्यन्त निवृत्ति को 'हान' अर्थात् मुक्ति कहते हैं। उस आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति का उपाय क्या है?

**विवेकख्यातिस्तु हानोपायः**—सांख्यदर्शन।

विवेकख्याति ही हानोपाय है। अर्थात् विवेक ही मुक्ति का उपाय है। क्योंकि प्रकृति-पुरुष के संयोग से दुःख की उत्पत्ति होती है और प्रकृति-पुरुष का वियोग होने से दुःख की निवृत्ति होती है। प्रकृति-पुरुष का वियोग अथवा पार्थक्य विवेक द्वारा सम्पन्न होता है और उस विवेक द्वारा ही दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होकर मोक्षपद प्राप्त होता है। इसलिए ऐसे कार्यों का अनुष्ठान करना आवश्यक है, जिनके द्वारा पुरुष के हृदय में विवेक उत्पन्न हो।

**न प्रमादादनर्थोऽन्यो ज्ञानिनः स्व-स्वरूपतः।**
**ततो मोहस्ततोऽहंधीस्ततो बन्धस्ततो व्यथा ॥**

—विवेकचूड़ामणि, ३२४

साधक की स्वकीय ब्रह्मभाव में अनवधानता से बढ़कर अनिष्ट-कारी वस्तु और कोई नहीं हो सकती। क्योंकि अनवधानता मोह मोह से अहं-बुद्धि अहं-बुद्धि से बन्धन एवं बन्धन से दुःख की उत्पत्ति होती है।

अतएव साधक सावधानी के साथ तत्त्व-विचार करे। सम्यक् तत्त्वदर्शन से आवरण की निवृत्ति होती है, एवं आवरण की निवृत्ति से भ्रमज्ञान का नाश होता है और मिथ्याज्ञान नाश होने से विक्षेप जनित दुःख की निवृत्ति होती है।

एतत्त्रितयं दृष्टं सम्यग् रज्जुस्वरूपविज्ञानात्।
तस्माद्वस्तुतत्त्वं ज्ञातव्यं बन्धमुक्तये विदुषा ॥
—विवेकचूड़ामणि; ३५०

रज्जुस्वरूप-ज्ञान से आवरण, विक्षेप एवं मिथ्याज्ञान इन तीनों का सम्यक् रूप से दृष्टिगोचर होता है। अतएव विद्वान् बन्धन से मुक्त होने के लिए प्रकृति के सहित पुरुष से अवगत होता है।

वाहर, अन्तर और वौद्ध जगत् जय करके ब्रह्मभाव परिस्फुट करना ही ज्ञानयोग का परम उद्देश्य है और यही धर्म की पूर्णता है। महर्षि वशिष्ठ देव ने ज्ञान की सात प्रकार की अवस्थायें वर्णन की हैं। पूर्णज्ञान तक पहुँचने के लिए सात सोपान हैं। उन सात प्रकार की अवस्थाओं को भूमिका कहते हैं। यथा :—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया स्यात् तृतीया तनुमानसा ॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका।
परार्थभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगास्मृता ॥
—योगवाशिष्ठ

प्रथमा शुभेच्छा, द्वितीया विचारणा, तृतीया तनुमानसा, चतुर्थी सत्त्वापत्ति, पंचमी, असंसक्ति, षष्ठी परार्थ-भाविनी एवं सप्तमी तुर्यगा-भूमिका कहलाती है। इन सातों के एक दूसरे से आबद्ध होने पर ज्ञान के एक एक स्तर की प्राप्ति होती है।

**शुभेच्छा**—शम-दमादि साधनपूर्वक विवेक और वैराग्य उपस्थित होने पर मुक्तिलाभ की कामना उत्पन्न करने का नाम शुभेच्छा है। इस स्तर में पहुँचने पर ज्ञानलाभ करने का अनुभव होता है।

**विचारणा**—श्रवण-मननादि द्वारा विचारशक्ति उत्पन्न होने का नाम ही विचारणा है। इस स्तर में पहुँचने पर ज्ञात होने लगता है कि जो कुछ जानना था, उसे हमने जान लिया है, अब आगे जानने का कोई प्रयोजन नहीं रहा है, इसी कारण मन में अब किसी प्रकार के असन्तोष का कारण नहीं रह सकता।

**तनुमानसा**—विषयवासना परित्याग करके निदिध्यासन द्वारा सत्स्वरूप में अवस्थित होने का नाम ही तनुमानसा है। इस स्तर में पहुँच जाने पर यह प्रतीत होता है कि जो कुछ सत्य है वह बाहर नहीं है, अब तक दूसरों के पास सत्य का अनुसन्धान करने के लिए भटकता रहा, यह व्यर्थ था। सत्य तो मेरे अन्दर ही है। उस समय साधक अवश्य ही सत्य लाभ करके कृतार्थ हो जाता है।

**असंसक्ति**—"मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकार अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होने की असंसक्ति कहते हैं। इस भूमिका में उपस्थित होने पर साधक सर्वज्ञ हो जाता है।

**सत्त्वापत्ति**--किसी विषय में वासना न रहना अर्थात् सभी विषयों में अनासक्ति हो जाने का नाम सत्त्वापत्ति है। इस स्तर में चित्त-विमुक्ति अवस्था उत्पन्न हो जाती है। उस समय चित्त को अन्य दिशाओं में भटकने का स्वभाव नहीं रहता।

**परार्थ-भाविनी**—केवल परब्रह्म में चित्त को लय करना अर्थात् परब्रह्म के अतिरिक्त भावना न होने का नाम परार्थभाविनी भूमिका है। इस स्तर में साधक का चित्त स्व-कारण में लीन हो जाता है।

**तुर्यगा**—स्वतः किम्वा परतः किसी भी रूप में चित्त में चंचलता उत्पन्न न होने का नाम ही तुर्यगा है। इस अन्तिम स्तर में साधक पूर्ण ज्ञानावस्था में पहुँचता है । इस अवस्था में पहुँचने पर साधक शान्त, सदानन्द, और जीवन्मुक्त हो जाता है ।

महर्षि वशिष्ठ देव का कहा हुआ साधकों का अवस्था भेद इन सात प्रकार की ज्ञान भूमियों में प्रदर्शित किया गया है । अर्थात् जिस प्रकार के साधन करने से जिस परिमाण में ज्ञान प्रस्फुटित होता है वह दिखलाया गया है । योगशास्त्र के मतानुसार जो अष्टांग योग-साधन हैं तथा वेदान्त के मतानुसार जो साधनचतुष्टय हैं एवं दर्शन-शास्त्र के मतानुसार श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तन्त्र शास्त्र के मतानुसार जो तत्त्वसाधन है—वे सभीज्ञान इन सात प्रकार के ज्ञान-प्रस्फुरण होने के लिए हेतु (कारण) स्वरूप हैं । इस प्रकार ज्ञान का विकास होने से फिर किसी भी विषय का अज्ञान नहीं रह जाता अर्थात् सभी विषयों का सम्यक् ज्ञान उत्पन्न हो जाता है । सम्यक् ज्ञान का ही दूसरा नाम ब्रह्मज्ञान है । ब्रह्मज्ञान हो जाने पर कोई भी बात अविदित नहीं रह जाती । इसी कारण इसका नाम सम्यक् अर्थात् समग्रज्ञान है । इस समग्र, सम्यक् या ब्रह्मज्ञान का मूलाधार है योग । अर्थात् योग द्वारा ही यह सम्पादित होता है । अन्य किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता क्योंकि शास्त्रों में कहा है कि :—

योगात् संजायते ज्ञानं योगो मटचेकचित्तता ।

—आदित्यपुराण

योगाभ्यास द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है एवं योग द्वारा ही मुझ में चित्त की एकाग्रता उत्पन्न होती है । योगी पुरुष का इस प्रकार का ज्ञान का प्रकृत ज्ञानपदवाच्य है; नामान्तर से अनेक व्यक्ति इसको आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान या तत्त्वज्ञान कहते हैं । इस ज्ञान का उदय होने पर ही मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

# तत्त्वज्ञान-विभाग

साधना के अनुसार ज्ञान की सात प्रकार की अवस्थायें होने पर भी प्रकृत ज्ञान के विभाग चार ही प्रकार के वताये गये हैं। यथा—आत्मज्ञान, प्रकृतिज्ञान, पुरुषज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान—इन चारों प्रकार के ज्ञान को सामूहिक रूप में तत्त्वज्ञान कहते हैं। आत्मज्ञान द्वारा आत्म-तत्त्व, प्रकृतिज्ञान द्वारा प्रकृतितत्त्व अथवा विद्यातत्त्व, पुरुषज्ञान द्वारा परमात्मतत्त्व अथवा शिवतत्त्व एवं ब्रह्मज्ञान द्वारा ब्रह्मतत्त्व की अवधारणा (स्थिरीकरण) होती है। यथार्थ रूप में ज्ञान, ज्ञान के विषय और ज्ञानी इन तीनों को जो एक कहकर निश्चय कर सकता है, वही यथार्थ ज्ञानी एवं उसी को आत्मवित् कह सकते हैं। यथा :—

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं भातिमायया।
विचार्यमाणे त्रितये आत्मैवैकोऽवशिष्यते॥
ज्ञानमात्मैव चिद्रूपो ज्ञेयमात्मैव चिन्मयः।
विज्ञाता स्वयमेवात्मा यो जानाति स आत्मवित्॥

महानिर्वाणतन्त्र १४ उ०, १३८

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ये तीनों केवल माया द्वारा पृथक् रूप से प्रतिभात होते हैं। किन्तु इन तीनों के तत्त्व का विचार करने से केवल आत्मा ही अवशिष्ट रह जाती है; और कुछ शेष नहीं रहता। क्योंकि चिन्मय आत्मा ही ज्ञान एवं वही ज्ञेय तथा स्वयं वही ज्ञाता; जिसे यह वात विदित हो जाती है, वही आत्मवित् आत्मज्ञानी है। क्योंकि :—

ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चन।
ज्ञान-स्वरूप एवात्मा नित्यः पूर्णः सदाशिवः॥

—विज्ञानभिक्षु

ज्ञान आत्मा का गुण या धर्म नहीं है। आत्मा स्वयं ज्ञानरूपी, नित्य एवं पूर्ण मंगलमय है।

# आत्म-तत्त्व

सर्व प्रथम 'आत्मतत्व' अवधारण (निश्चय) करना उचित है।

शुक्रशोणितयोर्योगे पञ्चभूतात्मिका तनुः।
पाताल-स्वर्गपर्यन्तमात्मतत्त्वं तदुच्यते ॥
—तन्त्रवचन

शुक्र (वीर्य) और शोणित (रज) के संयोग से उत्पन्न इस पञ्चभूतात्मक स्थूलदेह, उस के पाताल से लेकर स्वर्ग पर्यन्त अर्थात् आपाद-मस्तक को "आत्म-तत्त्व" कहते हैं।

अब देखना चाहिए कि पञ्चभूतात्मक स्थूलदेह किसे कहते हैं?

रसादिपञ्चीकृतभूतसम्भवं भोगालयं दुःख-सुखादिकर्मणाम्।
शरीरमाद्यन्तवदादिकर्मजं मायामयं स्थूलमुपाधिमात्मनः ॥

जो पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश ये सभी पञ्चीकृत पञ्च-भूतात्मक है। जो सुख-दुःखादि का कारण-स्वरूप होने से कर्मभोग का आलय है तथा जो उत्पत्ति और नाशयुक्त है; जो प्रारब्धकर्म से उत्पन्न हुआ है और जो माया का विकार स्वरूप है, उसी अन्नमय शरीर को स्थूलशरीर कहते हैं।

इस स्थूलदेह के पदतल से लेकर मस्तक पर्यन्त चतुर्दश भुवन अर्थात् सप्तपाताल, और सप्तस्वर्ग कहलाते हैं। इन सप्तस्वर्ग और सप्तपातालयुक्त चतुर्दश भुवनमय स्थूलदेह के, जो कि पञ्चभूतात्मक,

जन्म-मृत्यु एवं कौमार यौवनादि विकार युक्त है एवं जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति-रूप अवस्था सम्पन्न एवं प्रारब्धकर्म और सुख-दुःखादि भोग का आलय है, उसके इन सब तत्त्वों से यथार्थरूप में अवगत होने का नाम आत्मतत्त्व है एवं तत्त्व का स्वरूप अनुभव करने के लिए जो षट्-चक्र ज्ञान है, वही आत्मतत्त्वज्ञान कहलाता है।

साधना के बिना माया-विमोहित जीव को यह आत्मज्ञान सुगमता से नहीं हो सकता। अतएव यम-नियमादि साधना के अनन्तर प्राणायाम-द्वारा षट्चक्र भेद करके शम-दमादि साधना करने से यह (आत्म-ज्ञान) प्रस्फुटित होता है। आत्मज्ञान के बीज सारे देह में निहित (छिपे हुए) हैं। किन्तु उनकी साधना या अभ्यास न करने से प्रस्फुटित, वर्धित और प्रकाशित होना असम्भव है। इसीलिए साधना की आवश्यकता होती है और इसीसे आत्मज्ञान होता है।

# प्रकृति या विद्यातत्त्व

ज्ञान के द्वितीय विभाग प्रकृति या विद्यातत्त्व का स्वरूप कैसा है?

मूलाधारे च या शक्तिर्गुरुवक्त्रेण लभ्यते।
सा शक्तिर्मोक्षदा नित्या विद्यातत्त्वं यदुच्यते॥

—तन्त्रवचन

इस स्थूलशरीर के भीतर आधारकमल में जो शक्तिरूपा प्रकृति अधिष्ठान करती है, उसीके तत्त्व की शिक्षा गुरुमुख से लेनी चाहिए। यह शक्तिरूपा प्रकृति देवी ही मुक्ति-दात्री है, अर्थात् उसका तत्त्व अवगत होने से ही मुक्ति लाभ हो सकता है। इसी कारण इस

शक्तितत्त्व को विद्यातत्त्व कहते हैं। विद्या का अर्थ है ज्ञान; अर्थात् ज्ञानोदय होने पर अविद्या या अज्ञान का नाश अवश्यम्भावी हैं और अज्ञान के नष्ट हो जाने पर मुक्ति लाभ होता ही है। अतः अब हमें यह देखना चाहिए कि वह 'विद्यातत्त्व' किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ?

जिस प्रकार आत्मतत्त्व कहने से पञ्च स्थूलभूतयुक्त इस स्थूल-देह का सम्बन्ध अवगत होता है उसी प्रकार विद्यातत्त्व कहने से सूक्ष्मदेह के साथ शक्ति का क्या सम्बन्ध है, वह भी जाना जा सकता है। अब सूक्ष्मशरीर की व्याख्या सुनिये :—

सूक्ष्मं मनो-बुद्धि-दशेन्द्रियैर्युतम् प्राणैरपञ्चीकृतभूतसंभवम् ।
भोक्तुः सुखादेरपि साधनं भवत् शरीरमन्यद्विदुरात्मनो बुधाः ॥
—रामगीता, २९

मन, बुद्धि, दशेन्द्रिय एवं पञ्चप्राण, इस प्रकार सप्तदशावयवयुक्त अपञ्चीकृत आकाशादि पञ्चभूतों से उत्पन्न, स्थूलशरीर में भिन्न एवं सुख-दुःख भोग करने के लिए साधनरूप जो देह है, उसी को सूक्ष्म-शरीर कहते हैं। "तल्लिङ्गमुच्यते" उसी को लिङ्गशरीर भी कहते हैं। वेदान्तशास्त्र के मतानुसार उसका नाम हैं "हृद्देशे अङ्गुष्ठमात्र पुरुषः"।

मूलाधारस्थिता शक्ति ही जीव का जीवत्व है, और यही शक्ति स्थूल एवं सूक्ष्मशरीर की उत्पादिका होने से ब्रह्मशक्ति भी कहलाती हैं। यह कुल-कुण्डलिनी के रूप में सब जीवों में अधिष्ठान करती हुई सत्त्व, रजः और तमोगुण के भेद से इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति के रूप में प्रकाशित होती है। यही महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व के रूप में ज्ञानशक्ति, अहंतत्त्व के रूप में इच्छाशक्ति और एकादश इन्द्रिय-तत्त्व के रूप में क्रियाशक्ति बनकर प्रकाशित होती है। विद्या

के रूप में यह विशुद्ध-ज्ञान-प्रकाशिका भुक्तिदात्री महामाया, ईश्वर-प्रसविनीकुण्डलिनी शक्ति और अविद्या के रूप अज्ञान प्रकाशिका संसारासक्तिकारिणी जगत् की प्रसविनी आवरणशक्ति एवं विक्षेप-शक्ति के नाम से कही जाती है।

इच्छाशक्ति :—मूलप्रकृतिदेवी इच्छाशक्ति के रूप में वैष्णवी बनकर सत्त्वगुण का अवलम्बन करती हुई परमात्मा-चैतन्य को विष्णु संज्ञा देकर लक्ष्मी-नारायण के रूप में लिङ्गमूल या अधिष्ठान चक्र अथवा भुवलोक या वैकुण्ठ में उपस्थित होकर क्रिया-शक्ति प्रसूत ब्रह्माण्ड का पालन करती है। यथा :—

ब्रह्मार निवास हते ऊद्र्ध्वे सेई स्थान।
अति भयानक पद्म षड्दल नाम॥
पद्म-मध्ये बीज-कोष भुवर्लोक नाम।
परम आश्चर्य स्थान अतिगुण धाम॥
पद्मोपरि वामे लक्ष्मी, दक्षे सरस्वती।
उभयेर मध्ये विष्णु अतिशान्त मयि॥
ब्रह्मार जनित सृष्टि चराचर यत।
पालन करेन विष्णु श्रीवाणी सहित॥

—शक्ति-भक्ति तरङ्गिणी

अर्थात् ब्रह्मा के निवास से ऊपर वह अति भयानक स्थान है, जिसे षड्दल-पद्म कहते हैं। उस कमल के मध्यवर्ती बीजकोष का नाम भुवर्लोक है, जो परम आश्चर्यमय एवं अनेक गुणों का धाम है। उस कमल पर बाईं ओर लक्ष्मी तथा दाहिनी ओर सरस्वती तथा इन दोनों के मध्य में अत्यन्त शान्तरूप में विष्णु विराजते हैं, जो ब्रह्मा की उत्पन्न की हुई समस्त चराचर सृष्टि का श्री-वाणी (लक्ष्मी-सरस्वती) सहित पालन करते हैं।

क्रियाशक्ति :—प्रकृतिदेवी क्रियाशक्ति के रूप में ब्राह्मी बनकर रजोगुण का अवलम्बन करती हुई परमात्मा चैतन्य को ब्रह्मा की संज्ञा देकर ब्रह्मा—सावित्री के रूप में मूलाधार-चक्र, भूलोक में अवस्थित होती और क्रियाशक्ति द्वारा पृथ्वीरूप भूमण्डल की सृष्टि करती है। यथा :—

वेदमाता सावित्री लइया वामभागे।
बालकेर न्याय ब्रह्मा सृष्टि अनुरागे॥
सावित्रीर साधन करिया विधि-मते।
करेन प्रजार सृष्टि शक्तिर वरेते॥
पृथिवी मन्डल एइ भूलोक नामेते।
वसति करेन ब्रह्मा सावित्री सहिते॥

—शक्ति-भक्ति-तरंगिणी

(अर्थात्) वेद माता सावित्री को वामभाग में लेकर बालक की तरह ब्रह्मा सृष्टि के साथ अनुराग (प्रेम) करते हैं और सावित्री का विधिवत् साधना करके वे शक्ति के 'वर' (वरदान) से प्रजा की सृष्टि करते हैं। इस पृथ्वी मण्डल में जो कि भूलोक कहलाता है, वहाँ सावित्री सहित ब्रह्मा निवास करते हैं।

ज्ञानशक्ति :—फिर वही प्रकृतिदेवी ज्ञानशक्ति के रूप में गौरी बन कर तमोगुण का अवलम्बन करती हुई परमात्म-चैतन्य को हर या महेश की संज्ञा देकर हर-गौरी के रूप में मणिपुर चक्र में रुद्रमूर्ति धारण करती है और स्वर्गलोक में अवस्थित होकर ज्ञानशक्ति द्वारा संसार-मोचन करती है। यथा :—

बैकुण्ठेर ऊर्ध्वदेशे पद्म मनोहर।
दशपत्र नील वर्ण अग्निर आकार॥
भद्रकाली महाविद्या रुद्रेर वामेते।
संहार करेन सृष्ठि एकई ग्रासे ते।

ब्रह्मार सृजन कर्म, विष्णुर पालन ।
संहार करेन महारुद्र त्रिलोचन ।।
पालन करेन विष्णु यत चराचर ।
भोजन करिया काली करेन संहार ।।
—शक्ति-भक्ति-तरंगिणी ।

वैकुण्ड से ऊपर मनोहर पद्म 'कमल' है, जो दशपत्तों वाला नीले रंग और अग्नि के आकार का है। उसमें भद्रकाली महाविद्या रुद्र के वाम भाग में विराजकर एक ही ग्रास में सृष्टि का संहार कर डालती है। ब्रह्मा का कार्य सृष्टि रचना, विष्णु का उसे पालन करना तथा महारुद्र त्रिलोचन का कार्य उसका संहार कर देना है। अर्थात् विष्णु यावन्मात्र चराचर का पालन करते हैं और काली उनका भोजन करके संहार कर डालती हैं।

इस प्रकार सृष्टि, स्थिति, प्रलय, सम्भूतस्थूल-सूक्ष्मदेह के जितने भी तत्त्व हैं उन सबका विशदरूप से ज्ञान होने को ही विद्या तत्त्व कहते हैं और इसी ज्ञान को विद्यातत्त्व ज्ञान कहते हैं। प्रत्याहार और धारणा साधना द्वारा ही यह विद्या-तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो सकता है। अन्य मतों में इन तीनों शक्तियों की केवल एक प्रकृति और एक पुरुष के रूप व्याख्या की गई है। यथा :—

ज्ञानशक्तिर्भवानीश इच्छाशक्तिरुमा स्थिता ।
क्रियाशक्तिरिदं विश्वमस्य त्वं कारणं ततः ।।
—काशीखण्ड

परमात्मा स्वयं ज्ञानशक्ति का आश्रय लेकर ईश्वर रूप में प्रकाशित होता है। यही पुरुष एवं इच्छाशक्ति का आश्रय लेकर अकार, उकार और मकार, इन त्रिवर्णात्मक (ॐकार) उमा नाम्नी प्रकृति के रूप में प्रकाशित होता है। इसके बाद यही पुरुष और प्रकृति अर्थात् शिव और शक्ति दोनों ही क्रिया

# पुरुष या शिवतत्त्व

ज्ञान के तृतीय विभाग 'शिव-तत्त्व' की आलोचना इस प्रकार है :—

सहस्रारस्य मध्यस्थे, सहस्रदलपङ्कजे ।
तन्मध्ये निवसेद्यस्तु शिवतत्त्वं तदुच्यते ॥

—तन्त्रवचन

शिर:स्थित सहस्रदल कमल में जो परमात्मा अवस्थित है, वही परम शिव है। उनका विषय उत्तम प्रकार से ज्ञात होने का नाम शिवतत्त्व है।

सहस्रारस्थित परमशिव ही परमात्मा है और आत्मा ही पुरुष या ईश्वर पदवाच्य है। यही सब जीवों के देह में अवस्थान करके माया को वशीभूत करता हुआ, ईश्वर के नाम से अभिहित होता है और अविद्य के वश होकर जीव शब्द से परिचित होता है। यह परमात्मा-चैतन्य ही माया और अविद्या में प्रतिविम्बित होकर ईश्वर और जीवसंज्ञा प्राप्ति के लिए कारणीभूत होने से कारणशरीर के नाम से कथित होता है। अब कारणशरीर की व्याख्या सुनिये :—

अनाद्यनिर्वाच्यमपीह कारणं,
माया-प्रधानन्तु परं शरीरकम् ।
उपाधिभेदात्तु यतः पृथक् स्थितं,
स्वात्मानमात्मन्यवधारयेत् क्रमात् ॥

—रामगीता, ३०

यह कारणशरीर आदिरहित, अनिर्वाच्य, मायाप्रधान, स्थूल और सूक्ष्मशरीर से भिन्न जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का कारण होने से ज्ञानी लोग इसे कारणशरीर कहकर निर्देश करते हैं।

यद्यपि वे अविद्या को भी कारणशरीर ही कहते हैं। किन्तु चैतन्य के संयोग के विना कोई भी शरीर स्थायी नहीं हो सकता, इसलिये तन्त्रशास्त्र के मतानुसार शिव-तत्त्व ही कारणशरीर है। योग के सप्तम अङ्गरूप ध्यान के द्वारा इस कारणशरीर का अनुभव हो सकता है, अर्थात् साधक, ध्यान-निमीलित नेत्रों द्वारा आत्मसाक्षात्कार लाभ करता है, अर्थात् फिर उसके लिए 'अस्मित्व' के विषय में कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता।

# ब्रह्मतत्त्व

विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व का एकत्र सम्मिलन ही ब्रह्मतत्त्व है। यथा :--

मूलाधारे वसेत् शक्तिः सहस्रारे सदाशिवः।
तयोरैक्ये महेशानि ब्रह्मतत्त्वं तदुच्यते॥

--तन्त्रवचन

मूलाधार-कमल में स्थित कुण्डलिनीशक्ति के साथ में सहस्रारस्थित परमशिव का जो सम्मिलन है, वही ब्रह्मतत्त्व है।

प्रकृति को स्वतन्त्र रखकर केवल पुरुषपक्ष का अवलम्बन करने से कभी ब्रह्मज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि प्रकृति और पुरुष के एकीभाव का नाम ही ब्रह्म है। यथा :--

शिवः प्रधानः पुरुषः शक्तिश्च परमा शिवा।
शिवशक्त्यात्मकं ब्रह्म योगिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

--भगवतीगीता ४।११

शिव ही परम पुरुष एवं शक्ति ही परमा प्रकृति है; तत्त्वदर्शी योगीगण प्रकृति और पुरुष की एकता को ब्रह्म मानते हैं। क्योंकि :—

त्वमेको द्वित्वमापन्नः शिव-शक्तिप्रभेदतः ।

—काशीखण्ड

वही अद्वितीय परमात्मा शिव और शक्ति के भेद से द्वित्व भावापन्न हो गया है। बाह्यजगत् के अणु-परमाणु में जो महती शक्ति निहित है, उसी का नाम प्रकृति एवं बाह्यजगत् में जो चैतन्य-स्फूर्ति स्वयं प्रकाशित हो रही है, उसी का नाम शिव या पुरुष है। इस चैतन्य एवं महतीशक्ति को सम्मिलित कर जब एक आसन पर दोनों को एकत्र अनुभव किया जाता है अथवा दोनों को एक ही में अलग-अलग भी देखा जाता है, या दोनों ही अदृश्य होने पर भी बोधगम्य हो सकते हैं, तभी ब्रह्म को पहचाना जा सकता है।

समाधि योग के बिना ब्रह्म का स्वरूप नहीं जाना जा सकता। समाधिस्थ योगी को छोड़कर अन्य किसी को भी ब्रह्म का स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकता और न ब्रह्मज्ञान ही उत्पन्न हो सकता है। यथा :—

आत्मानं परमं वेत्ति योगयुक्तं समाधिना ।
युक्ताहारविहारश्च युक्तचेष्टश्च कर्मसु ।।

—गोरक्षसंहिता, ३।३४

परिमित आहार-विहार-सम्पन्न और नित्य-नैमित्तिक समस्त कर्मों में तत्पर रहनेवाले योगिजन ही समाधि-योग द्वारा उस परमात्मा को जान सकते हैं। परमात्मा अर्थात् ब्रह्म समाधि-गम्य है, समाधि-योग के बिना उसकी उपलब्धि नहीं की जा सकती। प्रकृति और पुरुष का एकात्म-भाव केवल समाधि अवस्था में ही अनुभव किया जा सकता है। उस समय ज्ञात होता है एक ब्रह्म ही चणकवत् ( चने की दाल की तरह ) दो भागों में विभक्त होकर प्रकृति-पुरुष के रूप में परिदृश्यमान हो रहा

है। इन समस्त तत्त्वों को भली-भांति समझने के लिए सृष्टि और स्रष्टा या जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध में विशद आलोचना करने की आवश्यकता है।

# ब्रह्मविचार

भगवान् वशिष्ठदेव ने ब्रह्मविचार को मोक्षद्वार का अन्यतम द्वारपाल बतलाया है। वस्तुतः जो प्रकृत ( यथार्थ ) तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यत्नशील हैं और शुभ इच्छा पूर्वक धीरभाव से अपने अन्तर में तद्विषयक विचार करते रहते हैं, वे शीघ्र ही अपने अभिलषित पदार्थ को प्राप्त कर कृतार्थ हो जाते हैं।

समुद्रस्येव गम्भीर्य्यं स्थैर्यं मेरोरिव स्थितम्।
अन्तःशीतलता चेन्दोरिवोदेति विचारिण :॥

—योगवाशिष्ठ

जो व्यक्ति ब्रह्म का विचार करते हैं, उनके अन्तःकरण में समुद्र की तरह गाम्भीर्य; सुमेरु की भाँति स्थिरता और चन्द्रमा की तरह शीतलता उदित होती है।

अतएव प्रतिनियत श्रद्धा और यत्नपूर्वक ब्रह्मविचार अवश्य करना चाहिए। यह विषय-सुख की तरह शीघ्र ही प्रीतिजनक न होने पर भी दृढ़ता-पूर्वक इसका अभ्यास अवश्य करना चाहिए। महामति व्यासदेव ने कहा है कि :—

स्यात् कृष्णनामचरितादिसिताप्यविद्या-
पित्तोपतप्तरसनस्य न रोचिकैव।
किन्त्वादरादनुदिनं खलु सेवयैव।
स्वाद्वी पुनर्भवति तद् गदमूलहन्त्री॥

पित्त से बिगड़ी हुई जीभ को सिता अर्थात् मिश्री भी अच्छी नहीं लगती अर्थात् कड़वी जान पड़ती है। किन्तु यदि श्रद्धापूर्वक औषधि की तरह प्रतिदिन थोड़ी-थोड़ी करके उसे खाये तो उसी से पित्त दोष दूर होकर क्रमशः रुचि उत्पन्न होती है और तब उसके यथार्थ स्वाद का अनुभव हो सकता है।

इसी प्रकार अविद्या अर्थात् अज्ञान वा माया-मोह समाच्छन्न व्यक्ति को ब्रह्मविचार अच्छा नहीं लगता, किन्तु वही मनुष्य यदि ( अच्छा न लगने पर भी ) यत्नपूर्वक जैसे-तैसे उसकी सेवा करे तो उसके अच्छा न लगने के कारण—अज्ञान या माया मोह का नाश होकर क्रमशः उसके अन्तःकरण में ब्रह्मविचार की सुस्वादुता अनुभूत होती है।

गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा।
न विचारपरं; चेतो यस्यासौ मृत उच्यते॥

—योगवाशिष्ठ

गमनकाल अथवा स्थिति ( ठहरने ) के समय, जागृत या स्वप्नावस्था में जिसका चित्त निरन्तर ब्रह्मविचारासक्त नहीं होता उसे विद्वान् लोग मृत ( मरे हुए ) के नाम से सम्बोधन करते हैं।

जिनका मन यथार्थ मननशील नहीं है और जो अस्थिर भाव से सब विषयों का अपने मन में विचार नहीं कर सकता, उसके समान दुर्बल हृदय व्यक्ति किसी भी गम्भीर विषय में कभी दीर्घकाल-पर्यन्त स्थायी नहीं हो सकता। उसके विश्वास की दृढ़ता सामान्य आघात से ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। अतएव साधक के लिए मननशील होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा जिसका मन यथार्थ चिन्तनशील नहीं है और जो अपने अन्तःकरण में गम्भीर विषयों का विचार नहीं कर सकते ( अथवा नहीं करते ) वे ढेरों पुस्तकें पढ़ लेने पर भी प्रकृत तत्त्व-

यद्यपि विशेषरूप से अपने अन्तर में विचार न करते हुए केवल शास्त्रीय उपदेश या बड़े-बड़े लोगों के मत जानकर किसी सत्य (सिद्धान्त) को हृदय में स्थापित कर लिया जाय तो परीक्षा के समय विचारों की आंधी में वह सत्य न जाने कहाँ उड़ जायगा। अनेक लघुचित्त ( छोटे हृदय ) के व्यक्तियों को प्रतिदिन नये-नये मतों के वशीभूत होते देखा जाने का एकमात्र कारण यही है कि वे उस गम्भीर विषय को अपने मन में पूरा-पूरा विचार करने में असमर्थ होते हैं। ज्ञान-गरिष्ठ ऋषि-श्रेष्ठ वशिष्ठदेव ने कहा है कि :—

अगृहीतमहापीठं विचार-कुसुम-द्रुमम्।
चिन्तावात्या विधूनोति न स्थिरस्थितिषु स्थिरम्॥

—योगवाशिष्ठ

अकृतजट अर्थात् अबद्धमूल होने ( जड़ न जमने ) से भी स्थिर स्थान में स्थित रहनेवाले ब्रह्म विचाररूपी वृक्ष को चिन्तारूप वायु हिला-डुला नहीं सकती।

विचाराज्जायते वोधोऽनिच्छा यं न निवर्तयेत्।
स्वोत्पत्तिमात्रात् संसारे दहत्यखिलसत्यताम्॥

—पञ्चदशी

विचार से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके एक बार दृढ़ हो जाने पर तद्विषयक इच्छा न रहने की दशा में भी वह कभी निवारित ( दूर ) नहीं हो सकता। इस ज्ञान के उत्पन्न होने मात्र से समस्त सांसारिक अनित्य-वस्तुविषयक सत्यभ्रम को नष्ट कर देता है। अतएव जो परब्रह्म की साधना द्वारा मुक्ति लाभ की इच्छा करते हैं, वे किसी शास्त्र या व्यक्ति-विशेष अथवा किसी विशेष सम्प्रदाय के मत को अभ्रान्त मानकर अन्धविश्वासी नहीं बन सकते। सद् युक्तियों के साथ सभी विषयों का

सूक्ष्मता और सावधानी से विचार करने पर जो वस्तु सत्यरूप से ज्ञात होगा, उसे यत्नपूर्वक ग्रहण करें। यथा :—

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नराः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥

—श्रीमद्भागवत ११।८।१०

मधुकर ( भौंरा ) जिस प्रकार सभी पुष्पों से सार ( पराग ) ग्रहण करता है, उसी प्रकार धीर व्यक्ति क्षुद्र और महत्, समस्त शास्त्रों से सार ग्रहण करता है।

यदि प्राचीनकाल से सभी लोग विचार परित्याग करके अन्ध-विश्वास के वशीभूत होकर केवल शास्त्रोपदेशमात्र के अनुगामी हो जाते तो ऋषि-मुनियों के मत में इतनी विभिन्नता देखने में नहीं आती। इस विषय में व्यासदेव ने कहा है कि :—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः,
नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्था।

अर्थात् तर्क में कोई स्थिरता नहीं, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा कोई ऋषि-मुनि भी नहीं, जिनमें मतभेद न हो। धर्म का तत्त्व गुफा में छिपा हुआ है। अतएव महाजनों ( बड़े लोग ) के गमन का मार्ग ही अनुसरणीय है। इसी प्रकार अष्टावक्र ने भी कहा है कि :—

नानामतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा।
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः?

अर्थात् ऋषि, साधु एवं योगियों के अनेक मत हैं, अतएव निर्वेद-

अतएव केवल शास्त्रों के आधार पर ही कर्तव्य का निर्णय नहीं कर लेना चाहिए; वरन् युक्ति का भी सहारा लेना चाहिए। क्योंकि युक्ति-हीन विचार से धर्म नष्ट हो जाता है। यथा :—

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
अन्यत् तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना॥

—योगवाशिष्ठ

यदि बालक युक्तियुक्त वाक्य कहे तो उसे भी आदरपूर्वक ग्रहण करना उचित है; और युक्तिहीन बात यदि स्वयं ब्रह्माजी भी कहें तो उसे तृणवत् त्याग देना चाहिए।

किन्तु ब्रह्मविचार को आवश्यक जानकर कोई इस तरह का कुतर्क इस विषय में न करे। क्योंकि इससे रञ्चमात्र भी लाभ न होकर केवल अनिष्ट होने की ही सम्भावना रहेगी। इसीलिए शास्त्रकर्त्ताओं ने भी इस विषय में जनता को सावधान किया है :—

स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः।
कथं वा तार्किकम्मन्यस्तत्त्वनिश्चयमाप्नुयात्॥
बुद्ध्यारोहाय तर्कश्चेदपेक्ष्येत तथा सति।
स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्॥

—पञ्चदशी ६।२९।३०

यदि अपने अनुभव में विश्वास न हो तो केवल तर्क द्वारा तार्किक लोग किस प्रकार तत्त्व निरूपण कर सकेंगे? जबकि तर्क का अन्त नहीं होता, अर्थात् एक व्यक्ति तर्क द्वारा एक बात का निश्चय करता है और दूसरा बुद्धिमान् व्यक्ति उसका खण्डन करके अन्य प्रकार से निरूपण कर देता है, अतएव साधक अपने हृदय में स्वयं विचार करें और जिस विषय में उन्हें सन्देह हो; उसकी मीमांसा करने के लिए ज्ञानी व्यक्तियों

से उस विषय की चर्चा करने में प्रवृत्त हों। वस्तुतः वे कुतर्क में प्रवृत्त न हों। जब कुतर्क द्वारा तत्त्व का निश्चय न हो सके तभी अनिष्ट होने की सम्भावना रहती है। अतएव तत्त्वज्ञान लाभार्थी साधक भक्ति और श्रद्धापूर्वक निश्चित सद्-युक्ति-पूर्वक ब्रह्मविचार करें।

परोक्षा चापरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा।
तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते॥

—पंचदशी, चित्रदीप १५

विचार द्वारा परमात्मा विषयक दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। यथाः—परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान। इनमें परोक्षज्ञान हो जाने पर भी जब तक अपरोक्षज्ञान नहीं हो जाय, तब तक विचार करना चाहिए। पश्चात् अपरोक्षज्ञान होने पर स्वयं ही विचारों की समाप्ति हो जायगी।

विचारयन्नामरणं नैवात्मानं लभेत चेत्।
जन्मान्तरे लभेतैव प्रतिबन्धक्षये सति॥

—पंचदशी ९।३०२

( अर्थात् ) यदि मरण पर्यन्त विचार करने पर भी आत्मलाभ न हो सके, तो भी वह निरर्थक नहीं जायगा। क्योंकि इस जीवन में न होने पर भी वह परजन्म में तो अवश्य प्राप्त होगा।

प्रकृति भक्तियोग द्वारा जो तत्त्वज्ञान लाभ करते हैं, स्वभावतः उनके हृदय में यथासमय ब्रह्मविचार उदित हो जाता है।

## ब्रह्मवाद

अब इस बात पर विचार किया जायगा कि ब्रह्म क्या वस्तु है ?

यतो विश्वं समुद्भूतं येन जातञ्च तिष्ठति ।
यस्मिन् सर्वाणि लीयन्ते ज्ञेयं तद्ब्रह्मलक्षणैः ।।

—महानिर्वाणतन्त्र

जिससे यह विश्व उत्पन्न हुआ है और जिसका अवलम्बन करके यह अवस्थित ( टिका हुआ ) है तथा सृष्टि को अव्यक्त अवस्था में यह सब ( जगत् ) जिसमें लीन होता है, उसी को ब्रह्म के नाम से पहचाना जाता है। इस अपरिच्छिन्न ब्रह्म के स्वरूप देशकालादि में परिच्छेद ( सीमा या विभाग ) नहीं हो सकता। अर्थात् वह पूर्ण-पुरुष पूर्णभाव से सदैव विद्यमान रहता है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ।।

—कठोपनिषद् २।३।१२

उस परमात्मस्वरूप परब्रह्म को वाक्यद्वारा, मन अथवा चक्षु प्रभृति इन्द्रियों की सहायता से प्राप्त नहीं किया जा सकता। केवल संसार के मूल अस्तिस्वरूप में उसे जाना जा सकता है। अतएव उसे जो व्यक्ति 'अस्ति' स्वरूप में नहीं देख पाता, उसे वह किस प्रकार ज्ञानगोचर हो सकता है ?

यहूदियों के धर्मशास्त्र पुरातन बाइबल में इस सम्बन्ध में एक सुन्दर कथा दी गई है। यथा :—

And god said unto Moses, I AM THAT I AM; and He said, thus shalt thou say unto the children of Israel; I AM hath sent me unto you–EXODUS 111,14.

एक बार राजर्षि जनक ने उपवन में भ्रमण करते हुए सुना कि तमाल वन में अदृश्य सिद्धगण इस प्रकार गाथा गान कर रहे हैं :—

अशिरस्कमाकाराभमशेषाकारसंस्थितम् ।
अजस्रमुच्चरन्तं स्वं तमात्मनमुपास्महे ॥

—योगवाशिष्ठ

जो मस्तकादि अवयवों से रहित है, किन्तु प्रत्येक वस्तु में समभाव से अवस्थित है; जो निरन्तर उच्चारण करता है कि "मैं हूँ" हम उसी परमात्मा की उपासना करें।

जिनमें सुनने की शक्ति है, उन्हें ही यथार्थ में परमेश्वर प्रत्येक स्थान से अविराम उच्चस्वर में सुनाया करता है :—"मैं हूँ"—"मैं हूँ"। वे लोग यह भी सुना करते हैं कि वृक्ष-लतादि निःशब्द होकर उसी की चर्चा करते हैं। चन्द्रसूर्यादि ग्रहगण घोर स्वर से महागगन मण्डल में उसी के अस्तित्व का प्रचार करते हुए भ्रमण कर रहे हैं। गर्भस्थ शिशु भी दोनों हाथ जोड़े हुए समस्त विश्ववासियों को उस परमेश्वर की महती सत्ता में विश्वास करने के लिए अनुरोध करता है। अतएव उन सभी ज्ञानाभिमानी अज्ञानान्ध जीवों की विद्या, वुद्धि और ब्राह्य सभ्यता धिक्कार के योग्य है, जिनके अपवित्र कर्ण उस पवित्रतम गम्भीर शब्द को सुनने से वञ्चित हैं।

हिन्दूधर्म जिस वेदान्त के आधार पर स्थित है—उस वेदान्त के मतानुसार ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है—और न कुछ हो सकता है। वह अनादि और अनन्त है। वह ब्रह्म ही यदि एकमात्र अद्वितीय नित्य वस्तु हो, तो फिर उसका स्वरूप क्या होना चाहिए? उसे एकमात्र सत्तास्वरूप कहकर वैदिक ऋषि उद्दालक ने उसे सत्स्वरूप बतलाया है। इस जगत् में सर्वत्र उसी सत्ता के चैतन्य रूप का परिचय मिल रहा है। अतएव वह सत्ता चैतन्य-स्वरूप है और इसीलिए ऋग्वेद में उसका उल्लेख चिद्रूप में किया गया है। जो चित्-स्वरूप है वह आनन्दमय भी अवश्य होना चाहिये। क्योंकि सुख के अभाव में ही दुःख

होता है, अतः सुख का अनन्तरूप ही नित्यानन्द है। इस जगत् में जिस सुख का परिचय पाया जाता है, वही अपरिच्छिन्न-रूप में अनन्त होकर ही नित्य आनन्दमय बन जाता है। इसी कारण महर्षि सनत्कुमार ने ब्रह्म को आनन्द-स्वरूप कहकर स्थिर किया है। अतएव ब्रह्म का स्वरूप "सच्चिदानन्द" है।

ब्रह्म यदि एक मात्र नित्य वस्तु हो, तो फिर हम जिस परिवर्तन-शील जगत् को देख रहे हैं, वह क्या वस्तु है?—यह सब उसी का स्वरूप तो है! क्योंकि :—

सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्।—छान्दोग्योपनिषत्

यह समग्र जगत् ही ब्रह्म है—क्योंकि-तज्ज-उसीसे जन्म लेता, तल्ल-उसीमें लय होता और तदन्-उसीमें स्थिति करता या चेष्टित होता है। अतएव इस परिवर्तनशील जगत् के साथ अनन्त ब्रह्मसत्ता का सामञ्जस्य है। अतः यदि यह जगत् ब्रह्म में लीन हो जाय तो उस समय यह उसकी ही लीनावस्था कही जायगी। वह लीनावस्था ही निर्गुण बीजावस्था है। जिस प्रकार बीज में वृक्ष लीन हो जाता है, उसी प्रकार यह जगत् भी किसी समय ब्रह्मरूप अनन्त बीज सत्ता में लीन हो जायगा। ऐसी दशा में ब्रह्म की वह बीजावस्था अवश्य ही जगत् रूप व्यक्त और विराट् अवस्था में स्वतन्त्र होगी। अतएव अविराट् अव्यक्त अवस्था और यह जगत् उसकी उस बीजावस्था का व्यक्तरूप है। यह व्यक्तरूप ही चेष्टित अवस्था है। अतएव अव्यक्त अवस्था ही निश्चेष्ट कही जानी चाहिए। चेष्टा सत्त्व, रजः एवं तमोगुणान्वित होती है। अतएव यदि निश्चेष्ट अवस्था में यह त्रिविध चेष्टा लीन हो जाय, तो उस अव्यक्त और बीजा-वस्था में निश्चेष्टता के कारण वह निर्गुण हो जायगी। अतएव जहाँ वेदान्त ने कहा है कि—ब्रह्म निर्गुण है, वहाँ उस निर्गुण शब्द का अर्थ निष्क्रिय समझना होगा एवं सगुण शब्द का अर्थ सचेष्ट या सक्रिय सम-

झना चाहिये। अतएत निर्गुण ब्रह्म कहने से यह नहीं समझा जा सकता कि उसमें गुणों का सर्वथा अभाव ही है, क्योंकि उसमें इन त्रिगुणों का सर्वथा अभाव नहीं है; वरन् वे उसमें **अन्तर्लीन मात्र** हैं।

अतएव जिस प्रकार वेदान्त ने कहा है कि यह जगत् किसी समय ब्रह्म में लीन हो जायगा, उसी प्रकार उसमें यह भी कहा है कि यह जगत् उससे उत्पन्न होकर उसमें ही स्थित रहा करता है। इस उत्पन्न शब्द का अर्थ यह नहीं है कि पहले वह वस्तु नहीं थी और सहसा उत्पन्न हो गई, वरन् उसका अर्थ होगा वह अनन्त ब्रह्म अपनी बीजावस्था से व्यक्तावस्था में आ गया। प्रथमतः वह अनन्त-निर्गुण-सत्ता एक अनन्त गुणमात्रव्यञ्जक सगुण सत्तारूप में दिखाई देती है। उसी का नाम महत्तत्त्व है। वह महत्तत्त्व क्रमशः विश्वविकासिनी अथवा सृष्टिकारिणी सूक्ष्मशक्ति समूह में विवृत हो जाता है। अतएव निर्गुण ब्रह्मसत्ता की सात्त्विक क्रियाशीलता का नाम ही सगुण महत्तत्त्व है। यह शुद्धसत्त्व, सगुण महत्तत्त्व ही ईश्वर के नाम से अभिहित होता है। किन्तु वह सगुण होकर भी गुणातीत है। क्योंकि गुणों के द्वारा वह क्रियासक्त नहीं है; वरन् गुण ही उसमें रहकर अपने अपने कार्य करते हैं। निर्गुण ब्रह्म से सगुण ईश्वर एक अग्नि से अग्न्यन्तर हो जाने की तरह है। दियासलाई में जिस प्रकार अव्यक्त प्रकाश निहित होता है और जलाने पर वह प्रगट होता है, उसी प्रकार ब्रह्म अव्यक्त एवं ईश्वर व्यक्त है; किन्तु दियासलाई का अव्यक्त प्रकाश स्वयं ही व्यक्त हो जाता है। अर्थात् उसके जलाने से प्रकाश उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म नित्य वस्तु पहले से ही थी और उसीसे ईश्वर प्रगट हुआ।

आसीदिदं तमोभूतं अप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

—मनुसंहिता

इस संसार की रचना होने से पूर्व ब्रह्म की क्या अवस्था थी, वह अज्ञात है, तर्क से परे एवं लक्षणों से निरूपित नहीं की जा सकती अर्थात् वह वाक्य और मन से परे है।

सृष्टि के पूर्व में वह अवस्था निर्गुण कहलाती है। अतएव वह निर्गुण, निराकार वाक्य और मन से परे ब्रह्म जब सिसृक्षु ( सृष्टि करने के लिए इच्छुक ) हुआ, तभी वह विकारवान् और सगुण हुआ। क्योंकि इच्छा होने के साथ ही गुण की उत्पत्ति होती है, अतएव मूल अवस्था में विकृति हो जाती है। यही अवस्था ईश्वर कहलाती है। अर्थात् सृष्टि के अतीत होने पर जो निर्गुण और निराकार भाव से अवस्थित था, सृष्टि रचना की इच्छा करने पर वही सगुण और साकार हो गया। फिर भी वह नित्य एवं इस अवस्था से भावरूप में जाना जाता है, इसी प्रकार निर्गुण का सगुण हो जाना भी भावज्ञेय ही होता है।

योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥

—मनुसंहिता

अर्थात् जो पहले सूक्ष्म, अतीन्द्रिय होते हुए अव्यक्त और अचिन्त्य भाव से अवस्थित था, वही व्यक्त होकर स्वयं प्रकाशित हो गया।

सदेव सोम्येदमग्र आसीत् स पुरुषविधः। —श्रुति

यह आत्मा जो पहले से थी, वह पुरुष-विध अर्थात् पुरुष की तरह सिर, हाथ, पैर आदि समस्त अवयवों से युक्त होकर उत्पन्न हुई है। ऐसी दशा में प्रश्न होता है कि क्या ईश्वर भी हमारी तरह अवयव-विशिष्ट ( शरीरवाला ) है ? शास्त्रों ने इसका उत्तर यों दिया है :—

कर्त्तृत्वसिद्धौ परमेश्वरस्य शरीरसिद्धिः स्वत एव जाता।
घटस्य कर्त्ता खलु कुम्भकारः कर्ता शरीरी न च नाशरीरी ॥

—शतदूषणी

जब सृष्टिकार्य में कर्त्ता पुरुष को माना जाता है तो उसकी शरीर-सिद्धि सहज ही उपलब्ध हो जाती है। क्योंकि जब उसे सगुणरूप में माना जाता है तब गुणों का आश्रय न मानने से कैसे काम चल सकता है? लिङ्गशरीर, स्थूलशरीर और कारणशरीर के रूप में से किसी में तो उसे मानना ही पड़ेगा। क्योंकि आश्रय-स्थान को ही शरीर कहते हैं। यथा।—

पूर्वावस्थोत्तरावस्थायाः कारणमभ्युपगमात्।

—शांकरभाष्य

पूर्वावस्था जिस प्रकार की होती है, उसी प्रकार उत्तरावस्था भी हो जाती है। नाम-रूपमय जगत् जिससे उत्पन्न हुआ है उसी का नाम-रूप न होने पर रूपमय जगत् किस प्रकार रूप धारण कर सकता था? क्योंकि ब्रह्म सगुण होकर प्रथमतः सत्त्व फिर रज और अन्त में तमोरूप अर्थात् तीन गुणों के अनुसार तीन विग्रह ( मूर्ति ) रूप में दृष्टिगोचर होता है। यथा :—

एकं ब्रह्म त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।

अर्थात् एक ही ब्रह्म ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर बनकर तीन मूर्तियों को धारण किया है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि उसने केवल इन तीन मूर्तियों में ही अपने को सीमित कर लिया है। क्योंकि :—

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय।—श्रुति

उसने इच्छा की कि "मैं अनेक प्रजा के रूप में होऊँगा।" और इसीलिए उसने अनेक विग्रहों ( मूर्तियों ) को धारण किया।

सर्व्वान् पापान् औषत्। भयरतिसंयोगश्रवणाच्च॥

—श्रुति

शरीरधारी की तरह काम, क्रोध, भय आदि सभी विकारों को उसने अवश्य ग्रहण किया; किन्तु केवल सृष्टि की रक्षा, उसके पालन और संहार के लिए ही। यथा।—

एकत्वं रूपभेदश्च बाह्यकर्मप्रवृत्तिजः।
देवादिभेदमध्यास्ते नास्त्येवावरणो हि सः॥

—विष्णुपुराण

उस एक ही देवता ने बाह्य कार्य सम्पादन करने के लिए भिन्न-भिन्न रूप में देवादि के आवरणरूप को धारण किया ; साथ ही देवता होते हुए भी देवान्तर भाव को ग्रहण कर लिया। इसके बाद जिन उपायों से साधक भावापन्न जीवों को सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं और जिनके द्वारा सृष्टि में उत्पन्न जीवों का जन्म सफल हो सकता है, उनकी योजना की है। इसी कारण उस ( ब्रह्म ) ने "ब्रह्मणो रूप कल्पना" अपने को अनेक रूप में कल्पित किया।*

अग्निर्यथैको भुवनम्प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

—कठोपनिषत्

जिस प्रकार एक ही अग्नि ने इस भुवन ( संसार ) में प्रविष्ट होकर अनेक रूप धारण किये हैं, उसी प्रकार उस एक सर्वभूतात्मा ने बहिर्भाव से अनेक रूप ग्रहण किये हैं।

अतएव इच्छामय ही इच्छाकृत सृष्टि और सृष्ट पदार्थों के लिए निर्गुण होकर भी सगुण और निराकार होकर भी साकार हो गया है वस्तुतः यह महत्तत्त्व ही ईश्वर चैतन्य की उपाधि है और यह उपाधि

---

*कृदन्त कल्पना शब्द के द्वारा कर्तृ-कारक षष्ठी विभक्ति में "ब्रह्मणः" के रूप में हो जाता है। अतएव ब्रह्म की रूपकल्पना इसरूप में न होकर यों समझाया जाता है कि ब्रह्म ने अपने को अनेकरूप में कल्पना की है।

ही निर्मल ज्ञानमय सत्ता है। यही निर्मल महत्तत्त्व कहीं-कहीं मन या बुद्धि के नाम से भी अभिहित होता है। जिस प्रकार ब्रह्म महत्तत्त्व से ईश्वर चैतन्यरूप में विवर्तित हुआ, उसी प्रकार उस महत्तत्त्व से जब पुनः विश्वशक्ति का परिणाम घटित हुआ, वही ईश्वर-चैतन्य पुनः उन समस्त शक्तियों के चैतन्य वा आत्मरूप में दिखाई दिया। इसी महत्तत्त्व से ब्रह्माण्ड का विकास हुआ यह ब्रह्माण्ड ही विश्व के शक्तिमय "अण्ड" का रूप है। इस ब्रह्माण्ड में ही अविशेष महत्तत्त्व से विशेष विशेष प्रकार की बीजोत्पत्ति हुई है। अतः यह विशेष जातीय बीजसत्ता ही वैशेषिक के विशेष पदार्थरूप में मानी जाती है। परमाणुवादियों के विशेष विशेष परमाणु जगत्, वेदान्तियों के हिरण्यगर्भ, पौराणिकों के ब्रह्मा, जातिवादियों की जाति-समष्टि सम्पन्न ब्रह्मा का काया है। इस ब्रह्माण्ड से लेकर, जीव पर्यन्त सब कुछ नैयायिकों के लिए आरम्भ-वाद युक्त हैं। ईश्वर-चैतन्य उस शक्ति-समूह की आत्मारूप में अवस्थित होने से ही कूटस्थ-चैतन्य कहलाता है। इस ब्रह्माण्ड से जब विराट विश्व उत्पन्न हुआ, तब वह कूटस्थ चैतन्य चेतन और अचेतन जीवों के सूक्ष्म और स्थूलशरीर की आत्मा के रूप में दिखाई दिया। यही कारण है कि प्रत्येक जीव में वह कूटस्थ चैतन्य आत्मा के रूप में वास करता है। ब्रह्माण्ड की शक्तिमय सत्ता की विकासावस्था में ही यह अनन्त चेतनाचेतन जीवपूर्ण जगत् स्थित है। जो उस शक्ति की आत्मा के रूप में है वह कूटस्थ-चैतन्य इस विराट् विश्व के विकसित होने से प्रत्येक चेतन और अचेतन जीवों की आत्मा के रूप में अवस्थान करता है। इस प्रकार जो इस जीव-चैतन्य की उपाधि है, वही जीव के नाम से अभिहित होता है।

वैदिक सृष्टिकाण्ड से हम केवल यही जान सके हैं कि प्रथमतः सच्चिदानन्द विग्रह सर्वशक्तिमय निर्गुण पर-ब्रह्म ही उल्लेख योग्य है। वह सर्वशक्ति सम्पन्न है, अतएव उसमें ज्ञान और अज्ञान शक्ति के रूप में

दो पदार्थ और सद्भाव एवं दुर्भाव दोनों ही हैं। लीला करने की इच्छा और अनिच्छा दोनों हैं। क्योंकि एक बात हो और दूसरी न हो, यह नियम परिपूर्ण परब्रह्म के नाम पर नहीं चल सकता। अतएव उसने यदि अपनी अज्ञानशक्ति का विकास किया हो तो यह कोई अनुचित बात नहीं कही जा सकती। क्योंकि यदि उसे अज्ञानशक्ति से रहित माना जाय अथवा यह कहा जाय कि अपनी अज्ञानशक्ति को विकसित करने में असमर्थ है तो उसे अपूर्ण मानना पड़ेगा। इसलिए लीलामय ने लीला के लिए ही असद्भावमय अज्ञानशक्ति का विकास किया है। परब्रह्म अनादि और अनन्त है, अतएव अज्ञानशक्ति उसके सर्वांश में व्याप्त होकर आविर्भूत नहीं हो सकी है, वरन् उसके किञ्चित् अंश पर ही उसका अधिकार हो सका है। श्रुति कहती है :—

"पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिविः।"

यह समस्त भूत समूह उसका एक पाद (चरण) है और शेष तीन चरण अमृत, नित्यमुक्त और स्वर्ग में अवस्थित हैं। भगवान् वासुदेव ने अर्जुन से यही कहा है कि :—

यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।
अथवा वहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्ज्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

—गीता १०।४१-४२

अर्थात्—"जिन जिन पदार्थों में ऐश्वर्य, शोभा, उत्कर्ष आदि दिखाई देते हैं, उन्हें तुम मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जानो। हे अर्जुन! इससे अधिक कहना तुम्हारे लिए व्यर्थ है। बस तुम इतना ही जान लो कि एक अंश से मैं ही इस समस्त जगत् में व्याप्त हूँ।" इस प्रकार उन्होंने श्रुतिवाक्य का समर्थन ही किया है। अतएव सृष्टि रचना

के समय उसके समुदाय ब्रह्म-सत्तांश को व्याप्त कर अज्ञानशक्ति आविर्भूत नहीं हुई है। वरन् उसका अमृत तीन चरणों में अव्याहत है। केवल जो चिरकाल से सगुण हो रहा है, केवल वही अंश सगुणब्रह्म को प्राप्त होता है। वह सगुणभाव-प्राप्त अंश अथवा सगुणब्रह्म ही परमेश्वर पद वाची है।

वह आकाशादि पञ्च सूक्ष्मभूतों की सृष्टि का रचयिता है और उसी ने पाँचों सूक्ष्म-भूतों में प्रत्येक के सात्त्विकांश द्वारा श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियाँ और समस्त सात्त्विकांश मिलाकर अहङ्कार, चित्त, मन और बुद्धि या अन्तःकरण की सृष्टि की है। इसी प्रकार उन भूतों के सात्त्विकांश द्वारा प्राण-अपानादि पञ्चवृत्तिक प्राणों की सृष्टि भी की है।

वे पाँचों इन्द्रियाँ और पञ्चप्राण तथा साहंकार अन्तःकरण सूक्ष्म-पञ्चभूतों के ही आश्रित हैं। इन सत्रह पदार्थों के योग से ही इस देह के समान सूक्ष्मभावापन्न देह निर्मित हो जाती है। उस देह में परमेश्वर की हिरण्यक ज्योति प्रतिबिम्बित होती है, क्योंकि वह अतिशय स्वच्छ होती है। उसके द्वारा यह देह चैतन्ययुक्त होकर हिरण्यगर्भ नाम धारण करती है। हिरण्यगर्भ का व्यावहारिक नाम साधारणतः ईश्वर या नारायण है। उसी का अंश ही मुक्तजीव है और व्यष्टि मे वही तैजस् नाम पाता है।

इसी प्रकार वह स्थूलशरीर में प्रविष्ट होकर विराट-मूर्ति या गीतोक्त विश्वरूप नाम को प्राप्त होता है। विराट् का अंश ही वैश्वानर अथवा व्यष्टि में स्थूल देहाभिमानी बद्धजीव है। वह विराट् प्रजापति अथवा चतुर्मुख ब्रह्मा ही हमारी सृष्टि का कर्ता है। अधिक तो क्या किन्तु सूक्ष्म का सृष्टिकर्ता परमेश्वर और स्थूल का सृष्टिकर्ता विराट् पुरुष या पितामह-ब्रह्मा है।

इस प्रकार चैतन्य चतुर्विध सिद्ध होता है। यथा :—ब्रह्मचैतन्य, ईश्वरचैतन्य, कूटस्थचैतन्य और जीवचैतन्य। किन्तु इन चार रूपों में

भी वह अनन्त है। वह अनन्तरूप से इस विश्व में निवास करता है। किन्तु विश्व तो खण्डित जीवपूर्ण है, तब ब्रह्मचैतन्य अनन्तरूप में किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि विश्व खण्डित जीवपूर्ण होकर भी अनन्त रूप है, अतएव अनन्त ब्रह्म ही विश्वव्यापी हो गया है। केवल स्थूलदर्शी के लिए ही वह विश्व के खण्डितरूप में है। किन्तु ब्रह्मवित् तत्त्वदर्शी के लिए यह विश्व के जीवरूप समस्त खण्डिताकार धारण करने पर भी वह ब्रह्म के सिवाय अन्यरूप में प्रतीत नहीं होता है। वे कहते हैं कि ब्रह्म में सब हैं और सब में ब्रह्म है, वह सबका सर्वस्व है और उसके सब हैं। सर्वत्र व्यापी चैतन्यरूप परमेश्वर सभी भूतों में विद्यमान है और उसी के प्रकाण्ड उदर में अर्थात् इस महाचिद् गगन में असंख्य ब्रह्माण्ड अवस्थान करते हैं।

तत्र ब्रह्माण्डलक्षाणि सन्त्यसंख्यानि भूरिशः।
तान्यन्योन्यमदृष्टाणि फलानीव महावने ॥

—योगवाशिष्ठ

महावन में जिस प्रकार अनेक फल होते हैं, उसी प्रकार इस महाचित् गगन में असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, किन्तु वे सभी ब्रह्माण्ड परस्पर दृष्टिगोचर नहीं होते।

तथा विस्तीर्णसंसारः परमेश्वरतां गतः।

—योगवाशिष्ठसार, १०।१६

यह जो परिदृश्यमान जगत् दिखाई देता है, वही अखण्डित ब्रह्म का रूप है। यह समस्त विश्व ही उस विराट् पुरुष का अवयव मात्र है।

चैतन्यात् सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम्।
अस्ति चेत् कल्पनेयं स्यान्नास्ति चेदसि चिन्ययः॥

—शिवसंहिता १।८२

यदि जगत् का प्रकृत अस्तित्व स्वीकार किया जाय तो विवेचना करना पड़ेगा कि "एकमात्र चित्स्वरूप ब्रह्म से ही इस चराचर जगत् की सृष्टि हुई है; किन्तु यदि जगत् का अस्तित्व स्वीकार न किया जाय तो वह केवल चिन्मय ब्रह्म ही रह जाता है, अन्य कुछ कहकर उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अब हमें यह देखना चाहिए कि यथार्थ में इस जगत् का अस्तित्व भी है या नहीं ? इस पर वेदान्त कहता है कि :—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥—श्रुति

स्वप्नावस्था में जिस प्रकार असत्य वस्तु को सत्यरूप में मानते हैं. और उस समय कभी यह ज्ञात नहीं होता कि हम स्वप्न देख रहे हैं, उसी प्रकार मायाबल से इस असत्य जगत् को सत्य माना जाता है और कभी यह बोध नहीं होता कि हम माया विमोहित होकर ही यह सब देख रहे हैं। स्वप्नावस्था में जिस प्रकार सुन्दर प्रासाद की समीपता और अतिशय सुश्रृङ्खलासम्पन्न असत्य ( कल्पित ) गन्धर्वनगर को हम सत्यरूप में देखते हैं और निद्रा भंग होने पर जैसे वह मिथ्या होने से तिरोहित हो जाता है। उसी प्रकार अज्ञानावस्था में यह जगत् सत्यवत् प्रतीयमान होता है और ज्ञानोदय होने पर इस जगत् का अस्तित्व विनष्ट हो जाता है। इसी कारण वेदान्तविचक्षण व्यक्ति इस जगत् को स्वप्न की तरह अनित्य, मिथ्या, भ्रमात्मक और अलीक ( व्यर्थ ) मानते हैं। वेदान्त ने भी यही कहा है कि :—

पावकाद्विस्फुलिङ्गा सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।—श्रुति

जिस प्रकार अग्नि से हजारों स्फुलिङ्ग भी उसी के समानरूप वाले होते हैं उसी प्रकार हजारों रूप के जीवों से युक्त यह अपरिसीम जगत् भी उसीका रूप है। तब इस जगत् को कौन और किस प्रकार व्यर्थ

एवं भ्रमात्मक कह सकता है। किन्तु इसकी मीमांसा इस प्रकार की गई है :--

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन ॥--श्रुति

मृत्तिका, लोह और अग्नि के स्फुलिङ्ग आदि के दृष्टान्त द्वारा श्रुतियों में सृष्टि के जो भेद बताये गये हैं, वे जगत्, जीव और आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन करने के लिए ही हैं, किसी द्वैतवाद के प्रतिपादनार्थ नहीं।

जिस प्रकार एक अपरिच्छिन्न आकाश में घटाकाश, पटाकाश और महाकाश आदि को नानारूप में कल्पना की जाती है, किन्तु वास्तव में वह ( आकाश ) एक ही अद्वैत-मात्र है; उसी प्रकार यह जगत् जीव और परमात्मा का भेद भी समझना चाहिये। अतएव--

इदं सर्वं परमात्मेति श्रुतेः।

श्रुति के प्रमाण से यही जाना जाता है कि परमात्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, अर्थात् यह समग्र जगत् ही ब्रह्ममय है। यथा :—

नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथञ्चन।
न पृथङ् नापृथक्किञ्चिदिति तत्त्वविदो विदुः॥ —श्रुति

अर्थात् तत्त्वविद् पण्डितगण बताते हैं कि आत्मा आत्मस्वरूप ही होती है, नाना प्रकार और अनेक रूपों में नहीं होती, किन्तु फिर भी नानाविध वस्तुओं में वह अन्तर्वर्त्ती रूप से विद्यमान होती है। जिस प्रकार रज्जु (रस्सी) अपने आकार में रहते हुए भी सभी प्रकार से सर्परूप में कल्पित होती है, उसी प्रकार आत्मा भी अपने रूप में अवस्थान करती हुई अनन्त प्रकार से कल्पित होती है। इसी कारण आत्मा आकार में कल्पित पदार्थ होते हुए भी किसी प्रकार भिन्न वस्तु नहीं हो सकती।

अभेदः प्रत्ययो यस्तु जगतां परमात्मना ।
सैव तत्त्वमतिर्ज्ञेया देवानामपि दुर्लभा ॥—वेदान्त

परमात्मा के साथ जगत् को अभेद समझना अर्थात् घट, पटादि यावद् वस्तुओं में परमात्मा का ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है । यह ज्ञान देवताओं के लिए भी दुष्प्राप्य है । अतएव :—

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः ।
तत्त्वीभूतस्तदा रामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत् ॥ —श्रुति

पृथ्वी आदि बाह्य तत्त्व और मन, बुद्धि आदि आध्यात्मिक तत्त्व ज्ञात होने से मनुष्य आत्मपरायण होता है । समाहित चित्त से "सोऽहम्" अर्थात् "मैं वही ब्रह्म हूँ और उस ब्रह्म के सिवाय कुछ भी नहीं है," इस प्रकार निरन्तर अद्वैत ध्यानपरायण होना चाहिए । पृथ्वी आदि बाह्य-पदार्थ-समूह "रज्जु में सर्प" भ्रम की तरह परमात्मा—मय होने से ही सबको भ्रम में डाल रहे हैं । यदि अनन्यचित्त से तत्त्व-पर्यालोचन किया जाय तो उस अद्वैत आत्मा का दर्शन हो सकता है और तभी आत्मज्ञान परिपक्व होता है ।

# प्रकृति और पुरुष

अनादि, अनन्त और अद्वितीय परमात्मा ही प्रकृति और पुरुषभेद से द्वित्वभावापन्न हो रहा है । ब्रह्म ने स्वयं स्वप्रकाशित होते हुए भी एक एवं अद्वितीय होने के कारण ब्रह्मानन्द-रस के उपभोग के लिए ही अर्थात् अन्य किसी उद्देश्य से नहीं—अनेक होने की इच्छा की । यथा :—

"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्युपक्रम्य
"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इति । —छान्दोग्योपनिषद्

आरुणि ने कहा "हे श्वेतकेतु ! सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् केवल सत् मात्र ही था। वह एक एवं अद्वितीय होने से उसने उस एक एवं अद्वितीय सत् की आलोचना करके बताया कि मैं एक से अनेक होता हूँ।" ब्रह्म ने अनेक होने की इच्छा की यह सत्य है; किन्तु किस प्रणाली का अवलम्बन करके वह अनेक हुआ है ? क्योंकि :—

सत्यलोके निराकारा महाज्योतिःस्वरूपिणी।
स्वमायाच्छादितात्मनां चणकाकाररूपिणी॥
मायावल्कलं संत्यज्य द्विधा भिन्ना यदोन्मुखी।
शिवशक्ति-विभागेन जायते सृष्टि-कल्पना॥

—महानिर्वाणतन्त्र

सत्यलोक में आकाररहित महाज्योतिःस्वरूप परब्रह्म अपनी महाज्योतिःस्वरूपा माया से अपने में आवृत्त होकर चने ( चणक ) की तरह विराजमान है। अर्थात् जिस प्रकार चने के एक छिलके (आवरण) में अङ्कुर सहित दो दल दालें एकत्र जुड़ी रहती हैं; उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति ब्रह्म-चैतन्य-सहित मायारूप आच्छादन से आवृत्त रहते हैं। तथा उस मायारूप आच्छादनवल्कल को भेदन करके शिव-शक्ति के रूप में प्रकाशित होते हुए सृष्टि-विन्यास करते हैं। प्रकृति-पुरुष को "ब्रह्मचैतन्यसहित" कहने का यह प्रयोजन है कि प्रकृति-पुरुषात्मक जीवदेह ब्रह्मचैतन्य द्वारा चेतनावान् होता है। अर्थात् ब्रह्म परित्यक्त होने पर जीवशरीर केवल जड़मात्र ही शेष रह जाता है।

ब्रह्म की यह इच्छा होने पर कि "मैं अनेक होऊँ" वह प्रगट-चैतन्य या पुरुष हुआ, और यह वासना मूलातीन मूलप्रकृति हुई।

योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधा रूपो बभूव सः।
पुमांश्च दक्षिणार्धाङ्गो वामाङ्गः प्रकृतिः स्मृता॥

सा च ब्रह्मस्वरूपा च माया नित्या सनातनी।
यथात्मा च तथा शक्तिः यथाग्नौ दाहिका स्मृता ॥

—प्रकृतिखण्ड, ब्रह्मवैवर्तपुराण, १।८९

अर्थात्, परमात्मास्वरूप भगवान् ने सृष्टिकार्य के लिए योगावलम्बन करके अपने को दो भागों में विभक्त किया। उनमें दक्षिणभाग पुरुष और वामभाग प्रकृति हुई। वह प्रकृति ब्रह्मरूपिणी मायामयी, नित्या और सनातनी है। जिसरूप में अग्नि होने से उसमें दाहिका शक्ति भी होती ही है, उसी प्रकार जिस स्थान में आत्मा होगी वहाँ शक्ति भी होगी एवं जहाँ पुरुष होगा, वहाँ प्रकृति भी अवश्यमेव विराजमान होगी। क्योंकि—

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनन्तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत्, ४।१०

परमात्मा की माया को ही प्रकृति कहा जाता है। अतः परमात्मा जब माया-विशिष्ट हुआ; तभी वह मायी कहलाया। उस मायाविशिष्ट परमात्मा के अवयवरूप वस्तुसमूह द्वारा ही यह जगत् परिव्याप्त हुआ है।

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥

—गीता १३।२०

पुरुष और प्रकृति दोनों अनादि हैं। देह और इन्द्रियादि विकार एवं सुख-दुःख मोह प्रभृति गुणसमूह प्रकृति से ही उत्पन्न हुए हैं।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥

अपनी प्रकृति के सहारे उसे प्रेरणा देकर उसी के गुण स्वभाव से बननेवाले इस भूतग्राम ( चराचर जगत् ) को मैं बारम्बार उत्पन्न करता हूँ।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

—गीता, १३।२०

कार्य और कारण अर्थात् शरीर और इन्द्रिय, प्रकृति के द्वारा उत्पन्न होते हैं और सुख एवं दुःख भोग के लिए पुरुष ही कारणरूप होता है।

कार्यकारण कर्तृत्वे कारणं पुरुषं विदुः।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्॥

—भागवत ३।२६:८

कार्य और कारण अर्थात् देह और इन्द्रियों के लिए प्रकृति ही कारणरूप है। साथ ही सुख-दुःख भोग के विषय में प्रकृति से भिन्न जो पुरुष है वही कारण है।

अर्थात् प्रकृति और पुरुषरूप उभयात्मक ब्रह्म ही जगत्रूप में विराजित है और इसीलिए शास्त्रों ने "हरगौर्यात्मकं जगत्" कहा है। अतएव प्रकृति और पुरुष के योग से समस्त विश्व की सृष्टि करने के लिए ही एकमात्र परमात्मा में द्वैतारोप करना पड़ा; किन्तु वह द्वैताध्यास भी मिथ्या है। क्योंकि :—

शक्ति-शक्तिमतोश्चापि न विभेदः कथञ्चन।

शक्तिमान् से शक्ति कभी भी भिन्न नहीं हो सकती। यथा :—

यथा शिवस्तथा देवी यथा देवी तथा शिवः।
नानयोरन्तरं विद्याच्चन्द्रचन्द्रिकयोर्यथा॥

(—वायुपुराण

जिस प्रकार चन्द्रमा से उसकी ज्योत्स्ना ( चान्दनी ) अलग नहीं हो सकती; उसी प्रकार शिव से शक्ति अलग नहीं रह सकती। इसीलिए जहाँ शिव है, वहीं शक्ति है और जहाँ शक्ति है वहाँ शिव की ही विद्यमानता मानो। योगीश्वर गोरखनाथ ने कहा है कि :—

कटुत्वं चैव शीतत्वं मृदुत्वं च यथा जले।
प्रकृतिः पुरुषस्तद्वदभिन्नं प्रतिभाति मे ॥

—गोरक्षसंहिता ५।११५

जिस प्रकार कटुता, शीतलता और मृदुता जल से भिन्न नहीं हो सकती, उसी प्रकार आत्मा और प्रकृति हमें अभिन्न ज्ञात होती है। जिस प्रकार जल और उसके गुण दोनों भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं, उसी प्रकार आत्मा और प्रकृति भी भिन्न होते हुए अभिन्न मानी जाती हैं। इसी कारण सांख्य ने कहा है कि :—

"पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवद् उभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥

—सांख्यकारिका

प्रकृति अचेतन अतएव अन्धे के स्थान पर है और पुरुष अकर्त्ता होने से पंङ्गु के स्थान पर। इन दोनों के संयोग से एक दूसरे के अभाव की पूर्ति होती है। जिस प्रकार अन्धा देख नहीं सकता और पंङ्गु चल नहीं सकता; किन्तु अन्धे के कन्धे पर पंङ्गु के चढ़ बैठने से पंङ्गु उसे मार्ग दिखलाता है और अन्धा उसे कन्धे पर बिठाकर चलने लगता है। उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष संयुक्त होकर एक दूसरे के अभाव की पूर्ति करते हैं और उनके संयोग के फल से ही सृष्टि-रचना होती है। अतएव प्रकृति और पुरुष अभिन्न होते हुए भी कार्य-भेद के कारण द्वित्वभावापन्न हुए हैं। इसी से दोनों की पृथक् भाव से आलोचना की जाती है। हम सर्वप्रथम प्रकृति के विषय में आलोचना करते हैं :—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

सत्त्व, रज और तमोगुण की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। अर्थात् ये तीनों गुण जहाँ समभाव अथवा न्यूनाधिक नहीं होते वहीं उनको प्रकृति के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसी प्रकार जहाँ उनकी न्यूनाधिकता हो जाती है, अर्थात् एक प्रवल होकर दूसरे को अभिभूत करता है, थोड़ी-थोड़ी देर में उनका नाश होने लगता है। प्रकृति के प्रथम परिणाम का नाम महत्तत्त्व है, द्वितीय का अहतत्त्व, तृतीय का नाम इन्द्रिय और परमाणु तथा चतुर्थ परिणाम जगत् है। स्थुलरूप में यों कह सकते हैं कि कृत्रिम और अकृत्रिम जो कुछ भी देखा जाता है, वे सभी ही मूलत: स्थूलभूत है। उस स्थूलभूत का मूल सूक्ष्म-तत्त्व है और सूक्ष्मभूत का मूल अहंतत्त्व तथा अहंतत्त्व का मूल महत्तत्त्व है। एवं जो महत्तत्त्व का मूल है वही प्रकृति है। जगत् की अव्यक्ता-वस्था प्रकृति और व्यक्तावस्था जगत् है।

अजामेकां लोहित - शुक्ल - कृष्णां,
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

—श्वेताश्वतरोपनिषत्, ४।५

प्रकृति एक ( अकेली ), अजा ( जन्मरहित ) लोहित ( लाल ) शुक्ला ( श्वेत ) कृष्णा ( काली ) अर्थात् त्रिगुणमयी है। अपने तुल्य-जातीय बिकारों की सृष्टि भी वही प्रकृति करती है।

उसे अजा कहने का कारण यह है कि वह परब्रह्म की इच्छाशक्ति से उत्पन्न हुई हैं। जिस प्रकार कि फूल की सुगन्ध। अर्थात् सुगन्ध फूल से उत्पन्न नहीं होती, वरन् उसका प्राकृतिक धर्म ही 'गन्ध' होता है। इसके बाद प्रकृति के प्रभाव से केवल उसका रूपान्तर होता है; क्योंकि प्रकृति का आदि या अन्त नहीं है। अर्थात् वह नित्य सत्यवस्तु है। सत् की न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश ही। यथा :—

नासदुत्पद्यते न सद् विनश्यति। —सांख्यकारिका

असत् की उत्पत्ति नहीं और सत् का विनाश नहीं हो सकता। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी यही बात कही है। यथा :—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

—गीता

अतएव जड़ जगत् का जो अपरिच्छिन्न निर्विशेष मूल उपादान है उसी को प्रकृति या प्रधान के नाम से सम्बोधित किया जाता है। अङ्गरेजी में इसे Eternal homogeneous matter कहा जाता है। प्रकृति का एक नाम 'अव्यक्त' भी है और इसका कारण यह है कि सृष्टि के पहले जगत् अव्यक्त अवस्था ( unmainfest ) में था। अव्यक्त की व्यक्तावस्था का नाम सृष्टि है। गीता में भगवान् ने कहा है कि :—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

प्रलय के अन्त में अव्यक्त से व्यक्त जगत् का आविर्भाव होता है और सृष्टि के अवसानकाल में व्यक्त जगत् का अव्यक्त प्रकृति में तिरोभाव ( लोप ) हो जाता है। अतएव समस्त महाभूतों का जो अतिसूक्ष्म अंश,—अर्थात् जिस मूल पदार्थ से महदादि अणु पर्यन्त समस्त वस्तुओं की सृष्टि हुई है, वही प्रकृति है। वह प्रकृति अविद्या और माया-रूप नाम भेद से दो प्रकार की है :—

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्विविधा च सा॥
सत्त्वशुद्धाविशुद्धिभ्यां माया विद्ये च ते मते॥

—पञ्चदशी

चिदानन्दमय ब्रह्म के प्रतिबिम्ब-संयुक्त, सत्त्व-रज और तमोगुणों की साम्यावस्था में प्रकृति सत्त्वगुण की शुद्धि के तारतम्य से "माया" और "अविद्या" इन दो प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त होती है। जब तक सत्त्वगुण तम और रज से कलुषित नहीं होता, तब तक वह सत्त्वगुण की शुद्धि या सत्त्वप्रधान कहलाता है। किन्तु जब वह इन दोनों से कलुषित हो जाता है, तब वह सत्त्वगुण का अविशुद्धरूप या मलिनसत्त्वप्रधान कहा जाता है। इसी से ज्ञात होता है कि व्यष्टिभूत मलिन सत्त्वप्रधान अज्ञान ही "अविद्या" और समष्टिभूत शुद्ध-सत्त्वप्रधान अज्ञान ही "माया" है। दोनों ही एक वस्तु हैं, केवल व्यष्टि और समष्टि का ही इनमें भेद है। जिस प्रकार व्यष्टिभूत वृक्ष-समूह को 'वन' कहा जाता है, उसी प्रकार व्यष्टिभूत अविद्या या अज्ञान की समष्टि को माया कहा जा सकता है। साथ ही जैसे वन वृक्ष-समूह से किसी प्रकार भिन्न पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार माया भी अविद्या या अज्ञान से भिन्न कोई वस्तु नहीं हो सकती। शास्त्रों में प्रकृति का इसी प्रकार वर्णन किया गया है। यथा :—

प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥
गुणे प्रकृष्टे सत्त्वे च प्र-शब्दो वर्तते श्रुतौ।
मध्यमे रजसि कृश्च तिशब्दस्तमसः स्मृतः॥
त्रिगुणात्मस्वरूपा या सर्वशक्ति-समन्विता।
प्रधाना सृष्टि-करणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते॥
प्रथमे वर्तते प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टेराद्या च या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥

—ब्रह्मवैवर्तपुराण

इन श्लोकों से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि प्रकृति, माया, अविद्या और अज्ञान ये चारों ही सामान्यतः एकार्थ प्रतिपादक हैं।

निस्तत्त्वा कार्यगम्यास्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत् ।
न हि शक्तिः क्वचित् कैश्चिद् बुध्यते कार्यतः पुरा ।।

—पञ्चदशी

जगत् के कारण परब्रह्म से पृथक्-सत्ता रहित जो परमात्मशक्ति है, उसे "माया" कहते हैं। जिस प्रकार दाहादि ( जलाना ) कार्यों द्वारा अग्नि की दाहिका शक्ति का अनुमान किया जा सकता है, उसी प्रकार जगत्रूप कार्य को देखकर परमात्मशक्ति की सत्ता का भी अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु यथार्थ में परमात्मा से भिन्न उसकी शक्ति कोई पदार्थ नहीं है। यथा :—

न सद्वस्तु सतः शक्तिर्नहि वह्नेः स्वशक्तिता ।
सद्विलक्षणतायान्तु शक्तेः किं तत्त्वमुच्यताम् ।।

—पञ्चदशी

परमात्मशक्ति माया को परब्रह्म का स्वरूप नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अपने को ही अपनी शक्ति कहना अयुक्त है। जैसे अग्नि की दाहिका शक्ति को अग्नि नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार परमात्मा से उसकी शक्ति अलग नहीं कही जा सकती।

स्फुरत्येव जगत् कृत्स्नमखण्डितनिरन्तरम् ।
अहोमाया महामोहा द्वैताद्वैतविकल्पना ।।

—गोरक्षसंहिता, ५।१२

यह जगत् अखण्डरूप से निरन्तर स्फूर्ति पा रहा है—इस प्रकार का ज्ञान होना माया का कार्य है, अतएव महामोहात्मिका माया आश्चर्य की वस्तु है। इस माया द्वारा द्वैत और अद्वैत की कल्पना हो सकती है। अतः इस माया का नाश करने से ही अद्वैतज्ञान प्रतिपन्न हो सकता है। यथा :—

मायैव विश्वजननी नान्या तत्त्वधिया परा।
यदा नाशं समायाति विश्वं नास्ति तदा खलु ॥

—शिवसंहिता, १.६६

अघटन-घटन-पटीयसी माया ही इस मिथ्याभूत जगत् की सृष्टि का कारण है; उसके अतिरिक्त विश्वजननी और कोई नहीं है। आत्मज्ञान द्वारा जब माया तिरोहित ( लुप्त ) हो जाती है, तब इस मिथ्या-भूत जगत् का अस्तित्व नहीं रह सकता।

इस प्रकृति से चैतन्य के अन्वित् हुए बिना प्रकृति कोई कार्य नहीं कर सकती। प्रकृति जड़ और पुरुष चैतन्य है। प्रकृति परिणामी और पुरुष निर्विकार। प्रकृति गुणमयी और पुरुष निर्गुण ( गुणातीत ) है। प्रकृति दृश्य और पुरुष द्रष्टा है। प्रकृति भोग्य और पुरुष भोक्ता है। प्रकृति विषय और पुरुष विषयी है। यहाँ तक कि प्रकृति द्वारा आवृत होकर चैतन्य क्रियाशील हुआ है और चैतन्य से अन्वित् होकर प्रकृति प्रकाश पाती है।

जड़त्व-विपरीत चैतन्य आत्मा या पुरुष का स्वरूप है और वही जड़ का प्रकाशक। जड़ उसका प्रकाश्य है। आत्मा वा पुरुष जड़ से भिन्न है एवं वही जीव के शरीर में अधिष्ठित चैतन्य है। जो "मैं" हूँ वही आत्मा है इस नौ द्वार-विशिष्टपुरी में निवास करने के कारण 'पुरुष' के नाम से भी उसी को सम्बोधित किया जाता है।

असङ्गो ह्ययं पुरुषः।—सांख्यदर्शन

यह पुरुष असङ्ग है। किन्तु प्रकृति जिस प्रकार जगदवस्था में परिणत हो जाती है, उसी प्रकार पुरुष भी यहाँ संसारी है। प्रकृति ने यहाँ जिस प्रकार स्थूलास्थूल अनेक प्रकार के आकार धारण किये हैं और उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध प्रभृति इन्द्रिय-ग्राह्य बहुविध गुणों का उद्भव हुआ है, उसी प्रकार पुरुष भी यहाँ इन्द्रियों का

सहायक हुआ है और प्रकृति के आलिङ्गन से विमोहित होकर कालातिपात कर रहा है।

निर्गुण ब्रह्म जगत्लीला करने के लिए इच्छुक होने से ही सगुण ब्रह्म हुआ और धर्म एवं स्वभाव-सहित स्वयं इन तीनों गुणों से प्रतिबिम्बित हुआ है। इस समय भी वह सगुण ब्रह्म ही है। उससे परे माया ईश्वर को अपने गर्भ में धारण करके अपनी स्वभाव शक्ति का उसमें आरोप करती है और गर्भस्थ ईश्वरीय तेज त्रिगुणमय हो जाता है। इस गुणमय ईश्वरांश को माया-संयुक्त पुरुष कहते हैं और यह गुण-संयुक्त पुरुष ही जीव, आत्मा और जीवात्मा है। माया में तीन स्वतः कारण विद्यमान हैं—द्रव्य, ज्ञान और क्रिया। जीव माया स्वभावतः सत्त्व, रज और तमो नामक गुणत्रय से मण्डित होने पर उसके प्रकाशक द्रव्य, ज्ञान और क्रिया से मण्डित हो जाती है। तथापि माया का स्वभाव जो ईश्वरांश जीवत्व में परिणत होता है, वह फिर अपने प्रकाशक और अभिन्न ईश्वर का दर्शन नहीं कर सकता; अतएव जगत् के चेतन और अचेतन सभी जीवों को आत्मा पुरुषपदवाच्य है।

पुरुष अनादि और अनन्त है। उसका स्वभाव ही मूलतः आनन्दघन है। इस पुरुष की सहायता से ही परिणामी प्रकृति ने विश्व-सृष्टि की रचना की। पुरुष विश्व-सृष्टि का बीजस्वरूप है। यथा :—

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥"

—गीता, १४।३, ४

भगवान् कहते हैं कि हे भारत! महत् प्रकृति के गर्भाधान-स्थान में मैंने समस्त जगत् का बीज निक्षेप किया था और उसी से ये भूत-सकल

( चराचर ) उत्पन्न हुए हैं। हे कौन्तेय ! समस्त योनियों में जो स्थावर-जङ्गमात्मक मूर्तियाँ सम्भूत होती हैं, उन समस्त मूर्तियों की योनि ( मातृस्थानीय ) महत् प्रकृति ही है, और मैं बीज प्रदानकर्ता पिता हूँ। अतएव यह विश्व संसार प्रकृति और पुरुष के योग से उत्पन्न हुआ है।

एषा माहेश्वरी सृष्टिर्द्वैतभावेन संस्थिता।

—विश्वसारतन्त्र

यह महेश्वर-सम्बन्धिनी सृष्टि द्वैतभाव से विद्यमान कही जाती है और इसी कारण प्रकृति-पुरुष के योग से सृष्टि का होना स्वीकार किया जाता है। इसीलिए शास्त्रों ने कहा है कि प्रकृति और पुरुष परस्पर कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। ये दोनों ही अद्वैत ब्रह्म हैं। प्रकृति-पुरुषभाव अज्ञान द्वैतवादियों के पक्ष में होता है, अद्वैत योगी पुरुषों के पक्ष में नहीं। शक्तिमान् से जिस प्रकार शक्ति भिन्न नहीं हो सकती, उसी प्रकार पुरुष से प्रकृति की पृथक् सत्ता नहीं है। अतएव इनकी स्त्री-पुरुष के रूप में कल्पना ही भ्रमात्मक हैं। यथा :—

सृष्ट्यर्थमात्मनो रूपं मयैव स्वेच्छयार्पितम्।
भूतं द्विधा नगश्रेष्ठ पुमान् स्त्री च विभेदतः॥

—भगवती गीता, ४।१२

हे गिरिश्रेष्ठ ! मैंने सृष्टि रचना की इच्छा से अपने रूप को दो भागों में विभक्त किया है। उनमें से एक भाग का नाम पुरुष और दूसरे भाग का नाम स्त्री है। किन्तु वास्तव में मैं न तो स्त्री हूँ और न पुरुष।

यद् यच्छरीरमादत्ते तेव तेन स लक्ष्यते।

—श्वेताश्वतरोपनिषत् १५।१०

जब कोई शरीर का आश्रय लेता है, तब वह उसी रूप में प्रकाश पाता है।

अतएव हि योगीन्द्रः स्त्रीपुंभेदं न मन्यते।
सर्वं ब्रह्ममयं ब्रह्मन् शश्वत् पश्यति नारद।

—ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृतिखण्ड, ९।१०

हे नारद ! योगीन्द्रगण स्त्री-पुरुष में किसी प्रकार की भिन्नता अनुभव नहीं करते, वरन् क्या पुरुष और क्या प्रकृति सभी को ब्रह्ममय मानकर धारण करते हैं।

अतएव इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रकृति और पुरुष का ज्ञान भ्रमात्मक है। जब तक चित्त स्थिर नहीं होता, तभी तक इस प्रकार का ज्ञान होता है। साधना द्वारा चित्त स्थिर होने पर ही भ्रमात्मक द्वैत-ज्ञान तिरोहित होकर अद्वैत ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है।

चलच्चित्ते वसेत् शक्तिः स्थिरचित्ते वसेच्छिवः।
स्थिरचित्तो भवेत् योगी स देहस्थोऽपि सिद्धयति ॥

—ज्ञानसंकलनी तन्त्र, ६३

हे देवि ! चञ्चल चित्त में शक्ति अर्थात् भ्रमज्ञान में माया एवं स्थिर चित्त में शिव अर्थात् योग द्वारा चित्त स्थिर हो जाने पर अद्वैत ब्रह्मज्ञान अवस्थान करता है। स्थिरचित्त से योगी व्यक्ति देहस्थ होते हुए भी सिद्धि प्राप्त कर सकता है। उस समय साधक स्पष्टरूप से अनुभव करता है कि।

अद्वितीये ब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत्।
ईशजीवादि-रूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥

—पञ्चदशी, ६।२११

ईश्वर, जीव और देह प्रभृति चेतनाचेतनात्मक यह समग्र जगत् अद्वितीय ब्रह्म-तत्त्व के ज्ञान से माया-कल्पित स्वप्न के रूप में प्रतीत होता है।

# पञ्चीकरण

यहाँतक के विवेचन से अब यह पूछने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि ब्रह्म जब निर्गुण और निष्क्रिय होता है, तभी वह ब्रह्म कहलाता है और जब वह सगुण या प्रगट हो जाता है, तभी ईश्वर या पुरुष कहा जाता है। इसी प्रकार इच्छा या वासनाशक्ति ही प्रकृति या आद्याशक्ति महामाया है। ये ही पुरुष और प्रकृति सर्वत्रगामी एवं सब वस्तुओं में अवस्थान करते हैं। इस संसार में इन दोनों से विहीन होकर कोई भी वस्तु विद्यमान नहीं रह सकती। प्रकृति से सत्त्व, रज और तमोगुण का विकास होने पर उसमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर बन जाता है। ये सब त्रिगुण समन्वित होकर सृष्टि, स्थिति और प्रलय कार्य सम्पादन करते हैं। इस संसार में जो जो वस्तुयें दृष्टि-गोचर होती हैं, वे सभी तत्त्व त्रिगुण विशिष्ट हैं। दृश्य एवं निर्गुण वस्तु संसार में कुछ भी नहीं है और न हो सकती है। परमात्मा भी निर्गुण होने से कभी दृश्य नहीं हो सकता। किन्तु परमा प्रकृतिरूपिणी महामाया सृजनादि (रचना) के समय सगुण होती है और समाधि के समय निर्गुणा हो जाती है। प्रकृति अनादि है, अतएव वह सदैव इस संसार के कारण-रूप में विद्यमान है, वह कभी कार्यरूप धारण नहीं कर सकती। वह जब कारणरूपिणी बन जाती है, तभी सगुणा एवं जब पुरुष के सन्निधान ( निकट ) में परमात्मा-सहित अभिन्न भाव से अवस्थान करती है तभी तीनों गुणों की साम्यावस्था के लिए गुणोत्पत्ति के अभाव में निर्गुणा हो जाती है। अहङ्कार और शब्द स्पर्शादि गुण-समूह दिन रात ही पूर्व-पूर्व क्रम से कारणरूप में उत्तरोत्तर क्रम से कार्य-रूप में परिणत होकर कार्य सम्पादन करते हैं। वे कभी रुकते नहीं।

काल, चैतन्य और सदसदात्मिका शक्ति—इनके मिलने से प्रधान और महत्तत्त्वावस्था उत्पन्न होती है। उस अवस्था में सत्त्व, रज और

तमोगुण का विकास होता है। इन तीनों गुणों में ईश्वर के प्रतिबिम्बित अर्थात् आकृष्ट होने से अहङ्कार प्रगट होता है। इस अहङ्कार से सात्त्विक राजसिक और तामसिक भेद के अनुसार मन, इन्द्रिय और भूतादि प्रगट होते हैं। इन सब कारणावस्थाओं में जब ईश्वर की वासना और स्वरूप का चैतन्य समाविष्ट नहीं होता तभी उन्हें जीवरहित ( अजीव ) अण्ड (डिम्ब) कहते हैं। यही ब्रह्माण्ड कहलाता है। तत्पश्चात् ईश्वर चैतन्य-स्वरूप और वासना के साथ मिश्रित होकर इस विश्व या विराट् देह को प्रकाशित करता है। ब्रह्माण्ड और विश्व में केवल यही भेद है कि ईश्वर की कारणावस्था की परिणति का नाम ब्रह्माण्ड है और कार्यावस्था की परिणति का नाम विश्व है। सूर्य जिस प्रकार सब का प्रकाशक है, किन्तु सर्वत्र व्याप्त होने के कारण वह अपने मण्डल में ही बना रहता है, उसी प्रकार ईश्वर भी अपने शक्ति-समूह द्वारा विश्व और ब्रह्माण्ड को प्रस्तुत करके भी उससे प्रकाश पाकर अपने को स्वरूप में रखे हुए हैं।

गुणत्रय में ईश्वर के प्रतिबिम्बित होने पर अहङ्कार प्रगट होता है। अहङ्कार के भी दो भेद हैं। उनमें एक पराहन्तारूप सत् पदार्थ से उत्पन्न होता है और दूसरा महत्तत्त्व से। इनमें प्रकृति ही पराहन्ता सत् पदार्थ रूपिणी है। और तत्त्वज्ञानीविद्वान् उस पराहन्ता रूपिणी प्रकृति को ही "अव्यक्त" शब्द से अभिहित करते हैं। अतएव प्रकृति ही जगत् का कारण है और अहङ्कार प्रकृति का कार्य। प्रकृति उसे त्रिगुण-समन्वित करके जगत् के कार्य साधनार्थ प्रतिष्ठित किये हुए है। उस पराहन्ता (समष्टि बुद्धितत्त्व) से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है और ज्ञानी लोग उसे ही बुद्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं। अतएव महत्तत्त्व कार्य और पराहङ्कार उसका कारण है। किन्तु महत्तत्त्व जात (विषयक) कार्य-रूप अहङ्कार से पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों का कारण बन जाता है। समस्त प्रपञ्च के उत्पत्ति काल में इन पञ्चतन्मात्रा के सात्त्विकांश

द्वारा पञ्चज्ञानेन्द्रिय एवं राजसिकांश से पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा इन तन्मात्रक पञ्चक के पञ्चीकरण द्वारा पञ्च-महाभूतों के मिलित सात्त्विकांश से मन की उत्पत्ति हुई है। आदि पुरुष सनातन कार्य भी नहीं और न कारण ही। इन सारे प्रपञ्चों का कारण प्रगट ईश्वर या पुरुष है और माया या अविद्या शक्ति कार्य है। इस विषय की और भी विशद आलोचना करना आवश्यक जान पड़ता है।

ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और अर्थशक्ति के भेद से अहङ्कार की शक्ति तीन प्रकार की मानी गई है। उनमें सात्त्विक अहङ्कार की जननी ज्ञान-शक्ति और राजस की क्रियाशक्ति एवं तामस की अर्थशक्ति मानी जाती है। तामस-अहङ्कार विषयक द्रव्यजनक शक्ति से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध एवं इन समस्त गुणों से पञ्चतन्मात्र अर्थात् सूक्ष्म पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए हैं। आकाश का गुण शब्द, वायु का गुण स्पर्श, अग्नि का गुण रूप, जल का गुण रस, और पृथ्वी का गुण गन्ध इन दशों सूक्ष्म पदार्थों के मिलने से पृथ्वी आदि के रूप में कार्यजनिका शक्ति-विशिष्ट होता है, इसके पश्चात् पञ्चीकरण निष्पादित होने पर द्रव्य शक्तिविशिष्ट तामस-अहङ्कार की अनुवृत्ति से युक्त होकर ब्रह्माण्ड का-सृष्टिकार्य सम्पन्न होता है। श्रोत्र; त्वचा, रसना, चक्षु और नासिका ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाक् ( मुख ), पाणि ( हाथ ), पाद ( पाँव ) पायु ( गुदा ) और उपस्थ ( मूत्रेन्द्रिय ) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, तथा प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान ये पाँच वायु हैं। इन सबके मिल जाने से जो सृष्टि उत्पन्न होती है उसे राजस सृष्टि कहते हैं। इस क्रियाशक्तिमय साधन अर्थात् कारणसंज्ञक समस्त इन्द्रियों और उनके उपादान कारण को चिदनुवृत्ति कहते हैं। सात्त्विक अहङ्कार से पञ्च ज्ञानेन्द्रियों की ज्ञानशक्ति समन्वित पञ्च अधिष्ठात्री देवता अर्थात् दिक, वायु, सूर्य, वरुण और अश्विनी कुमार द्वय एवं बुद्धि प्रभृति चार

प्रकार के विभक्त अन्तःकरण के चन्द्र, ब्रह्मा, रुद्र और क्षेत्रज्ञ ये चार अधिष्ठानी देवता उत्पन्न हुए हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च वायु और क्षेत्रज्ञ अर्थात् मन—यही सात्त्विक सृष्टि है।

पहले जिस सूक्ष्मभूतरूप पञ्चतन्मात्र की बात कही गई है, उन सबकी पञ्चीकरण क्रिया द्वारा पुरुष ( ईश्वर ) ने स्थूल पञ्चभूतों का उत्पादन किया है। उदक ( जल ) नामक भूत सृष्टि की रचना के लिए पहले रसतन्मात्र को दो भागों में विभक्त किया और इसी प्रकार अव- शिष्ट सूक्ष्मभूतरूप तन्मात्रचतुष्टय भी पृथक्-पृथक् दो भागों में बाँट दिये गये। इसके बाद पञ्चभूतों में से प्रत्येक के अर्धभाग को अलग रख कर शेष प्रत्येक अर्धभाग को पुनः चार भागों में विभक्त करते हुए उन चार भागों के एक-एक भाग को अपने अर्धांश में न मिलाकर अन्य चार अर्धांशों में अलग-अलग मिलाने से जल, क्षिति आदि स्थूल पञ्चभूतों की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार जलादि की सृष्टि होने के बाद उसमें अधि- ष्ठातारूप से चैतन्य प्रविष्ट होता है और उस दशा में उस पञ्चभूतात्मक देह में "मैं ही पञ्चभूतात्मक देह हूँ" इस प्रकार तादात्म्य भाव से संशया- त्मक मनोवृत्ति का उदय होता है। आकाशादि पञ्चभूतों के पञ्चीकरण द्वारा दृढ़ीभूत और स्पष्टरूप से प्रकाशित होने पर आकाश में एक, वायु में दो इस प्रकार क्रम से समस्त भूतों में एक एक गुण अधिक दृष्टि- गोचर होता है। इस नियमानुसार आकाश में एक शब्दगुण के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाया जाता। वायु में शब्द और स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँचों गुण निर्दिष्ट किये गये हैं। इस प्रकार पञ्चीकृत भूतसमूह की मिलन-प्रक्रिया द्वारा इस अखिल ब्रह्माण्डरूप ब्रह्म की विराट्मूर्ति उत्पन्न हुई है। इस पर विचार यह होता है कि इस प्रकार का पञ्चीकरण क्या अपने आप हो गया ? शास्त्रकारों ने इसका उत्तर यों दिया है :—

छन्दांसि वै विश्वरूपाणि।—( शतपथ ब्राह्मण )

छन्द के द्वारा यह विश्वरूप प्रकाशित हुआ है। छन्द ही स्वरों का कम्पन है, अतएव ये परस्पर कम्पनाभिघात से इस रूप में पहुँच गये हैं। किन्तु असल में ये परमाप्रकृतिरूप ही थे। वेद में भी कहा है :—

"पृथ्वीच्छन्दः। अन्तरिक्षच्छन्दः। द्यौश्छन्दः। नक्षत्राणिच्छन्दः। कृषिश्छन्दः। गौश्छन्दः। वाक्यश्छन्दः। अजाछन्दः। अश्वश्छन्दः।

—शुक्लयजुर्वेदसंहिता

अर्थात् पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, नक्षत्र, वाक्य, कृषि, गौ, बकरी और अश्व आदि छन्द या स्पन्दन के अतिरिक्त और क्या है? निश्वास-प्रश्वास में यों स्वरकम्पन,—'हंस" यही तो जीवात्मा है। जब स्पन्दित देह में श्वास प्रवेश करता है तब वह 'सो' और बहिर्गमन होने के समय "हँ" होता है। मानव से लेकर समस्त पदार्थों तक यह स्वरकम्पन विद्यमान है। स्वरकम्पन का रोध होने पर ही तोड़-मरोड़कर फिर नये स्वरकम्पन का आश्रयीभूत होना पड़ता है।

स्पन्दन-वादद्वारा सृष्टिरहस्य सुगमता से जाना जा सकता है। योगवाशिष्ठरामायण में स्पन्दनवाद द्वारा ही सृष्टिरहस्य सिद्ध किया गया है। पाश्चात्य वैज्ञानिकगण भी आज इस कम्पनवाद को बड़ी श्रद्धा के साथ स्वीकार करते हुए इसके द्वारा अनेक अद्भुत-अद्भुत क्रियायें सम्पादन करते हैं और इसी पर धर्मतत्त्व को स्थापित करने के प्रयास में लगे हुए हैं।* कुम्भकार ( कुम्हार ) लकड़ी द्वारा कुलालचक्र (चाक) को जोरों से कम्पाते हुए घुमाकर ही उसके द्वारा मृत्तिका आदि को घड़े; सकोरे आदि में परिणत करता है। कुलालचक्र के अत्यधिक कम्पन के समय ही वह घूमता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह कम्पन

* "The Religion of the Stars" नामक पुस्तक का पृष्ठ ८५ देखिये।

का ही अधिक वेग है; उसके रुकने के समय भी देखने से यही जान पड़ता है कि वह काँप रहा है। इसी कारण वेदान्तदर्शन में "कम्पनात्" कम्पन से जगत् की उत्पत्ति हुई बताई जाती है। इस प्रकार जगत् उत्पन्न होकर जब ब्रह्मा के रजोगुण से सृजन, विष्णु के सत्वगुण से पालन और शिव के तमोगुण से व्यष्टि, समष्टि और ध्वंस ( नाश ) होने लगा। तब उनके गुणों द्वारा हमारे इस सौर जगत् में सूक्ष्म जीव स्थूल-रूप में परिणत होकर अविद्या के द्वारा आक्रान्त होने तथा वासना द्वारा परिचालित एवं कर्म में प्रवृत्त होने लगे।

# जीवात्मा और स्थूलदेह

ब्रह्माण्ड की शक्तिमय सत्ता की विकासावस्था ही यह अनन्त चेतना-चेतन-जीवपूर्ण जगत् है। जो शक्ति का आत्मस्वरूप है, वह इस विराट् विश्व के विकसित होने पर कूटस्थ चैतन्य प्रतिजीव की आत्मा के रूप में अवस्थित रहेगा। यह जीवचैतन्य ही जीवात्मा के नाम से अभिहित होता है। पञ्च-कर्मेन्द्रिय और पञ्चज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार; चित्त एवं प्राणादि पाँच वायुओं के मिलने पर लिङ्ग शरीर के नाम से अभिहित होता है। यह लिङ्ग शरीराभिमानी अविद्योपहित चैतन्य ही व्यावहारिक जीव, क्षेत्रज्ञ या पुरुष के नाम से कथित होता है। यह जीव ही प्रवाहरूप से अनादि पाप-पुण्य जनित अदृष्ट का भोग करता है और लिङ्गशरीर को निमित्त बना कर इहलोक-परलोक गमन और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं को भोगता है। वह अनादि अजर अमर है, अतएव किसी प्रकार से भी उसका विनाश नहीं हो सकता। यथा—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयम्पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

—गीता, २।२०

वह न तो जन्म लेता है और न मरता ही है। न वह हुआ और न है तथा न होगा। वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह कभी नष्ट नहीं होता।

कठोपनिषद् में भी ठीक यही बात कही गई है। यथा—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयम्पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

—द्वितीयवल्ली, श्लोक १८

अपने सखा एवं शिष्य अर्जुन को भी आत्मा के सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने समझाया है कि :—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।

—गीता, २।२३-२५

वह ( आत्मा ) शस्त्र से कट नहीं सकती, अग्नि में जल नहीं सकती, जल से भींग नहीं सकती और हवा से सूख नहीं सकती। यह न तो छेदनीय है न दहनीय या क्लेदनीय और न शोषणीय है। यह नित्य, शाश्वत, सर्वगत, स्थाणु ( स्थिर-स्वभाव ) अचल ( पूर्वरूप को न छोड़नेवाली ) सनातन ( चिरन्तन-अनादि ), अव्यक्त ( चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों का अविषय ) अचिन्त्य ( मन से न सोची जा सके ) एवं अविकार्य ( कर्मेन्द्रियों के विषय से मुक्त ) कही गई है। इस आत्मा के आश्रय-स्थान को देह कहते हैं।

वह देह तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भौतिक आवरण को स्थूलदेह या शरीर कहते हैं। दूसरी सूक्ष्म अर्थात् इन्द्रियशक्तिपूर्ण मनो-

मय अवस्था है। तीसरी देह का नाम कारण है, जिसमें केवल बुद्धि आदि चैतन्य और कर्तव्यशक्ति के साथ जीवात्मा निवास करता है। यह जीव परमात्मा का अश विशेष है, जिसका भोग या क्षय अथवा लय आदि कुछ भी नहीं होता। उसका जो तेज सूक्ष्मदेह के ऊपर आधिपत्य करता है, उस मनोमय सत्ता का नाम क्षेत्रज्ञ आत्मा है, उसी सत्ता से लिङ्गदे एवं स्थूलदेह का संचालन होता है। इनके अतिरिक्त जो समग्र शक्ति-समूह है, उसके द्वारा स्थूलदेह रक्षित और चालित होती है, उस शक्ति को स्थूल की आत्मा या भूतात्मा कहते हैं। सांख्य मतानुसार यही प्रकृति है। यहाँ हमें यह देखना होगा कि प्रधान चैतन्यरूप जीव साक्षी-मात्र है, प्रत्येक देहप्रकाश के साथ उसका प्रकाश है। देह के क्षय होने अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल आवरण के क्षय हो जाने पर भी उसका क्षय नहीं होता। वह कारणरूप में सचल, स्वाधीन शक्तियों के सहित विद्य-मान रहता है। कार्य का प्रेरक एवं भोगकामी क्षेत्रज्ञ आत्मा, अर्थात् मनोमय भाग की वह चैतन्यसत्ता है। स्थूलशरीर का कर्ता भूतात्मा अर्थात् इन्द्रिय शक्तिगण इस क्षेत्रज्ञ के तेज से सचेतन होकर शरीररूपी इन्द्रिय समूह द्वारा बाह्य विषय ग्रहण करके उस क्षेत्रज्ञ को ही उपभोग कराते हैं। क्षेत्रज्ञ हो गुणानुसार देह गठन के अनुरूप सभी कार्यों का निर्वाह करता है। इस स्थूल और सूक्ष्म का अधिकारी क्षेत्रज्ञ उपादान-रूपी महत्तत्त्व के ॐकाररूपी जीव भावीय परमात्मा के आश्रय के प्रति प्राणी की पुरी ( देह ) में चेतन एवं भोगकर्त्ता के रूप में रहता है। मन, इन्द्रियशक्ति और भूत-शक्ति ही इस क्षेत्रज्ञ को भोग प्रदान करती हैं। मन आदि यदि दुर्भाव से उत्पन्न होते हैं तो वे कुभोग करते हैं, किन्तु यदि वे पुण्य कार्य करें तो अवश्य ही पुण्य संचय करते हैं। जिस प्रकार आवरण द्वारा सूर्य के उज्ज्वल प्रकाश को क्षीण करके अन्धकार किया जा सकता है, उसी प्रकार मन आदि में दुर्भाव करने से क्षेत्रज्ञ भी अज्ञान-रूप आवरण से आवृत होकर परमात्मा के सान्निध्य तेज से भिन्न हो जाता है। साथ ही जब मन को पवित्र कर लिया जाता है, तब आव-

रण दूर होकर परमात्मा का तेज क्षेत्रज्ञ के तेज में मिल जाता है। इसीलिए शास्त्रों ने कहा है कि ।—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः ।

—अन्यमनस्क गीता

मन ही मनुष्य की मुक्ति और बन्धन का कारण है । इसी प्रकार :—

मनः करोति पापानि मनो लिप्यते पातकैः ।
मनश्च तन्मना भूत्वा न पुण्यैर्न च पातकैः ॥

—ज्ञानसंकलिनी-तन्त्र

इस परमात्माभाव के साथ क्षेत्रज्ञ का समभाव स्थापित करने के लिए जो सकाम अनुष्ठान किया जाता है, वही पुण्य और उसके लिए जो निष्काम अनुष्ठान किया जाता है वही मुक्ति का उपाय है । इसी प्रकार से भोगावरण जो भोगावरण के दुर्भाव द्वारा उसे आवृत करता है वही पाप, अज्ञान या अधर्म है । पापाचरण करने से क्षेत्रज्ञ परमात्मभाव से आवृत हो जाता है । उस अवस्था में जो यातनायें भुगनी पड़ती हैं, उन्हीं को पाप यातना या नरक यन्त्रणा कहते हैं । जिस प्रकार वात, पित्त और कफादि के साधारण धर्म में अव्यवस्था होते ही शरीर में धातुगत यातना उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार मनुष्य के स्वाभाविक सत्त्वगुण के विपक्ष में अर्थात् परमात्मभाव के प्रतिकूल किसी अनुष्ठान के करने से लिङ्गदेह में भीषण यातना उत्पन्न होती है । ये यातनायें क्या इहलोक और क्या परलोक—अर्थात् स्थूलदेह के स्थितिकाल में या विनाश हो जाने पर अवश्य ही भोगनी पड़ती हैं । पूर्वजन्मार्जित कुसंस्कार के अभ्यासवश जीव पातकों का अनुष्ठान करता है ।

शास्त्रानुसार दशप्रकार के कुभाव के आवेश से मन, काया और वाक्य का जो व्यभिचार एवं कदाचार है, उसी का नाम पाप या अधर्म है। उन दशप्रकार के कुभावों में मन तीन, वाक्य चार और काया ( देह ) तीन कार्य करते हैं। यथा :—मन के द्वारा—(१) परद्रव्य-हरणेच्छा और दूसरे का अनिष्ट चिन्तन करना। (२) परलोक में अविश्वास और विषयभोग को सर्वस्व मानना। (३) ईश्वर में अविश्वास और देहाभिमान। वाक्य द्वारा—(१) दूसरों को कष्ट पहुँचानेवाला अप्रिय भाषण करना। (२) असत्य भाषण। (३) परोक्ष में दूसरे के दोष प्रगट करना। (४) प्रयोजन के बिना ही दूसरे की निन्दा करना। देह द्वारा—(१) वञ्चना ( छल ) या बलप्रयोग द्वारा दूसरे की वस्तु छीनना। (२) अवैध प्राणि-हिंसा। (३) परदारादिगमन।

इन दशविधि मौलिक कुभावों द्वारा कृत, कारिता और अनुमोदित के भेद से अगण्य कुकर्म जीव के हृदय कमल में विचरण करते हैं। किन्तु ईश्वर विषयक ज्ञान-उत्पन्न हो जाने पर जैसे सूर्य अन्धकार को अपने तेज से दूर कर देता है उसी प्रकार उस ( ईश्वर ) की कृपा से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

जीव का उद्धार करने के लिए भगवान् निरन्तर चेष्टा करते रहते हैं। वे निरन्तर हमें उन्नति के पथ, उद्धार के मार्ग पर सुख की ओर ले जाने के लिए लगाते रहते हैं। किन्तु मायामुग्ध जीव "मेरा मेरा" करके निरन्तर अनित्य विषयसुख में डूबते हुए मरते चले जाते हैं। लोह खण्ड को चुम्बक से आकृष्ट किया जाता है; किन्तु इन दोनों के बीच एक ईंट का टुकड़ा रख देने से जिस प्रकार चुम्बक लोह का आकर्षण नहीं कर सकता, उसी प्रकार हम भी उस ( ईश्वर ) के बीच माया के बन्धन को रखकर उसके करुणाकर्षण से दूर हो जाते हैं। किन्तु पुरुष-कार के बल पर उस माया बन्धन को छिन्न कर देने से उसकी करुणा आकृष्ट की जा सकती है।

अदृष्ट ( सञ्चित कर्म ) और पुरुषकार ( पुरुषार्थ ) में अत्यन्त ओतप्रोत सम्बन्ध है। मनुष्य यदि विधिपूर्वक परिश्रम से भूमि को जोत-कर बीज बोए और अदृष्टशक्ति यदि समय पर वर्षा न होने दे तो खेत में अन्न कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता। साथ ही केवल अदृष्टशक्ति निरन्तर जल बरसाती रहे तो भी जब तक मनुष्य परिश्रमपूर्वक खेत जोत-कर बीज न बोयेगा, तब तक कुछ नहीं हो सकता। अतएव यह स्पष्ट प्रगट होता है कि अदृष्ट ( भाग्य ) और पुरुषार्थ दोनों के मिलने से ही कार्य होता है। इन दोनों के एकत्रित होने से ही चित्त शुद्धि होती और चित्त में विषयों से हटकर भगवद्भक्ति का उदय होता है। उसी दशा में उसकी मोहिनी बाँसुरी से करुणाकर्षक स्वर गोचर हो पाता है।

# स्थूलदेह का विश्लेषण

माया से आवृत चैतन्य से ही आकाशादि पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं, एवं उन पञ्चभूतों से ब्रह्माण्ड और स्थूलदेह की उत्पत्ति होती है। यथा :—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।
आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥

—तैत्तिरीयोपनिषद् २।१

प्रथम उस ज्ञान स्वरूप नित्य परमात्मा से आकाश प्रगट हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से वनस्पति, वनस्पति से ओषधी, ओषधी से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष की उत्पत्ति हुई है। अतएव पुरुष ही अन्न-रसमय शरीर-विशिष्ट

जीवरूप में प्रतीयमान हो रहा है। इसी के शुक्र और शोणित का योग होने से पञ्चभूतात्मक स्थूलदेह की उत्पत्ति होती है। स्थूलदेह से यह बोध होता है :—

पञ्चीकृत महाभूतकार्यं जन्मादि
षड्भावविकारं स्थूलशरीरम्।
—पञ्चदशी

पञ्चीकृत क्षिति, अप्, तेज, वायु और आकाश इन पञ्चमहाभूतों के कार्य और पुण्य-पापमय कर्म के लिए जन्म प्रभृति और बाल्य, कौमार, यौवन, प्रौढ़, वार्धक्य और जरारूप विकारयुक्त जो शरीर है उसी का नाम स्थुलदेह है। पिता-माता के द्वारा खाये अन्न से शुक्र एवं शोणित के योग द्वारा यह षट्कोण विशिष्ट उत्पन्न हुआ है। इसमें मातृज और पितृज षड्विध भाव विद्यमान हैं। यथा :—

पितृभ्यामशितादन्नात् षट्कोषं जायते वपुः।
स्नायवोऽस्थीनि मज्जा च जायन्ते पितृतस्थता॥
त्वङ्मांसशोणितानीति मातृतश्च भवन्ति हि।
भावा स्युः षड्विधास्तस्य मातृजाः पितृजास्तथा।
रसजा आत्मजाः सत्त्वसंभूताः स्वात्मजास्तथा॥

अर्थात् पितामाता के भक्षण किए हुए अन्न से इस षट्कोण विशिष्ट शरीर की उत्पत्ति होती है, इसमें स्नायु, अस्थि और मज्जा ये सब पिता से उत्पन्न होते हैं और त्वक्, मांस एवं रक्त माता से मिलता है। इसलिए इस शरीर के विषय में मातृज, पितृज, रसज, आत्मज, सत्त्व सम्भूत और स्वात्मज ये षड्विध भाव माने गये हैं। इनमें शोणित, मेद, प्लीहा, यकृत्, गुह्यदेश, हृदय, नाभि आदि समस्त कोमल उपाङ्ग मातृज भावापन्न हैं, श्मश्रु, रोम, केश, स्नायु, शिरा, धमनी, नख,

दन्त, शुक्र आदि पितृज भावापन्न है। शरीरोपचिति अर्थात् उत्पत्ति काल मे शरीर की स्थूलता, वर्ण, क्रमशः शरीर की वृद्धि, अवयवों की दृढ़ता, अकार्पण्य, उत्साह; तृप्ति, बल आदि रसज अर्थात् सप्तधातुओं के अन्यतम धातुज भाव हैं। एवं इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, धर्म-अधर्म, भावना, प्रयत्न, ज्ञान, आयु एवं इन्द्रिय ये सब आत्मज अर्थात् प्रारब्धकर्मज भाव हैं।

इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक् ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों के ग्राह्य विषय हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और कथन, ग्रहण, गमन, मलत्याग और रमण ये पाँचों इन कर्मेन्द्रियों की क्रियायें हैं। मनः कर्म और ज्ञानेन्द्रिय दोनों के बीच का अन्तरिन्द्रिय है एवं मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त इन चारों को अन्तःकरण कहा जाता है। इनमे भी सुख दुःख मन के विषय एवं स्मृति, भय, कल्पनादि मन की क्रियायें हैं। इसी प्रकार निश्चयात्मक वृत्ति को बुद्धि, "अहं मम" इत्याकार वृत्ति को अहंकार एवं अतीत विषयों की स्मरणात्मक वृत्ति को चित्त कहते हैं। यह सत्त्व नामक अन्तःकरण सत्त्व-रजः और तमोगुण के भेद से तीन प्रकार का है, अतएव पूर्वोक्त सत्त्वज भाव भी तीन ही प्रकार का है। इनमें आस्तिक्य, मनोनैर्मल्य और मुख्यरूप से धर्म के विषय में प्रवृत्ति आदि सात्त्विक अन्तःकरण से उत्पन्न होते हैं। काम, क्रोध, लोभ और लज्जादि रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। इनका राजस-सत्त्वज भाव है। निद्रा, आलस्य, अनवधानता और वञ्चना प्रभृति तमोगुण से उत्पन्न होते हैं। अतः ये तामस-सत्त्वज भाव हैं।

देहो मात्रात्मकस्तस्मादादत्ते तद् गुणानिमान्।

यह देह मात्रात्मक है, अर्थात् यह अपने उपादान और पञ्चभूतों के तादात्म्य से उत्पन्न हुई है। अतएव उपादानीभूत प्रत्येक भूत के गुणों को ग्रहण किये हुए हैं। यथा :—आकाश से यह देह शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय

( कान ) और वक्तृत्व ( वाणी ), कर्मकुशलता, लघुत्व और धैर्य एवं बल इन गुणों को ग्रहण करती है। वायु से स्पर्श त्वगिन्द्रिय ( त्वचा ), उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, गमन, प्रसारण, कर्कशता और प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, धनञ्जय और देवदत्त इस प्रकार के वायु-विकार और लघुता इन उन्नीस गुणों को ग्रहण करती है। अग्नि ( तेज ) से चक्षुरिन्द्रिय, श्यामिकादि रूप, शुक्लरूप, भुक्त पदार्थों की परिपाकशक्ति, स्फूर्ति, क्रोध, तीक्ष्णता कुशलता, ओज सन्ताप, पराक्रम आदि समस्त गुण प्राप्त होते हैं। जल से शरीर के षड्विध-रस; रसेन्द्रिय; धारणा शक्ति, शौर्य, स्नेह, द्रव्य, घर्म (पसीना) और शरीर की मृदुता ये समस्त गुण ग्रहण किये गये हैं। पृथ्वी से गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, स्थिरता, धैर्य, गुरुत्व; त्वक्, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्रधातु की उत्पत्ति हुई है। *

---

* स्थूलदेह के भौतिक धर्म इस प्रकार हैं :—

अस्थिमांसंनखञ्चैव त्वग्लोमानि च पञ्चमः।
पृथ्वी पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते।
शुक्रशोणितमज्जा च मल-मूत्रञ्च पञ्चमः।
अपां पञ्चगुणाः प्रोक्ता, ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
निद्राक्षुधातृष्णा चैव क्लान्तिरालस्य पञ्चमम्।
तेजः पंचगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते।
धारणं चारणं क्षेपः संकोचः प्रसारस्तथा।
वायोः पंचगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
कामः क्रोधस्तथा मोहो लज्जा लाभश्च पञ्चमः।
नभः पंचगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
पञ्च तावाद् भवेत् सृष्टिस्तावात् तत्त्वं विलीयते।
पञ्चतत्त्वात् परं तत्त्वं तत्त्वातीतं निरञ्जनम्॥

—ज्ञानसंकलिनी तन्त्र, १०-१९

भौतिक देह को कार्यक्षम बनाने के लिए नाभिकन्द से अगणित नाड़ियाँ उत्पन्न होकर समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर्यन्त गमन करती हुई उन उन स्थानों के कार्य सम्पादन करती हैं। यथा :—

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कल्पयोनिः खगाण्डवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥

—गोरक्षसंहिता, २०

मेढ्रदेश से ऊपर और नाभि के नीचे खगाण्डवत् जो कल्पयोनि है, उसी से बहत्तर हजार नाड़ियाँ उत्पन्न हुई हैं। किन्तु समस्त शरीर में साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ हैं। यथा :—

सार्द्धं लक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम् ।

—शिवसंहिता, २।१४

ये साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ उत्पन्न होकर शरीर के सभी भागों में फैल गई हैं और वस्त्र के ताने ( सूत ) की तरह ओत-प्रोत भाव से व्याप्त हो रही हैं। इसी कारण इन सब नाड़ियों को वायु संचार-रक्षिका अथवा भोग-वहा नाड़ियाँ कहा जाता है। मनुष्य के अस्थिमय देह पर ये सब नाड़ियाँ इस प्रकार फैली हुई हैं कि जिससे अस्थियाँ जाल से घिरी हुई प्रतीत होती हैं। यथा :—

यथाश्वत्थदले तद्वत् पद्मपत्रेषु वा सिराः।
नाड्यस्त्वेतासु सर्वासु विज्ञातव्यास्तपोधने ॥

—योगी याज्ञवल्क्य, ४।४५

पीपल या कमल का पत्ता सूखकर जीर्ण हो जाने पर उनमें जिस प्रकार सिराजाल दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार यह जीवदेह भी नाड़ी समूह द्वारा परिव्याप्त हो रहा है। *

---

* देह के ये सब तत्त्व मेरे बनाये हुए "योगीगुरु" नाम ग्रन्थ में विस्तार के साथ बताये गये हैं। साधक उक्त ग्रन्थ का अवलोकन कर लाभ उठावें।

वायु से इस शरीर में दश प्रकार के वायु विकार उत्पन्न हुए हैं, उनमें प्राण वायु मुख्यतम है। क्योंकि केवल इस प्राण वायु के वृत्ति भेद द्वारा यह प्राण वायु ही विविध नामों से संकल्पित हुई है।

निःश्वासोच्छ्वास रूपेण प्राणकर्म समीरितम्।
अपानवायोः कर्मैतद्विण्मूत्रादिविसर्जनम्॥
हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्मेति चेष्यते।
पोषणादि समानस्य शरीरे कर्म कीर्तितम्॥
उद्‌गारादिगुणो यस्तु नागकर्म समीरितम्।
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुत्तृष्णे कृकरस्य च।
देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्राकर्मेति कीर्तितम्।
धनञ्जयस्य शोकादि सर्वकर्म प्रकीर्तितम्॥

—योगी याज्ञवल्क्य ४।६६-६९.

अर्थात् प्राणवायु ही शब्दोच्चारण, निःश्वास और प्रश्वास का कारण है। यह प्राणवायु कण्ठ से लेकर नाभि पर्यन्त फैली हुई है और नासिका-रन्ध्र, नाभिदेश और हृदय में विचरण करती है। अपानवायु गुदा, मेढ़, कटि, जंघा, उदर, नाभि कण्ठ, उरु एवं जानुदेश में अवस्थित है। इसके द्वारा मल-मूत्रादि विसर्जन क्रिया सम्पादित होती है। व्यानवायु चक्षु, कर्ण, गुल्फ, जिह्वा एव नासिका देश में अवस्थित है। इसके द्वारा प्राणायाम के विषय में कुम्भक, पूरक और रेचक आदि कार्य होते हैं। समान वायु शरीर वह्नि (अग्नि) के साथ मिलकर सारे शरीर में व्याप्त हो रही है और शरीरस्थ बहत्तर हजार नाड़ियों में विचरण करती रहती है। यह वायु भुक्त ( खाये हुए ) और पीत ( पीये हुए ) पदार्थों के रसों को लाने और ले जाने का कार्य कर देह की पुष्टि का साधन करती है। उदानवायु पाद-हस्त एवं शरीर के सन्धि-स्थान में रहकर शरीर को ऊपर उठाने या उत्क्रमणादि कार्य सम्पादन करती है। पूर्वोक्त नागादि पञ्च उपवायु त्वक्, मांस, रक्त, अस्थि, मज्जा और स्नायु प्रभृति

धातुओं का आश्रय लेकर स्थित हैं। इन पञ्चवायुओं में नागवायु द्वारा उद्गार ( डकार ) और हिचकी, कूर्म द्वारा निमेष (पलक डालना) उन्मेष (आँखें खोलना) और कटाक्षादि, कृकर द्वारा क्षुधा-पिपासा, देवदत्त द्वारा आलस्य, निन्द्रा एवं जृम्भणादि और धनञ्जय द्वारा शोक हास्यादि क्रियायें सम्पादित होती हैं। अतएव वायु द्वारा ही समस्त कार्य सम्पादन होते हैं। अस्थि, मांस, शिरा, मेद, मज्जा और नाड़ी विशिष्ट यह जड़देह केवल एक वायु की सहायता से ही कर्मोपयोगी हो सकती है। इसी कारण वायु को जीवरूप बतलाया गया है।

एते नाडीसहस्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः।

—गोरक्षसंहिता, ३१०

अर्थात् यह प्राणवायु ही हजारों नाड़ियों में जीवरूप से विचरण करती है।

यावद्वायुस्थितो देहे तावज्जीवितमुच्यते।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निबन्धयेत्॥

—योगशास्त्र

शरीर में जब तक वायु विद्यमान रहती है, तब तक देही (प्राणी) जीवित रहता है। किन्तु जब वही वायु शरीर से निकलकर पुनः इसमें प्रविष्ट नहीं होती तभी प्राणी की मृत्यु हो जाती है। अर्थात् केवल एक चैतन्य के सहयोग से यह जड़ देह में वायु ही जीवरूप से समस्त दैहिक कार्य सम्पादन करती है। देह केवल यन्त्रमात्र ही है और वायु उस यन्त्र को चलाने का उपकरण है।

अन्नं पुंसाऽसितं त्रेधा जायते जठराग्निना।
मलं स्थविष्ठो भागः स्यान् मध्यमो मांसतां व्रजेत्।
मनः कनिष्ठो भागः स्यात्तस्मादन्नमयं मनः॥

—श्रुति

प्राणिमात्र का खाया हुआ अन्न जठराग्नि द्वारा तीन भागों में परि-

णत होता है, उनमें स्थूलभाग मल, मध्यभाग मांस एवं शेषभाग मन के रूप में परिणत होता है। इसी कारण मन को अन्नमय कहा है।

अपां स्थविष्ठो मूत्रं स्यान् मध्यमो रुधिरं भवेत्।
कनिष्ठभागः प्राणःस्यात्तस्मात् प्राणो जलात्मकः॥

—श्रुति

जल का स्थूलभाग मूत्र, मध्यभाग रुधिर और शेषभाग प्राणरूप में परिणत होता है, इसी कारण प्राण को जलमय कहा गया है।

तेजसोऽस्थि स्थविष्ठः स्यान् मज्जा मध्यसमुद्भवा।
कनिष्ठो वाङ्मता तस्मात् तेजोऽन्नात्मकं जगत्॥

तेज अर्थात् घृतादि का स्थूलभाग अस्थि, मध्यभाग मज्जा और शेषभाग वागिन्द्रिय में परिणत होता है। इसी से वागिन्द्रिय को तेजोमय कहा गया है। इसी प्रकार रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि और अस्थि से मज्जा बनती है। साथ ही मांस से नाड़ी और मज्जा से वीर्य की उत्पत्ति होती है। शरीर में वात, पित्त और कफ ये तीन धातुओं के नाम से अभिहित होती हैं। वात, पित्त और कफ ये तीनों धातुएँ सत्त्व, रजः और तमोगुणयुक्त होकर ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के रूप में इस स्थूलदेह की सृष्टि, स्थिति और लय की अवस्था में क्रमशः परिणत कर देती हैं।

# ब्रह्म और जीव में विभिन्नता

वेदान्त के मतानुसार ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है और न हो सकता है; इसी कारण वेदान्त में कहा गया है कि :—

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—छान्दोग्योपनिषद्

वृक्ष, लता, नदी, पर्वत, जीव, जन्तु, ग्रह, नक्षत्रादि जो कुछ भी वस्तुएँ हमें पृथ्वी पर दिखाई देती हैं, वे सब ब्रह्ममय हैं। क्योंकि ब्रह्म के

अतिरिक्त अन्य वस्तु कहाँ से आ सकती है ? सृष्टि के पहले जब कुछ नहीं था, तब केवल परब्रह्म ही पूर्णभाव से सर्वत्र विद्यमान था। उसने इच्छा की कि मैं अनेक होऊँ और वह अनेक हो गया। अतएव यह जगत् भी ब्रह्म-वस्तु है और हमारी आत्मा भी अविद्याऽवच्छिन्न ब्रह्मात्मा। जब मनुष्यरूपी अविद्याच्छन्न ब्रह्म तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेता है तभी वह अपने को सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म कहने लगता है। इस प्रकार अपने को ब्रह्म के रूप में निश्चित करने की क्षमता प्राप्त होने का नाम ही मुक्ति है।

यद्यपि सृष्टि से पूर्व परब्रह्म के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं थी और एकमात्र वही पूर्णभाव से अनन्त देश पर अधिकार किये हुए विद्यमान था। इसी प्रकार जो भी इस जगत् के समस्त उपादानों को उसने बाहर से सञ्चय नहीं किया और उसकी इच्छा से उसी की शक्ति द्वारा यह सब उत्पन्न हुआ है और वह इनका सर्वस्व है, तथापि पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, चन्द्र-सूर्य प्रभृति जो कुछ भी यहाँ दिखाई देता है वह सभी जड़ और जीवभावापन्न ब्रह्म हैं। इस बात पर सहज विश्वास नहीं किया जा सकता। क्योंकि अनन्त ज्ञानमय ब्रह्म स्वेच्छा से ही इस समय इस मर्त्यलोक में संसारताप से तापित होकर जीविका के लिए सदसत् कार्यों का सम्पादन करता है। इस बात पर सहसा कौन विश्वास कर सकता है ?

मैं "स्वयं ही"—ब्रह्म हूँ, यह कठोर सत्य है, किन्तु माया परिशून्य "मैं" ब्रह्म हूँ और मायोपाधिक "मैं" ही जीव। जीव में चैतन्य और चैतन्यचालकशक्ति विद्यमान है। चैतन्य ईश्वर और चैतन्यचालक-शक्ति माया है। जिस प्रकार वासना के सहयोग से जीव अनेक प्रकार क्रिया-परतन्त्र हो रहा है, उसी प्रकार माया के सहयोग से चैतन्य नाना क्रियामय होकर जगत् और जीवरूप में प्रकाशित हो रहा है। जीव माया से अधिष्ठित है और चैतन्य मायामुक्त ब्रह्म है।

जो भी चैतन्य और माया विभिन्न पदार्थ नहीं हैं, किन्तु विभिन्न क्रियामय अवश्य हैं। चैतन्य के जड़भाव में रूपान्तरित होने से जड़ और चैतन्य मध्यवर्ती दोनों की सम्मिश्रण चैतन्य प्रकाशित शक्ति को माया अथवा ईश्वर वासना कहते हैं। यदि चैतन्य क्रियायुक्त अवस्था में न हो तो माया चैतन्य में लय हो जाती है। माया के विलीन होते ही जगत् का भी लय हो जाता है। अतएव चैतन्य को क्रियायुक्त एवं प्रगट करने के लिए काल और सत् ये दो नित्य ईश्वरांश चैतन्य से जिस स्थूल अवस्था को उत्पन्न करते हैं, वही माया अथवा प्रकृति है। अतएव केवल चैतन्य ही वासना में प्रवर्तित होता है। सूर्य जिस प्रकार अपनी शक्ति से स्थूलभूतरूप में जल वर्षा करता और सूक्ष्मभाव से उसे ग्रहण करता है—उसी प्रकार ईश्वर भी वासना संयुक्त होकर जीव बना है, किन्तु वासना विमुक्त होने पर फिर वह अपने पूर्व स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। ईश्वर चैतन्य का भण्डार है। उसकी सक्रियभाव या वासना उसी में लीन होती या हो सकती है। जिस अंश में वासना या जगत् नहीं है, वही अंश नित्य और सर्वाधाररूप में वर्तमान है। यह बात हम पहले ही कह चुके हैं कि साधन-चतुष्टय-सम्पन्न हुए बिना इन सब विषयों की धारणा नहीं हो सकती। यथार्थ में आत्मा एक है, अनेक नहीं। एक ही आत्मा मन के अनेकत्व को नानारूप में प्रगट करती है। अतएव जीव असंख्य होते हुए भी आत्मा असंख्य नहीं हो सकती। एक ही आत्मा देह के आवरण में अनेक रूपों में भेद-प्राप्ति की दृष्टि से विराजित है। एक दीपक के जलाने या बुझा देने से जिस प्रकार अन्य दीपक जलते या बुझ नहीं जाते, उसी प्रकार एक व्यक्ति के बन्धन या मोक्ष से दूसरों का बन्धन या मोक्ष नहीं हो सकता। मन प्रत्येक शरीर में भिन्न होता है, अतएव ब्रह्म और जीव एक है। यथा :—

ईश्वरेणैव जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते।
विवेके सति जीवेन हेयो बन्धः स्फुटीभवेत्॥

—द्वैतविवेक

एक एवं अद्वितीय ब्रह्म के कार्य-कारणभाव से जीव और ईश्वरभेद से दो प्रकार की उपाधियाँ उत्पन्न हो गई हैं। कारणभावजन्य अन्तर्यामी ईश्वरोपाधि एवं कार्यभावजन्य अहंपदवाच्य-जीवोपाधि निर्मित हुई हैं। ब्रह्म अद्वैत होते हुए भी कार्य-कारणजन्य द्वैतरूप में प्रतीयमान होता है। इस द्वैतभाव के निवारण का उपाय है विवेक। जीव को ज्ञान हो जाने पर जीव और ईश्वररूपी उपाधि का नाश होकर केवल शुद्धचैतन्य शेष रह जाता है। वही शुद्धचैतन्य अद्वैत ब्रह्म है। इस प्रकार अद्वैत ब्रह्मज्ञान होने से ही संसार बन्धन से मुक्तिलाभ किया जा सकता है। महाप्राज्ञ श्री दत्तात्रेय ने कहा है कि :—

तत्त्वमस्यादि वाक्येन स्वात्मा हि प्रतिपादितः।
नेति नेति श्रुतिर्ब्रूयादनृतं पाञ्चभौतिकम् ॥

—अवधूतगीता, १।२५

"तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों द्वारा आत्मा को सिद्ध किया जाता है और "नेति नेति" अर्थात् यह नहीं, वह भी नहीं इत्यादि वाक्यों द्वारा इस मिथ्याभूत पाञ्चभौतिक जगत् का निरसन करके श्रुति वाक्यों ने केवल एक परिशुद्ध आत्मा का ही प्रतिपादन किया है। अतएव हम ही ब्रह्म एवं वह ब्रह्म भी हम हैं। इसमें रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं है, क्योंकि ऐसा न होने पर—"अहं ब्रह्मास्मि" "तत्त्वमसि" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि महावाक्यों का विरोध हो जायगा। शास्त्रों ने तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ किया है :—

तत्त्वंपदार्थौ परमात्मजीविका-
वसीति चैकात्म्यमथानयोर्भवेत्,
प्रत्यक्परोक्षादिविरोधमात्मनो-
विहाय संगृह्य तयोश्चिदात्मताम्।
संशोधितां लक्षणया च लक्षितां,
ज्ञात्वा स्वमात्मानमथाद्वयो भवेत् ॥

—रामगीता, १२।२६

'तत्' शब्द का अर्थ है परमात्मा और 'त्वं' शब्द का अर्थ है जीवात्मा। इन "तत्" और "त्वं" पद का ऐक्य अर्थात् परमात्मा के साथ जीवात्मा का जो ऐक्य है वह 'असि' पद द्वारा साधित होता है। यदि यह कहा जाय कि सर्वज्ञ परमात्मा के साथ अल्पज्ञ जीवात्मा का ऐक्य कैसे हो सकता है? तो उत्तर में यह कहना पड़ेगा कि "तत्" और "त्वम्" पदार्थस्वरूप ईश्वर और जीव की परोक्षता एवं सर्वज्ञता तथा अपरोक्षता और अल्पज्ञता आदि के रूप में जो विरुद्धांश है, उनको परित्याग कर 'त्वं' पद का शोधन करके लक्षणद्वारा लक्षित ईश्वर और जीव के अविरुद्ध अंशरूप चित् पदार्थ मात्र को ग्रहण करने से ब्रह्मचैतन्य एवं जीवचैतन्य में से केवल एक चैतन्य ही शेष रह जाता है। अतएव चैतन्य की दृष्टि से ऐक्य सम्भव है।

> इत्थमैक्यावबोधेन सम्यक् ज्ञातं दृढ़ं नयै:
> अहं ब्रह्मेति विज्ञानं यस्य शोकं तरत्यसौ ॥
>
> —शङ्करविजय, ९।४३

ऐक्य शब्द से यह विवेचन करने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि दो वस्तुओं के परस्पर संयोग द्वारा ऐक्य किया जाता है। किन्तु यहाँ ऐक्य का अर्थ है एकताभाव, यह उसके एकस्वरूप का ज्ञान हुआ। जो वस्तु पहले थी और आज भी जो विद्यमान है, उसके विषय में पहली एक और आज की दूसरी ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु भ्रमवश केवल उस एक ही वस्तु को अन्य वस्तु मान लिया जाता है। अतएव ऐसे स्थान पर द्वैतता स्वीकार नहीं की जाती। इस स्थान का ऐक्यज्ञान दो वस्तुओं की एकता नहीं सिद्ध करता केवल स्मरण करा देता है कि पहले जो तुम थे वही तुम इसरूप में आज भी हो। इस प्रकार के ऐक्यज्ञान में जिसको विश्वास या दृढ़ प्रत्यय हो गया है कि "मैं वही ब्रह्म हूँ" उसे किसी प्रकार का शोक नहीं होता। वह समस्त सांसारिक दुःखों से मुक्त

हो जाता है। इस विषय में श्रुतिवाक्य भी है कि "तरति शोकमात्म-वित्" अर्थात् आत्मज्ञानी व्यक्ति को किसी प्रकार का शोक नहीं होता। अतएव "तत्वमसि" महावाक्य द्वारा एक परिशुद्ध आत्मा को ही सिद्ध किया गया है। इससे स्पष्ट प्रगट है कि ब्रह्म और जीव भिन्न नहीं हैं। किन्तु जीव और ब्रह्म के एक होने पर भी उस एकता में भेद है। अतएव भेद का अर्थ समझा देना आवश्यक हो जाता है। भेद तीन प्रकार के होते हैं :--स्वजातीय, विजातीय और स्वगत। यथा :--

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्र-पुष्प-फलाङ्कुरैः।
वृक्षान्तरात् स्वजातीयो विजातीयः शिलादितः॥

—पञ्चदशी

वृक्ष के अपने पत्ते; फल; फूल और अङ्कुर प्रभृति का जो भेद है उसका नाम स्वगतभेद है। आम का वृक्ष भी वृक्षजाति का ही है और कदम्ब का वृक्ष भी वृक्षजाति का--किन्तु इन दोनों में जो भेद है, उसका नाम सजातीय ( समानजातीय ) भेद है। वृक्ष के साथ वृक्षजाति से भिन्न पत्थर आदि अन्यजातीय पदार्थों का भेद है उसका नाम विजातीयभेद है। ऐसी दशा में :--'एकमेवाद्वितीयम्' यह ईश्वर का श्रुति-वाक्य त्रिविध भेद-शून्यता का परिचायक है। ईश्वर का रूप किस प्रकार का है ?—"एक" अर्थात् स्वगतभेदशून्य, "एव" सजातीयभेदशून्य और "अद्वितीय" अर्थात् विजातीयभेदशून्य। अर्थात् स्वगत, सजातीय और विजातीयभेद-परिशून्य परम पदार्थ ही परमेश्वर है। वही सत् है और उसके अतिरिक्त सब असत्। अविद्या के प्रभाव से व्यावहारिक दशा में स्वप्न-सन्दर्शन की भाँति केवल असत् को सत् मान लिया जाता है। जिस प्रकार निद्रा भङ्ग होने पर मनुष्य अपने वास्तविकरूप को जान सकता है और उसके स्वप्न में देखे हुए सुख के राज्यादि वैभव अन्तर्हित हो जाते हैं, उसी प्रकार अविद्या की निद्रा भङ्ग होने पर जीव अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है उस समय हमें यह जानने का प्रयत्न करना

चाहिए कि "ईश्वर और जीव में यह भेद किस प्रकार है ?" अर्थात् उन दोनों ईश्वर और जीव में यह स्वगतभेद है।

अणोरणीयान्महतो महीयान्
आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमीशम् ॥
—श्रुति

आत्मा अणु से भी अणीयान् (सूक्ष्म) है। और महत् से भी महीयान् (बड़ी) है। वह ब्रह्मानन्द में मग्न होकर जीव की गुफा में विराज रही है। वह किसी भी भोग या कर्म क्षय और वृद्धि से रहित एवं महिमान्वित नहीं होता। उसके प्रसाद (कृपा) से जो व्यक्ति उसे जान लेता है, उसके सारे ही क्लेश या पाप नष्ट हो जाते हैं। इससे यह कहा जाता है कि वह ब्रह्म सब जीवों में विद्यमान है। तब वह ईश्वर किस प्रकार का होना चाहिए ? महामुनि पतञ्जलि ने इसका उत्तर इन शब्दों में दिया है :—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
—पातञ्जलदर्शन, १।२४

क्लेश, कर्म, विपाक और आशय जिसे स्पर्श न कर सकें और जो यावन्मात्र संसारी आत्मा और मुक्तात्माओं से पृथक् या स्वतन्त्र है, वही ईश्वर है। ये सब विकार जीव में होते हैं, ईश्वर में नहीं, फलतः ईश्वर जीव की तरह क्लेश भागी नहीं है; वरन् वह सभी क्लेशों से मुक्त है। जीव की तरह उसे फल भोग नहीं करना पड़ता। वह सुख-दुःख, जन्म और आयु नहीं भोगता। वह नित्य, निरतिशय, अनादि और अनन्त है। जीवात्मा जिस प्रकार चित्त के साथ एकी-भूत होकर वासना नामक संस्कार के वशीभूत हो जाता है, उस प्रकार ईश्वर नहीं होता। वह

अचित्त अतएव वासनारहित है। उत्पादित ज्ञान और इच्छा के साथ उसके स्वाभाविक ज्ञान और इच्छा की तुलना नहीं होती। वह एक असाधारण, अचिन्त्यशक्तियुक्त और देहादि से रहित है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञत्वबीजम्।

—पातञ्जलदर्शन, १।२५

उसका ज्ञान निरतिशय होने से वह सर्वज्ञ है, अर्थात् उसमें सर्वज्ञ-भाव अनुमापक परिपूर्ण ज्ञानशक्ति विद्यमान है, किन्तु जीव में वह नहीं है। उसका स्वरूप दूसरे को बोधगम्य कराने के लिए अनुमान की सहायता लेनी पड़ती है। वह अनुमान इस प्रकार है कि—प्रायः सभी मनुष्यों में कुछ न कुछ ज्ञान होता ही है। सभी थोड़ा-बहुत अतीत, वर्तमान और अनागत (भविष्य) को समझते हैं। उसमें कोई अल्पज्ञ होता है और कोई उससे अधिकज्ञ। किन्तु उनकी अपेक्षा भी अधिकज्ञ विद्यमान हैं। जिसके विषय में यह सोचा जाय कि उससे अधिकज्ञ (विशेष जानने वाला) दूसरा कोई नहीं, वही परमगुरु, परात्पर परमेश्वर है। जिस प्रकार अल्पता की अन्तिम सीमा परमाणु होती है और वृहत्ता की चरम सीमा आकाश, उसी प्रकार ज्ञान-क्रियाशक्ति की अल्पता की पराकाष्ठा क्षुद्र जीव है और उसके अतिशय की पराकाष्ठा ईश्वर।

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

—पातञ्जलदर्शन, १।२६

वह पहले ही सृष्टिकर्ता का भी गुरु अर्थात् उपदेष्टा है। उस काल के द्वारा परिच्छिन्न नहीं—सब समय ही उसका अस्तित्व रहता है। यहाँ जीव और ईश्वर में स्वगतभेद है। स्थूलशब्दों में यों कह सकते हैं कि ईश्वर शुद्ध सोना है और जीव मिलावट का सोना। उनमें भी कोई अधिक मिलावट का होता है और कोई कम मिलावट का। किसी का मूल्य कम होता है और किसी का अधिक। किन्तु शुद्ध सोने को भी सोना कहते हैं और

न्यूनाधिक मिलावट वाले को भी सोना ही कहते हैं। फिर भी उनमें भेद तो होता ही है। दोनों में वर्ण ( रङ्ग ) और गुण की पृथक्ता होती है, किन्तु उद्योगी मनुष्य जिस प्रकार परिश्रम या पुरुषार्थ के बल पर अग्नि में गलाकर किन्हीं विशेष पदार्थों की सहायता से उसे फिर पक्का सोना बना लेते हैं। और उस समय शुद्ध सोने के साथ उसका कोई भेद नहीं रह जाता। उसी प्रकार जीव की वासना-कामना के मिश्रण के कारण ब्रह्म से स्वगतभेद सम्पन्न है—किन्तु जब उस मिलावट को ज्ञान की अग्नि में गलाकर अलग कर देते हैं तो मुक्त होने पर जीव जो कि ब्रह्म था—फिर वही ब्रह्म हो जाता है।

तत्वज्ञानी महात्माओं ने ब्रह्म और जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार समुद्र और उसमें उठने वाला बुदबुद, उसी प्रकार ईश्वर समुद्र और जीव बुदबुद है। जल और जलबुदबुद में स्वगतभेद होते हुए भी दोनों एक हैं। ऐसी दशा में हम भी भक्त राम-प्रसाद के साथ गाते हुए यही कहेंगे कि :—

प्रसाद बले या छिलि भाई ताई हबिरे निदान काले।
येमन जले उदय जलबिम्व जल हये से मिलाय जले ॥

रामप्रसाद कहते हैं कि "हे भाई, जो कुछ तुम थे, वही अन्त समय में फिर हो जाओगे। जैसे कि जल में बुलबुला उत्पन्न होता है और फूट कर फिर जल बन जाता है। वैसे ही जीव ईश्वर ( ब्रह्म ) से उत्पन्न होकर फिर उसी में मिल जाता है।

# अनन्तरूप का प्रमाण और प्रतीति

पर-ब्रह्म परमेश्वर अनादि और अनन्त हैं। अनन्त वस्तु की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। उसके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती; क्योंकि अनन्त सत्ता एक ही

हो सकती है; दो नहीं। जो वस्तु अनन्त है; वह सर्वत्र व्याप्त है, उससे भिन्न अन्य किसी वस्तु की स्वतन्त्र-सत्ता स्वीकार करने से उस अनन्त की सर्व व्यापकता सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि जो वस्तु अनन्त है उसी में सभी वस्तुएं अवस्थान करती हैं।

यह बात यदि प्रामाणिक और सत्य हो तो इस परिदृश्यमान जगत् की स्वतन्त्र-सत्ता असत्य माननी पड़ेगी। क्योंकि जगत् उस अनन्त सत्ता से भिन्न कैसे हो सकता है? यदि यह कहा जाय कि जगत् स्वतन्त्र पदार्थ है तो इसी के साथ हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि परब्रह्म अनन्त नहीं है। अतएव इस बात को मानना ही पड़ता है कि जगत् ब्रह्म में अवस्थान करता है। एक ब्रह्म ही विश्वव्यापी होकर समस्त पदार्थों में ओत-प्रोत हो रहा है। इस युक्ति को किसी भी न्यायद्वारा खण्डन नहीं किया जा सकता। जो लोग यह कहते हैं कि परमेश्वर सर्वव्यापी है और यह जगत् उससे स्वतन्त्र एवं भिन्न पदार्थ है, वे लोग वस्तुत: परमेश्वर की अनन्त-सत्ता का अस्तित्व और उसकी सर्वव्यापकता को स्वीकार नहीं करते हैं। अतएव जब कि उसे सर्वव्यापी और अनन्त कह दिया गया है, तो जगत् की स्वतन्त्र और विभिन्न सत्ता अस्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। अतएव यदि ब्रह्म अनन्त हो तो हमें यह अवश्य कहना पड़ेगा कि यह जगत् और ब्रह्माण्ड भी उसका शरीर एवं रूप है, वह अनन्त विश्व की वस्तुरूप में अवस्थित है और यह अनन्त विश्व उसी में अवस्थान करता है। जो अनन्त है, वह अवश्य ही अनादि होना चाहिए। क्योंकि जिसका आदि ( आरम्भ ) होता है, उसकी सीमा और इतिश्री अवश्य होती है, किन्तु अनन्त की सीमा या इति नहीं हो सकती। अतएव अनन्त पदार्थ अनादि होना चाहिए। उस अनन्त पदार्थ का ही विकास और देह यदि यह विश्व हो तो अवश्य ही यह विश्व भी अनादि होना चाहिए, साथ ही यह विश्व उस अनादि और अनन्त नारायण के रूप से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। क्योंकि भगवान् व्यासदेव ने महाभारत के शान्तिपर्व,

मोक्षधर्म के १८२ ( द्व्यशीत्यधिकशततम् ) वें अध्याय में ब्रह्म का रूप इस प्रकार वर्णन किया है :—

"पर्वतसमूह उसकी अस्थि के समान हैं और मेदिनी ( पृथ्वी ) उसके मेद और मांस तुल्य है। चारों समुद्र रुधिर तुल्य एवं आकाश उदर के समान है। समीरण निःश्वास, तेज अग्नि, स्रोतस्वती—समस्त ( नदियाँ ) सिरायें एवं चन्द्र-सूर्य उसके नेत्रद्वय के रूप में परिणत होने पर उसका मस्तक आकाश मण्डल में और पदद्वय भूमण्डल पर तथा हाथ दिशाओं में अवस्थान करेंगे। भगवद्गीता में भी व्यासदेव ने वासुदेव की विराट् विश्वमूर्ति का वर्णन इसी प्रकार किया है :—

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥
अनेक वक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतो मुखम्॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥
तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥

अर्जुन-उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव! देहे सर्वांस्तथाभूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशि-सूर्य-नेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥

—गीता ११।९-२०

हिन्दूधर्मशास्त्रों में पौराणिक भाषा में नारायण का विश्वरूप इसी प्रकार वर्णन किया गया है। उन शास्त्रों के मतानुसार इस तरह नारायण ही शुद्ध अनादि और अनन्त नहीं हैं, वरन् जो विराट् विश्व नारायण का रूप और देह है वह ( विश्व ) भी अनादि और अनन्त है। अर्थात् विश्व अनादि और अनन्त है तो यह संसार भी अनादि और अनन्त होना चाहिए। इस प्रकार संसारस्थजीव-स्रोत उस अनादि और अनन्त-देव का स्थूलशरीर मात्र ही हो सकता है। इस संसार का जीवस्रोत अनन्त परम्परा से चला आ रहा है। उसके आदि ( आरम्भ ) की कल्पना अनुमान से ही हो सकती है, न्याय और प्रमाण द्वारा वह सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि जीव-स्रोत के आदि अनुसन्धान करने पर हमें अनन्तवंशपरम्पराओं तक पहुँचना होगा और फिर भी उसके आदि को न खोज सकेंगे। संसार के जीवस्रोत का अवलम्बन करते हुए हम कितने ही ऊँचे क्यों न उठें, किन्तु अन्त को अनन्त देशमें ही हम

मिल जाते हैं। इसीलिए कहना पड़ता है कि जीवस्रोत और संसार अनादि है। उद्भिद-जीवों को देखिए तो वे भी अनादि हैं। आप किसी वृक्ष के आदि को तो खोज देखिए ? बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है और वृक्ष से बीज। अर्थात् वृक्ष और बीज चक्र की तरह घूमते रहते हैं। यदि पहले बीज की कल्पना की जाय तो उससे भी पहले वृक्ष का अस्तित्व मानना पड़ेगा और यदि पहले वृक्ष को माना जाय तो उसका मूल बीज को मानना पड़ेगा। ठीक उसी प्रकार मनुष्य के आदि ( आरम्भ काल ) का पता लगाना भी एक कठिन प्रश्न बन गया है। भूमिष्ठ होने ( जन्म लेने ) से पूर्व जीव जरायु में वर्तमान था और उससे पहले वह शुक्र और शोणित में बीजरूप से वर्तमान था। वे शुक्र और शोणित दो ही जैविक ( जीवयुक्त ) पदार्थ से परिपूर्ण होते हैं। इन जीवयुक्त पदार्थों के मिलन और मिश्रण से बीज की उत्पत्ति होती है; अतएव बीज से पूर्व जीवयुक्त पदार्थ विद्यमान था। वह जीवयुक्त पदार्थ और कोष-समूह पिता-माता के शरीर में विद्यमान था। वे स्वतः जिस रूप में उत्पन्न हैं, हमारे माता-पिता भी उसी रूप में उत्पन्न हुए थे। हम माता-पिता के आत्मज हैं। शरीर से ही शरीर की उत्पत्ति हुई है। शरीर वस्तु के विना शरीरीपदार्थों की उत्पत्ति कभी संभव नहीं। जिस प्रकार उद्भिज में बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार मनुष्य से बीज और बीज से पुनः मनुष्य की उत्पत्ति होती है। आज जिस प्रकार से मनुष्य उत्पन्न होता है। उसी प्रकार हजारों वर्ष पूर्व से उत्पन्न होता चला आ रहा है। इस नियम में न तो कोई बाधा पड़ी और न पड़ सकती है। अतएव मनुष्य के आदि ( आरम्भ ) की खोज करने पर प्राकृतिक नियमानुसार अनन्त पर्याय सामने खड़े हो जायेंगे। मानव-परम्परा में अनेक श्रेणी के मनुष्यों का जन्म हो चुका है और आज भी उस परम्परा का अन्त नहीं है। यदि दश हजार वर्ष पूर्व मनुष्य की उत्पत्ति हठात् शून्य से ही सम्भव होती तो वह आज भी हो सकती है। किन्तु आज तो कोई भी शून्य से जन्म

लेता देखने में नहीं आता। इसलिए ऐसी कल्पना केवल मूर्ख द्वारा ही हो सकती है। प्राकृतिक नियम का व्यतिक्रम कभी नहीं हुआ और न आगे कभी हो सकता है। जो बात मनुष्य के विषय में यथार्थ है, वही अन्य जीवों के विषय में भी कही जा सकती है। अतएव जीव को अनादि मान लेना पड़ता है। यह जीव समूह उस अनन्त देव के अनन्त विश्व में लीन हो रहा है। वह जिस रूप में लीन हो रहा है उसे हम मनुष्य के उदाहरण से बता सकते हैं। क्योंकि जो बात मनुष्यजीव की है, वही सभी जीवों की हो सकती है।

जिसे हम अपना शरीर कहते हैं उसकी सीमा कहाँ है? क्योंकि स्थूलदेह तो हमारी सीमा हो नहीं सकती, क्योंकि हम तो अनन्त देश में लीन हो रहे हैं। महासागर में एक छोटा-सा द्वीप भी जिस प्रकार उसका एक अङ्ग मात्र होता है, उसी प्रकार हम भी अनन्त देश के इस महासागर के एक क्षुद्रतम द्वीप मात्र हैं। हमारे बाहर चारों ओर आकाश है और आभ्यन्तर में भी देहमय आकाश है। बाहर का आकाश हमारी देह में भीतर ही भीतर अनुप्रविष्ट हो गया है। हमारा स्थूलदेह छिद्रमय है, अस्थियां छिद्रमय और नाड़ियां भी है। देह का प्रत्येक अंश और उस अंश का भी प्रति अंश और उसका भी अणु छिद्रमय है। किन्तु देह की तरह परमाणु छिद्रमय नहीं है। ऐसी दशा में हमारे किस भाग में आकाश नहीं है? अर्थात् वह हमारे सभी भागों में विद्यमान (वतमान) हैं। वह आकाश ही तो अनन्त आकाश में आकर मिल रहा है। अतएव निस्संकोच यह कहा जा सकता है कि हम अनन्त आकाश से मिले हुए हैं।

हम वायुसागर से वेष्टित (घिरे हुए) हैं। इस वायुसागर में हम एक छोटे से द्वीप हैं। कोरे द्वीप ही नहीं हैं, वरन् इस द्वीप के स्तर-स्तर में वायु प्रविष्ट हो चुकी है, वायु ही इस द्वीप का अंग है। हमारे शरीर के किस भाग में वायु नहीं है और क्या वह वायु से मिली हुई नहीं है? बाहर की वायु का अन्त कहाँ हो सकता है? कौन कह सकता है

कि अनन्तदेश किस पदार्थ से परिपूर्ण है। जो वायुसागर अथवा तत्सम पदार्थ अनन्तदेश में व्याप्त हो रहा है और जो क्रमशः घनीभूत होकर हमारे शरीर को स्पर्श कर रहा है; वह वायु देह के भीतर समग्र भाग को आकाशदेश से पूर्ण करके हमें अनन्त वायुसागर से मिला रही है। मानव शरीर में प्रविष्ट होकर वह प्रति लोमकूप-द्वारा देहाभ्यन्तर में पहुँचने के पश्चात् शरीर के प्रति छिद्र और अणुछिद्र को पूर्ण करता हुआ प्रत्येक अस्थि के छिद्र में होकर प्रति नाड़ी के आकाशदेश में रह कर निरन्तर तरङ्ग मालायें उत्पन्न कर रही है। अर्थात् वायुस्रोत केवल इस शरीर के बाहर ही अवस्थान करता हो सो बात नहीं है, वरन् देह के भीतर भी उसका कार्य निरन्तर चलता रहता है। यह स्रोत केवल अनन्त वायुसागर में ही प्रवाहित नहीं होता वरन् देह जगत् के आभ्यन्तरिक आकाश में भी बहता रहता है। वायु हमारे शरीर के अनन्तदेश के साथ मिली रहती है। वह केवल नासिका-रन्ध्र द्वारा ही शरीर के भीतर नहीं जा रही है, वरन् देह के सभी भागों में अनुप्रविष्ट होकर देह की अनन्तदेश के साथ मिलाये हुए है। यह वायु ही शरीर में प्राण है और जीव वायु में नियत अवस्थान करके जीवित रहता है। जिस प्रकार जीव के चारों ओर अनन्त आकाश है, उसी प्रकार अनन्त वायुसागर है और जीव उसमें मिला हुआ है। रस और अग्नि इस वायु द्वारा ही देह में विचरण करते हैं अर्थात् जीव वायुमय है और वायु उसमें ओत-प्रोत हो रही है।

वाह्यजगत् के शुद्ध आकाश और वायु-राशि द्वारा ही हम अनन्त से मिल रहे हैं। ऐसी बात नहीं है, पर अग्नि और रस भी हमें अनन्त के साथ मिलाया है। वाह्यजगत् तो अग्नि-तेज-मय है ही; किन्तु हमारा शरीर भी अग्निमय है। अग्नि हमारे देह को जीवित और उष्ण रखती है। वाहर की अग्नि हमारे देह को कभी गर्म और कभी ठण्डा कर देती है। जो अग्नि बाहर वर्तमान हैं, वही शरीर के भीतर भी है। केवल स्थान-विशेष में अवान्तर कारणवश उसकी न्यूनाधिकता हो सकती है।

निश्वास और प्रश्वास इस अग्नि को प्रज्ज्वलित रखते और उसकी उष्णता को बाहर निकालते रहते हैं। बाहर की गर्मी शरीर के द्वारा अन्तर में प्रविष्ट होती है और वहाँ वह देहाग्नि की रक्षा करती है। शरीर का ताप शरीर के ही द्वारा बाहर की गर्मी से मिला रहता है। बाहर के अनन्तदेश में जो अग्नि कहीं लीनावस्था में और कहीं स्फुरितावस्था में है, उसी प्रकार वह शरीर में भी है। वाह्यजगत् के प्रभाव से कभी तो वह उद्दीप्त और किञ्चित् आविर्भूत होती है। अर्थात् देह के कभी प्रत्येक परमाणु में अग्नि समाश्रित है। वह लीन अग्नि कभी तो उद्रिक्त (प्रगट) और कभी फिर विलीन हो जाती है। जीव अग्निमय होकर अनन्त ब्रह्माण्ड के साथ मिल गया है। जीव के शरीर में प्रतिक्षण जो सृष्टिकाण्ड हो रहा है और जिसके द्वारा अन्न एवं रस का परिपाक होकर देह का पुष्टिसाधन हो रहा है, वह सृष्टि व्यापार भी अग्नि के विना सम्पन्न नहीं हो सकता। सारांश--सृष्टि अग्निमय, ब्रह्माण्ड अग्निमय, अग्नि ब्रह्माण्डमय और अनन्तदेश में विस्तृत है। आकाश, मेघ, विद्युत्, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र सभी में वह परिव्याप्त है अर्थात् एक ही अग्नि जीव को अनन्त के साथ मिलाये हुए है। किन्तु क्या केवल आकाश, वायु और अग्नि ही जीव को अनन्त के साथ मिलाये हुए है ? नहीं, क्योंकि जल और रस भी अनन्त के साथ एकत्रीभूत कर रहे हैं। मनुष्य का शरीर रस-परिपूर्ण है और वायु भी रस से परिपूर्ण है। जो रस वायु को सिक्त करके शीतल करता है, वही रस वायु के साथ देहाभ्यन्तर में प्रविष्ट होकर शरीर को स्निग्ध करता है। शरीर का उत्ताप किसी अंश में उस रस से शान्त होकर मन्दा पड़ जाता है। शरीर वहिर्देशीय रस से प्लावित होकर अनन्त जगत् के रस मिला हुआ है। वायु तरङ्ग उस रस को देह की अन्तरतम शिराओं और प्रत्येक रोमकूप एवं अस्थिमात्र में प्रवाहित कर देती है। जिस प्रकार वायु हमारे शरीर को आकाशदेश से परिपूर्ण करती है, उसी प्रकार वह जागतिक बाह्य-रस को लेकर शरीर के समस्त

परमाणुओं को सिक्त कर देती है। हम जो अनन्तजल का उपयोग करते हैं, वह परिपाक कार्य में व्यवहृत होकर प्राय: समाप्त हो जाता है। किन्तु शरीर का समस्त रस किस प्रकार खर्च हो सकता है? वह रस क्या बाह्य-जगत् का वायु-संचरित नहीं है? अतएव जो रस अनन्त जगत् में वायु के अन्तरतम में प्रविष्ट और सम्बिद्ध हो रहा है, वही हमारे शरीर में भी अनुविद्ध होकर संसार के रस के साथ शरीर को रस-सिक्त करता और अनन्त के रस के साथ शारीरिक परमाणुपुञ्ज को रस-प्लावित कर देता है। शरीर का जल, श्लेष्मा, पित्त और शोणित केवल शुद्धजल द्वारा ही अनुप्राणित नहीं होता, वरन् अनन्त आकाश के रस से भी वह परिवर्द्धित और प्रशमित होता रहता है। शरीर की त्वगिन्द्रिय ( त्वचा ) वातात्मक प्राण द्वारा ही परिवर्द्धित होती है। फलत: जल, वायु, और अग्नि निरंतर जीवों को शरीर में अवस्थान करके उनकी जीवन-रक्षा ही नहीं करते, वरन् मानवदेह को अनन्तदेश के साथ मिलाये रखते हैं।

इस विवेचन से भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि जल, वायु, अग्नि और व्योम इन चतुर्भूतों द्वारा मानवदेह किस प्रकार उस अनन्त के साथ एकत्व प्राप्त किये हुए हैं। अब केवल पञ्चमभूत "पृथ्वी" की बात शेष रह जाती है। यदि हमारा यह पृथ्वीतल अनन्त का अंशमात्र हो, यदि पृथ्वीदेश सच्छिद्र आकाशमय हो, यदि आकाशमय भूमण्डल वायु द्वारा परिपूर्ण हो और यदि अग्नि पृथ्वी के प्रत्येक स्तर में विलीन हो जाय तो यह कठोर मेदिनी-मण्डल अपनी कठोर सत्ता के साथ मिला हुआ कैसे रह सकता है? और हमारा यह शरीर जो कि पृथ्वी का अंश मात्र है उसकी यथार्थता में क्या सन्देह हो सकता है? यदि यह देह पृथ्वी का अंश है और पृथ्वी यदि अनन्त विश्व का अंश है तो हमारे शरीर को अनन्त विश्व का अंश बताने से कौन इन्कार कर सकेगा? इस प्रकार भूमण्डल यदि विश्व के साथ एक है, यदि अनन्तविश्व भूमण्डल को अपने

साथ मिलाये रख सकता है, तो यह मनुष्य देहरूप भूमण्डल का अंश भी अनन्तदेश के साथ अवश्य ही मिला हुआ होना चाहिए। भूमण्डल में पञ्चतत्त्व ही केवल घनीभूत हो रहे हैं। जिस प्रकार मानवदेह इन्द्रियात्मक पञ्चभूतों की घनीभूत मूर्ति है, भूमण्डल भी उसी प्रकार अनन्तदेश की घनीभूत मूर्ति है। तब तो ब्रह्माण्ड के अनन्त राज्य एवं अनन्त आकाश में इस प्रकार की करोड़ों घनीभूत मूर्तियाँ होनी चाहिए; क्योंकि जिस प्रकार अनन्तविश्व की इयत्ता नहीं है, उसी प्रकार गगनदेश की ज्योतिराशियों की सीमा भी नहीं हो सकती। अनन्त आकाश में स्थान-स्थान पर ये समस्त घनीभूत मूर्तियाँ स्थापित और भासमान हो रही हैं। अनन्तदेश का जो अंश पृथ्वीतल से निकटवर्ती है और उससे जो सूक्ष्म-भूत समुदाय उत्पन्न हुआ है, उसीके घनीभूत होने से पञ्चभूतात्मक पृथ्वी और उस पर रहनेवाले पञ्चभूतात्मक प्राणि-पुञ्ज की सृष्टि हुई है। यह पञ्चभूत समुदाय पृथ्वी के पञ्चीकृत भूत-समूह से विकीर्ण होकर अनन्तदेश में कहाँ तक फैल चुका है, इसे ठीक तरह से कौन बता सकता है? इसी प्रकार उस सीमा से परे भी इस भूत-समूह ने दूसरा कौन-सा आकार धारण कर लिया है; इसे भी कौन बता सकता है? साथ ही आगे चलकर ये पञ्चभूत फिर किस किस आकार को धारण करके किस लोक में घनीभूत होकर जा पहुँचेंगे, इसे भी केवल अनन्तदेव ही जान सकता है। इस समस्त लोकमण्डल में देवतागण किस प्रकार सूक्ष्माकार में परिणत हुए होंगे इसे भी कौन जान सकता है? कुछ भी हो और अनन्तदेश किसी के भी द्वारा परिपूर्ण क्यों न हो, किन्तु जब कि यह भूमण्डल उसका कणमात्र है, तो उसमें भूमण्डलस्थ प्राणिपुञ्ज अवश्य ही अनन्तदेश के साथ मिले हुए होंगे। खुद भूमण्डल ही जब उस अनन्त का कणमात्र है और भूमण्डल के प्राणी-समूह भी जब उस भूमण्डल के कणमात्र हैं, तब यह कहने में कोई बाधा ही नहीं पड़ सकती कि वे प्राणिपुञ्ज भी अनन्तदेश के अनन्त क्षुद्र कण

ही हैं। इसी प्रकार समग्र मानव-कुल भी क्या भूमण्डलस्थ प्राणिपुञ्ज का अति क्षुद्र अंश नहीं है? और मानवजाति जब कि भूमण्डलस्थ प्राणि-समूह का कण (अंश) मात्र है, तब इस बात के लिए और किस प्रमाण की आवश्यकता है—कि मानव कुल अनन्त के कितने क्षुद्रतम कण का अंश मात्र हैं। अनन्त के साथ तुलना करने में इन कणों की कोई गिनती नहीं हो सकती और जिसकी गणना नहीं हो सकती वे यदि परमाणुवत् अनन्त विश्व के साथ एक शरीर में मिल जायँ तो इसमें आश्चर्य जैसी बात ही क्या है? समग्र मानवजाति के हम कितने क्षुद्र अंश हैं? हमारे देह का एक परमाणु हमारे ही विशाल शरीर का जितना सूक्ष्म अंश है, उतने ही अल्प अंश हम मानव समाज के हो सकते हैं। उस दशा में अनन्तदेश में हमारा स्थान कहाँ और क्या हो सकता है? जब कि समग्र मानवजाति ही अनन्त के न जाने किस किस कोने में पड़ी हुई हैं, तब हमारे स्थान का तो पता ही क्या लग सकता है? अर्थात् हम तो केवल यही कह सकते हैं कि हम अनन्त में कहाँ हैं? हमारी प्रतिध्वनि भी यही सुनाती है कि हम अनन्त में कहाँ हैं? यथार्थ में अनन्त में हम कहाँ लीन हो रहे हैं, कल्पना द्वारा भी इसे नहीं बताया जा सकता! हम अनन्त से उत्पन्न एवं अनन्त में मिल जाने वाले अनन्त-धाम के यात्री हैं और अनन्त में हम लीन हो जायेंगे।*

यह अनन्तविश्व ब्रह्म की व्यक्तावस्था मात्र है। अनन्त आकाश अनन्तदेश और अनन्तकाल के रूप में है। भगवान् उस अनन्तदेश और अनन्तकाल में सृष्टि, स्थिति और प्रलयरूप से ओत-प्रोत है। जो स्वयं अनन्त है उसका रूप भी अनन्त होना चाहिए। तब हमें यह विश्व खण्डित आकार में क्यों दिखाई देता है? केवल विज्ञान चक्षुओं का अभाव होने

---

* जिस भूमण्डल पर मनुष्य-जीव अवस्थित हैं, उस पर जो अनन्त आकाश है, उसका विशद वर्णन जानने के लिए श्री कालीप्रसन्न सिंह द्वारा अनुवादित महाभारत के मोक्षपर्व को देखना चाहिए।

से ही मनुष्य रज और तमोगुणी होकर स्थूल-दृष्टि हो गया है, अतएव उस स्थूल-दृष्टि से सब कुछ परिच्छिन्न ही दिखाई देता है अर्थात् स्थूल-दर्शन से अनन्त की प्रतीति नहीं हो सकती। बाह्य-विज्ञान उस अनन्त का आभास मात्र करा सकता है। अध्यात्म विज्ञान से मनुष्य की जो अन्तर्दृष्टि प्रस्फुटित होती है, उसमें सम्यक् दर्शन उत्पादित होने पर अनन्त की पूर्ण प्रतीति एवं उसका साक्षात्कार भी हो सकता है। वेद वेदान्त ने इसी अध्यात्म-विज्ञान को प्रगट किया है, साथ ही मानव समाज को एक नई दृष्टि प्रदान की है। उसी का नाम ज्ञानचक्षु या देवनेत्र है। स्थूल-दृष्टि से जगत् में सब कुछ परिच्छिन्न ही दिखाई देता है। इसीलिए मानव जाति को सुख-दुःख का अनुभव होता है। किन्तु ये सुख-दुःख और कुछ भी नहीं केवल उस अनन्त नित्यानन्द का परिच्छिन्न ज्ञानमात्र ही है। परिच्छिन्न का अर्थ है खण्डित सुख और सुख का अभाव दुःख, निरवच्छिन्न सुख नहीं। वह इस कारण कि—तब तक अनन्त का ज्ञान नहीं होता, अर्थात् उसी ज्ञान के होने पर अनन्त सुख-स्वरूप ब्रह्मचैतन्य का ज्ञान होगा और उससे स्वयं ही उस अनन्त-सुख-स्वरूप ज्ञान की उपलब्धि होगी। क्योंकि हम अनन्त से भिन्न नहीं हैं। हमें अनन्त सुख का ज्ञान हो जाने पर फिर सुख परिच्छिन्न नहीं हो सकता। यह सुख विषयभोग में लिप्त होने से विकार और इन्द्रियों की उत्तेजना के कारण सुख निरन्तर ही दुःख द्वारा परिच्छिन्न होता है। इस सुख-दुःख का समुचित ज्ञान नहीं होने पर चित्त में प्रसन्नता का आविर्भाव कभी नहीं हो सकता। जो लोग इन्द्रिय एवं विकारों के संयम-साधन द्वारा विषयामोद से चित्त को चिरकाल के लिए हटा लेते हैं और जो माया-ममता से मुक्त होकर सर्व सभी कार्यों को निष्कामभाव से करने का अभ्यास करते हैं तथा जिन्होंने विषयसुख की कामना का परित्याग करके प्रगाढ़ ईश्वरानुराग से ईश्वर में ही आत्मनिवेदन किया है, उन्हीं को अनित्य सुख-दुःख का समत्वज्ञान हो सकता है। इस प्रकार के सुख-दुःख-समत्वज्ञान की साधना का मार्ग ही हिन्दूधर्म की साधन-प्रणाली

है। इसी कारण हिन्दूधर्म की साधन-प्रणाली मनुष्य को नित्य ही प्रसन्न चित्त बनाकर आनन्दधाम में पहुँचाती है और उसी को ही मानवात्मा की मुक्ति कहा जाता है। मुक्ति का अर्थ है परिच्छिन्न वा भेदज्ञान अथवा परिच्छिन्न या भेददृष्टि से मुक्त होना। इस मुक्ति के साथ लेने पर फिर कभी परिच्छिन्न ज्ञान या भेददृष्टि उत्पन्न नहीं हो सकती। उस दशा में मनुष्य अनन्तज्ञान और अनन्तसुख में पहुँच जाता है, साधक उस समय स्पष्ट अनुभव करता है कि :—

स्वयमन्तर्बहिर्व्याप्य भासयन्निखिलं जगत्।
ब्रह्म प्रकाशते वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत्॥

—आत्मबोध, ६२

जिस प्रकार अग्नि गर्म-लोहपिण्ड के अन्तर और बाह्य में व्याप्त होकर उसे प्रकाशित करते हुए स्वयं भी दीप्तिमान् होती है उसी प्रकार ब्रह्मवस्तु समस्त पदार्थों के अन्तर्बाह्य में व्याप्त होकर अखिल संसार को एक-आसन ( एकत्र ) करके स्वयं प्रकाशित होती है।

बहिरन्तर्यथाकाशं सर्वेषामेव वस्तुतः।
तथैव भाति सद्रूपो ह्यात्मा साक्षी स्वरूपतः॥

जिस प्रकार आकाश इस चराचर वस्तुसमूह के बाह्य और आभ्यन्तर में अवस्थान करके समस्त पदार्थों के आधाररूप से प्रकाशित होता है, उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड का जो साक्षीस्वरूप परमात्मा है, वह भी सत्तारूप में इसके अन्तर्बाह्य में अवस्थान करके आकाशादि समस्त ब्रह्माण्ड के आधाररूप में प्रकाशित हो रहा है।

# समाधि-अभ्यास

भक्ति और श्रद्धा के साथ प्रतिनियत तत्त्वविचार करने से ब्रह्मज्ञान प्रगट होता है। अतएव हमें यह देखना चाहिए कि 'तत्त्वविचार'

क्या वस्तु है ? हम कौन हैं और कहाँ से इस लोक में आये हैं और आगे चलकर फिर किस स्थान में जायेंगे, ये सब प्रश्न स्वतः ही मन में उदित होते हैं और विचार पूर्वक इनकी मीमांसा करने को ही 'तत्त्व-विचार' कहते हैं। यथा :—

को नाम बन्धः कथमेष आगतः;
कथं प्रतिष्ठाऽस्य कथं विमोक्षः।
कोऽसावनात्मा परमः क आत्मा,
तयोर्विवेकः कथमेतदुच्यताम् ॥

—विवेकचूड़ामणि, ५१

बन्धन क्या है ? और यह किस प्रकार उपस्थित होता है तथा किस प्रकार उसकी स्थिति होती और किस प्रकार उससे मुक्ति होती है ? आत्मा क्या है और अनात्मा क्या ? जीवात्मा क्या और परमात्मा क्या ? जीवात्मा और परमात्मा का भेद-विचार किस रूप में किया जाता है ? इन सब बातों को कृपा कर हमें समझाइये।

कथं तरेयं भवसिन्धुमेतत् का वा गतिर्मे कथमस्त्युपायः।
ज्ञानेन किञ्चित् कृपयैव मां त्वं संसारदुःखक्षतिमातनुष्व ॥

—विवेकचूड़ामणि, ४२

इस संसार-पारावार से हम किस तरह पार उतरें और हमारी गति क्या होगी ? जिससे हमारा भवदुःख-मोचन हो सके, वह उपाय क्या है ? हम अज्ञ हैं। हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। अतएव हे प्रभो ! अपनी कृपा द्वारा हमारी रक्षा कीजिए।

इस प्रकार शिष्य द्वारा सद्गुरु की सेवा में जिज्ञासा की जाने पर उन्होंने संसारदुःख से निस्तार पाने का उपाय इस प्रकार बताया :—

वेदान्तार्थविचारेण जायते ज्ञानमुत्तमम् ।
तेनात्यन्तिकसंसार-दुःखनाशो भवत्यनु ॥

—विवेकचूड़ामणि, ४७

वेदान्तशास्त्र के तात्पर्य्य की आलोचना करने से समीचीन ज्ञान उत्पन्न होता है और उस ज्ञान द्वारा आत्यन्तिक संसार-दुःखों से छुटकारा मिलता है अर्थात् श्रद्धा और भक्तिपूर्वक गुरुवाक्य में विश्वास करके ध्याननिष्ठ चित्त से विचार करने पर ही ज्ञान का उदय होता है और उस ज्ञान से ही मुक्तिलाभ होता है। अतएव हमें यह देखना चाहिए कि श्रद्धा और भक्ति के सहयोग से तत्त्व-विचार किस प्रकार किया जाय ? इसका उत्तर शास्त्रों ने इस प्रकार दिया है :—

किमिदं विश्वमखिलं किं स्यामहमिति स्वयम् ?
विचारनिरतस्यैतदसदेव भवेज्जगत् ॥

—योगवाशिष्ठसार, ५

यह अखिल ब्रह्माण्ड क्या वस्तु है ? और हम स्वयं भी क्या हैं ? इस प्रकार निरन्तर विचार करते रहने से यह जगत् असत् प्रतीत होता है।

संसारदीर्घरोगस्य सुविचारमहौषधम् ।
कोऽहं कस्य च संसारो विचारेण विलीयते ॥

—योगवाशिष्ठसार, ७

विचारद्वारा संसाररूपी चिरकालीन दीर्घ रोग पूर्णरूप से निवृत्त हो सकता है। 'मैं कौन हूँ' और 'यह संसार किसका है ?' इस प्रकार विचार में प्रवृत्त होने पर अज्ञान-ग्रस्त संसार यह एक दिन लय हो जाता है।

इस प्रकार विचार में प्रवृत्त होने से ब्रह्म और जीव-जगत् के सम्बन्ध में यहाँ तक जो कुछ आलोचना हुई है, उसके द्वारा प्रमाणित

हो सकेगा कि 'तुम यह नहीं हो, वह नहीं हो और यह जगत् जञ्जाल जो कुछ दिखाई देता है, इसके भी तुम कुछ नहीं हो। तुम तो वह सत्स्वरूप परमात्मा हो, और केवल माया द्वारा समाच्छन्न होने से ही तुम इस प्रकार बन गये हो।' यथा :—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार-विमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥

तुम प्रकृति के गुणद्वारा समावृत होकर "मैं" इस ज्ञान से अपने को सभी प्रकार के क्रिया-कर्मों का कर्ता कहकर अभिमान करते हो। तुम वास्तविक निष्क्रिय, निर्विकल्प और निरञ्जन, उदासीन एवं सत्स्वरूप "तत्त्वमसि" अर्थात् "तुम्हीं वह ब्रह्म हो"।

ऐसी दशा में विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि हम स्वयं ब्रह्म हैं तो फिर हम सक्रिय और जीव-भाव से स्थित एवं ब्रह्म निष्क्रिय तथा सत्-स्वरूप में स्थित इस प्रकार परस्पर विरुद्धरूप में क्यों हैं? इसका उत्तर यही हो सकता है कि जीवात्मा और परमात्मा का विरोध केवल उपाधि-जन्य है, यथार्थ में कोई विरोध नहीं है। यथा :—

तयोर्विरोधोऽयमुपाधिकल्पितो,
न वास्तवः कश्चिदुपाधिरेषः।
ईशाद्यमाया महदादिकारणं,
जीवस्य कार्यं शृणु पञ्चकोषम्॥

—विवेकचूड़ामणि, २४५

परमात्मा और जीवात्मा में यह जो विरोध दिखाई देता है, वह उपाधि कल्पित है। यथार्थ में इनमें कोई विरोध नहीं है। महत् आदि का कारण माया ईश्वर की उपाधि एवं अविद्या का कार्य पञ्चकोष जीव की उपाधि है।

एतावुपाधी परजीवयोस्तयोः,
सम्यक् निरासेन परो न जीवः ।
राज्यं नरेन्द्रस्य भटस्य खेटक-
स्तयोरपोहे न भटो न राजा ॥१॥

—विवेकचूड़ामणि, २४६

माया और पञ्चकोष इन दो के निराकृत होने से ईश्वर एवं जीस्वरूप में जो उपाधिद्वय हैं, उनका भी पूर्णरूप से निराकरण हो जाता है। जिस प्रकार राज्य के कारण राजा और गदा के कारण योद्धा की उपाधि घटित होती है, किन्तु जैसे राज्य एवं गदा-रहित होने पर राजा और योद्धा में दोनों ही समान हो जाते हैं, उसी प्रकार ईश्वर और जीवरूप उपाधि-रहित होने से दोनों ही तुल्य हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्ममात्र शेष रहते हैं।

अतएव यहाँ हमें यह देखना चाहिए कि किस उपाय से इस उपाधि का निराकरण करके केवल सत्स्वरूप ब्रह्मप्रतिपादित हो सकता है? वेदान्तशास्त्र के "अध्यारोप" और "अपवाद" न्यायद्वारा समस्त उपाधियों का निरसन एवं तीनों प्रकार के सम्बन्धद्वारा समस्त "तत्वमसि" पद का ऐक्य किया जा सकता है। पहले कहा हुआ ब्रह्मवाद अर्थात् निर्गुण ब्रह्म से प्रकृति और पुरुष का उद्भव होकर जो जीव और जगत् सृष्ट हुआ है, उसके सम्बन्ध में जो आलोचना की गई है, उनके द्वारा मिथ्याभूत पाञ्चभौतिक जगत् का निरसन करके एक परिशुद्ध आत्मा का ही प्रतिपादन किया जाता है। अतएव चारों साधन से युक्त साधक यदि भक्ति और श्रद्धा के द्वारा नियमित रूप से इस प्रकार तत्त्वविचार में प्रवृत्त रहें तो क्रमशः ब्रह्मज्ञान प्रगट हो सकता है। किन्तु समाधियोग के बिना ब्रह्म का स्वरूपबोध नहीं हो सकता। प्रकृति और पुरुष का एकात्मभाव केवल समाधि की अवस्था में ही अनुभव हो सकता है।

समाधिस्थ योगी के सिवाय अन्य किसी को भी ब्रह्म का स्वरूपबोध नहीं हो सकता और न ब्रह्मज्ञान ही उत्पन्न हो सकता है। यथा :—

समाधियोगैस्तद्वेद्यं सर्वत्र समदृष्टिभिः।
द्वन्द्वातीतैर्निर्विकल्पैर्देहात्माध्यासवर्जितैः ॥

—महानिर्वाणतन्त्र, ३।८

जो शत्रु और मित्र को समान समझते हैं, सुख-दुःख के द्वन्द्व से परे एवं संकल्प-विकल्प से रहित आत्माभिमान हीन हैं, वे ही समाधियोग द्वारा ब्रह्मस्वरूप को प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

वीतराग-भयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ॥—श्रुति

जिनके राग, भय, क्रोध आदि सभी प्रकार के दोष दूर हो चुके हैं और जो वेदों के अर्थ का तत्त्व जानते हैं, उन समस्त विवेकी मुनियों ने निर्विकल्पक अद्वय आत्मा को जान लिया है। इस आत्मतत्त्व को जान लेने से द्वैतप्रपञ्च का उपशम हो जाता है। रागद्वेषादिशून्य, वेदार्थ-तत्पर योगिगण ही परमात्मा को जान सकते हैं, उनसे भिन्न जिनका चित्त रागद्वेषादि दोषों से कलुषित है, वे कभी इस आत्मतत्त्व के अधिकारी नहीं हो सकते। क्योंकि :—

भ्रान्तिज्ञानं स्थितं बाह्ये सम्यक् ज्ञानञ्च मध्यगम्।
मध्यान् मध्यतरं ज्ञेयं नारिकेल-फलाम्बुवत् ॥

—गोरक्षसंहिता, ५।१२६

बाह्य जगत् केवल भ्रान्तिज्ञान से पूर्ण है। इसे अतिक्रम करके अन्तर्जगत् में प्रविष्ट होने से प्रकृत ज्ञान की उपलब्धि होती है। उसे मध्यम ज्ञान को अतिक्रम करके मध्यतर ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान-प्राप्त किया जाता है। यही ज्ञान योगियों का ज्ञेय है। जिस प्रकार नारिकेलफल का बाहरी दृश्य अत्यन्त निकृष्ट अर्थात् केवल कड़ा छिलका होता है, किन्तु

उसे निकाल कर अन्तर में प्रविष्ट होने से यथार्थ फल उपलब्ध होता है और इसके बाद उस फल को तोड़ने से उसका सारांश दृष्टिगोचर हो सकता है। अतएव विकार और इन्द्रियों को वशीभूत न करने से इस परिदृश्यमान जगत् का इस प्रकार मर्मभेद नहीं किया जा सकता।

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रकृत अधिकारी हो जाने पर क्या करने से ब्रह्मज्ञान हो सकता है? इसका उत्तर मिलता है कि "समाधि का अभ्यास करो।" यथा :—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

—गीता, १३।२४-२५

कोई व्यक्ति ध्यानयोगद्वारा आत्मा का दर्शन कर लेते हैं, तो कोई आत्माद्वारा ही आत्मा को देखते हैं, अर्थात् समाधिद्वारा दर्शन करते हैं। अन्यान्य व्यक्ति सांख्ययोगद्वारा अर्थात् प्रकृति-पुरुष के परस्पर भेदज्ञान द्वारा आत्मा का दर्शन करते हैं तो अनेक व्यक्ति कर्मयोगद्वारा अर्थात् भक्तिपूर्वक उपासनाद्वारा आत्मलाभ करते हैं। कई व्यक्ति आत्मा से अवगत न होने पर अन्य आचार्यों से उपदेशवाक्य श्रवण कर उसकी उपासना करते हैं और ये सभी श्रुति-परायण लोग मृत्यु का अतिक्रमण कर मुक्तिलाभ करते हैं।

यहाँ अब हमें यह देखना चाहिए कि ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए अनेक उपाय होते हुए भी वे केवल समाधिगम्य कह कर क्यों प्रतिपादन किये गये हैं? इसकी मीमांसा करते हुए यह कहा जा सकता है कि सभी लोगों की प्रकृति एक समान नहीं होती। अतः योग के विषय में सभी लोग अधिकारी नहीं हो सकते। फलतः जो जिस प्रकार योग्य होता है

वह उसी मत का अवलम्बन करता है। इसी कारण अनेक प्रकार के उपदेश दिये गये हैं। ये सब उपदेश केवल अन्तिम पथ पर पहुँचने के लिए साधन मात्र हैं। अनेक जन्म जन्मान्तर व्यतीत करने पर ही अन्तिम पथ पर पहुँचने के उपयुक्त पात्रता आ सकती है। इसलिए कहा है कि :—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

—गीता, ७।१९

मनुष्य अपने अधिकारानुसार क्रियादिद्वारा अनेक जन्म व्यतीत करने पर प्रति जन्म में किञ्चित् ज्ञानसञ्चय करते हुए अन्तिम जन्म में आत्मज्ञानी होकर वासुदेव अर्थात् परमात्मा को ही इस चराचरात्मक ब्रह्माण्ड के रूप में जान सकता है। अर्थात् इस ज्ञानद्वारा वह मुझे भजता है। किन्तु ऐसे महात्मा दुर्लभ ही होते हैं।

इन सारे उपदेशों का सारांश यह है कि प्रवृत्ति की विद्यमानता में कभी निवृत्तिमार्ग प्राप्त नहीं किया जा सकता, और निवृत्ति हुए बिना ब्रह्मज्ञान लाभ नहीं हो सकता। अतएव निवृत्ति परम आवश्यक है। किन्तु निवृत्ति बलपूर्वक कभी प्राप्त नहीं की जा सकती, वरन् भोगों के पूर्ण हो जाने पर निवृत्ति स्वयं उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार क्षुधा होने पर भोजन की आकांक्षा स्वाभाविक रूप से परित्याग नहीं की जा सकती उसी प्रकार भोगों की समाप्ति हुए बिना निवृत्ति भी स्वाभाविक रूप से नहीं हो सकती। पूर्व जन्मों के जिन समस्त कामनाओं और कर्मों द्वारा भोग की अभिलाषा उत्पन्न होती है; उसका जब तक क्षय नहीं हो जाता तब तक शुभ या अशुभ जो कुछ कर्म किये जाते हैं, उनका फल अवश्य भोगना पड़ता है।*

* अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।—स्मृतिः

प्रारब्धं निश्चयाद् भुङ्क्ते शेषं ज्ञानेन दह्यते।
अनारब्धं हि ज्ञानेन निर्व्वीर्यं क्रियते तथा ॥—श्रुति

प्रारब्धकर्मों को अवश्य भोगना पड़ता है और अनारब्ध कर्म ज्ञानाग्नि द्वारा भस्मीभूत होकर निर्वीर्य हो जाने से समूल नष्ट हो जाते हैं।

इषुचक्रादि दृष्टान्तात् नैवारब्धं विनश्यति।

बाण छोड़ देने पर धानुष्क ( धनुष चलाने वाले ) का वेगपूर्वक-चक्र घुमा देने के बाद उस पर कुम्हार का जिस प्रकार कोई अधिकार नहीं रह जाता, उसी प्रकार ( ज्ञानलाभ मात्र से ही ) प्रारब्ध कर्मों का नाश नहीं हो सकता। यथा :—

एवमारब्धभोगोऽपि शनैः शाम्यति नो हठात्।
भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योऽहमिति भासते ॥

—पञ्चदशी, ७।२४५

तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी प्रारब्ध-कर्मों का भोग हठात् निवृत्त न होकर क्रमशः निवारण होता है और उसके भोगकाल में कभी-कभी अपने मर्त्यत्व ( मरणशीलता ) का ज्ञान भी होता है।

—गीता, ५-११, १२

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म-कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेणः फले सक्तो निबध्यते ॥

—गीता, ५-११,१२

चित्तशुद्धि के लिए कर्मयोगीगण फल की आकांक्षा परित्याग करके शरीर, मन, बुद्धि और ममत्वबुद्धिहीन इन्द्रियद्वारा कर्मानुष्ठान करते हैं

और योगीगण परमेश्वर में एकनिष्ठ होकर कर्मफलत्याग के पश्चात् मोक्षलाभ करते हैं। किन्तु कामनाविशिष्ट व्यक्ति फल की आशा रखने से अवश्य बद्ध होते हैं।

प्रारब्धकर्म विना भोगे क्षीण नहीं हो सकते, इस बात की साक्षी में अनेक शास्त्रवचन मिलते हैं। यथा :—

दशमोऽपि शिरस्ताड़न् रुदन् वुद्ध्वा न रोदिति।
शिरोव्रणस्तु मासेन शनैः शाम्यति नो तदा॥
दशमामृतिलाभेन जातहर्षो व्रणव्यथाम्।
तिरोधत्ते मुक्तिलाभस्तथा प्रारब्धदुःखिताम्॥

—पञ्चदशी

जिस प्रकार दशम व्यक्ति अपने साथी की मृत्यु का निश्चय करके रोता है और अपना सिर पीटता है; तथा उसके बाद उपदेश द्वारा सावधान होकर रोदन से निवृत्त होता और प्रसन्न हो जाने पर भी उसकी शिरोवेदना दूर नहीं होती; वरन् धीरे-धीरे ही वह शान्त होती है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी को जीवन्मुक्ति लाभ हो जाने पर भी प्रारब्ध-कर्मवश सांसारिक सुख-दुःखादि की सहसा पूर्ण निवृत्ति नहीं हो जाती, वरन् क्रम से ही होती है।

रज्जुज्ञानेऽपि कम्पादिः शनैरेवोपशाम्यति।

जिस प्रकार रस्सी में सर्प का भ्रम होने से हठात् उसे सर्प के रूप में देखकर हृत्-कम्पादि होने लगते हैं, किन्तु इसके बाद उसका रज्जुज्ञान होने पर अर्थात् उसे रस्सी समझ लेने पर हृत्कम्पादि सहसा दूर नहीं हो जाते, वरन् धीरे-धीरे ही शान्त होते हैं।

ऐसी दशा में हमें देखना यह है कि ब्रह्म तत्त्व-साधक व्यक्ति प्रारब्ध कर्मों का भोग करके अनारब्ध कर्मों का निष्काम भाव से साधन करेगा। ऐसा होने पर प्रारब्ध-कर्मभोग का क्षय हो जाने पर फिर किसी प्रकार

के फल-भोग की आशंका न रह जाने के कारण उसे पुनर्वार जन्म नहीं लेना पड़ेगा। क्योंकि अनारब्ध कर्म-बीज समूह निष्काम-साधन और ज्ञान के द्वारा दग्ध हो जायगा। अतएव उस दग्ध-बीज से अंकुर न निकल सकेगा। यथा :—

बीजान्यग्न्यपदग्धानि नारोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः॥—श्रुति

जिस प्रकार अग्निदग्ध बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार ज्ञानदग्ध-क्लेशात्मक कर्मद्वारा आत्मा का पुनः जन्म नहीं होता। अर्थात् वह मुक्त हो जाता है।

भर्जितानि तु बीजानि सन्त्यकार्यकराणि च।
विद्वदिच्छा तथेष्टव्या सत्त्वबोधात् न कार्यकृत्॥
—पञ्चदशी

जिस प्रकार किसी भी वृक्ष का बीज अग्निद्वारा भून लेने पर उसमें फिर अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार विषय की सत्ता रहने को भुलाने के लिए ज्ञानी लोगों की इच्छा अन्य कार्य करने की नहीं होती।

"प्रारब्धकर्म के कारण जो कुछ भोग करना हो वह भले ही हो जाय, किन्तु अब ऐसे किसी कामनापूर्णकर्म का अनुष्ठान नहीं करना है, जिसके द्वारा पुनर्जन्म की सम्भावना हो"। इस प्रकार निश्चय करके साधक निष्काम कर्म के अनुष्ठान के लिए सुखासन पर बैठकर श्रद्धा-भक्ति सहित नियमपूर्वक तत्त्व विचार करे। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि "सुखासन" किसका नाम है? इसका उत्तर है "साधकगण बिना किसी कष्ट के जिस आसन से बैठ सके"। यथा :—

अनायासेन येन स्यादजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद् विजानीयात् योगिनां सुखदायकम्॥

जिस तरह बैठकर निरन्तर ब्रह्मचिन्तन किया जा सके उसी सुख-दायक ( बैठने की ) पद्धति का नाम सुखासन है।

अतः साधक सुखासन से बैठकर निरन्तर तत्त्वविचार और ब्रह्म-चिन्तन करता रहे तो इससे क्रमशः मूलाधार स्थित कुलकुण्डलिनी-शक्ति जागृत होकर सहस्रार पद्म में गमन करती है और वहाँ परमशिव के साथ संयुक्त एवं एकीभूत होकर दिव्य-कुलामृत पान किया जा सकता है। उस समय साधक ब्रह्मानन्द-रस का आस्वादन करते हुए समाधिस्थ हो जाता है। वेदान्त के मतानुसार समाधि दो प्रकार की मानी गयी है। एक सविकल्प और दूसरी निर्विकल्प। यथा :—

ज्ञातृ-ज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकारा-कारितायाः चित्तवृत्तेरवस्थानम्। —वेदान्तसार

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों पदार्थों के पृथक्-पृथक् ज्ञान के कारण ही अद्वितीय ब्रह्मवस्तु में अखण्डाकार (निरन्तरभाव) से चित्त-वृत्ति के अवस्थान का नाम सविकल्प समाधि है।

ज्ञातृज्ञानादिभेदलयापेक्षया द्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारिताया बुद्धिवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। —वेदान्तसार

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों पदार्थों के विषय में विभिन्न ज्ञान का अभाव हो जाने से अद्वितीय ब्रह्मवस्तुओं में अखण्डाकार चित्तवृत्ति के अवस्थान का नाम निर्विकल्प समाधि है।

निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो जाने पर प्रकृत अद्वैतज्ञान प्रकाशित होता है और समाधिभङ्ग होने पर साधक अन्तर्बाह्य किसी प्रकार की भ्रान्ति होते नहीं देखता। उस समय सब कुछ उसे पूर्णब्रह्म के रूप में दिखाई देता है और तभी ब्रह्मज्ञान का उपभोग हो सकता है। उस अवस्था में साधकों के ज्ञान का जो नाम हो जाता है, वही—

# ब्रह्म-ज्ञान

समाधि अभ्यास की परिपक्वावस्था मे इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होने से साधक यह कह सकता है कि :

वर्णधर्माश्रमाचारः शास्त्रयन्त्रेण योजितः।
निर्गतोऽसि जगज्जालात् पिञ्जरादिव केशरी ।।

—अज्ञानबोधिनी

तुम वर्णधर्म, आश्रम, आचार एवं शास्त्ररूप यन्त्र से योजित हो। किन्तु पिञ्जरबद्ध केशरी जिस प्रकार पिञ्जरे को तोड़कर बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार तुम भी जगत् जाल को छिन्न-भिन्न करके बाहर निकल सकते हो। तुम्हारा कोई वर्णाश्रम नहीं, कोई धर्माधर्म भी नहीं। जब तक वर्णाश्रम का अभिमान रहेगा, तब तक मनुष्य वेद-विधियों का दास रहेगा। किन्तु वर्णाश्रम का अभिमान दूर होते ही वह वेदों के शिर ( मस्तक ) पर पहुँच जायगा। इसीलिए शास्त्रों ने कहा है कि :—

यावद्देहात्मविज्ञानं बाध्यते न प्रमाणतः।
प्रामाण्ये कर्म-शास्त्राणां तावदेवोपलभ्यते ।।

—अज्ञानबोधिनी

जब तक प्रमाण द्वारा देह का आत्म-भ्रम दूर नहीं हो जाता, तब तक कर्मशास्त्र की प्रामाणिकता प्रतीत होती है। किन्तु जब तुम्हें "मैं देह नहीं हूँ" यह ज्ञान हो जाता है, तब तुम्हारे लिए फिर किसी प्रकार का कर्म करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि :—

ब्रह्मज्ञानपदं ज्ञात्वा सर्वविद्या स्थिरा भवेत्।

ब्रह्मज्ञानरूप परमपद प्राप्त होने से सभी शास्त्र स्थिर और निश्चेष्ट हो जाते हैं। अतएव—

ततो ब्रह्मात्मवस्त्वैक्यं ज्ञात्वा दृश्यमसत्तया।
अद्वैते ब्रह्मणि स्थेयं प्रत्यग् ब्रह्मात्मना सदा ।।

—शंकरविजय, १।४८

ब्रह्मात्म ( ब्रह्म और आत्मा ) वस्तु का ऐक्य जानकार दृश्यवस्तु समूह को असत्य समझने और प्रत्यग् ब्रह्म के रूप में अद्वैतज्ञान रखने से वह ( साधक ) परब्रह्म में स्थित हो जायगा ।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

—श्रीमद्भागवत् १।२।११

तत्ववेत्ता पण्डितगण कह गये हैं कि अद्वैतज्ञान का नाम ही तत्त्व एवं वह ज्ञान ही कहीं ब्रह्म, कहीं परमात्मा और कहीं भगवान् शब्द से अभिहित हुआ है । अतएव अद्वैत ब्रह्मज्ञान ही सत्य एवं उससे भिन्न द्वैतादि ज्ञान मिथ्या और भ्रम युक्त है । यथा :—

अद्वैतमेव सत्यं त्वं विद्धि द्वैतमसत् सदा ।
शुद्धः कथमशुद्धः स्यात् दृश्यं मायामयं ततः ॥
शुक्तौ रौप्यं मृषा यद्वत् तथा विश्वं परात्मनि ।
विद्यते च सतः सत्त्वं नासतः सत्त्वमस्ति वा ॥

—शंकरविजय ९।५१-५२

जिस प्रकार शुक्ति ( सीपी ) में चांदी का भास होना वृथा है, उसी प्रकार परमात्मा में जगत् का ज्ञान मिथ्या है अर्थात् केवल अद्वैतज्ञान ही सत्य एवं द्वैतज्ञान मिथ्या है । क्योंकि शुद्ध सत्स्वरूप ब्रह्म में अशुद्ध असद् रूप जगत् किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? अतएव यह परिदृश्यमान मायामय जगत् केवल भ्रमात्मक ही है । यथार्थ में जगत् नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु प्रारम्भ से ही नहीं है ।

बाध्यत्वान्नैव सद्वैतं नासत् प्रत्यक्षभानतः ।
न च सत् सद्विरुद्धत्वादतोऽनिर्वाच्यमेव तत् ॥
यः पूर्वमेक एवासीत् सृष्ट्वा पश्चादिदं जगत् ।
प्रविष्टो जीवरूपेण स एवात्मा भवान् परः ॥

द्वैतवस्तु बाधा के कारण सत् नहीं है और प्रत्यक्षभान होने के कारण असत् भी नहीं है एवं सत् के विरुद्ध कहते हुए भी सत् नहीं है। अतएव वह अनिर्वाच्य है अर्थात् सत् या असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जो एक सत् था, उसीने फिर इस सृष्टि की रचना करके स्वयं जीवरूप से उसमें प्रवेश किया है। अतएव वह परमात्मा तुम्हीं हो।

सच्चिदानन्द एव त्वं विस्मृत्यात्मतया परम्।
जीवभावमनुप्राप्तः स एवात्माऽसि बोधतः॥
अद्वयानन्दचिन्मात्रः शुद्धसाम्राज्यमागतः।

—शं० वि० १।५६

तुम्हीं सच्चिदानन्द, किन्तु अपने "परमात्मापन" को भूलकर तुम जीवभाव को प्राप्त हो रहे हो। ज्ञान होने पर वह अद्वयानन्द चिन्मात्र शुद्ध आत्मा तुम्हीं हो, यह भली भाँति समझ सकोगे और शुद्ध साम्राज्य में पहुँच जाओगे।

कर्तृत्वादीनि यान्यासंस्त्वयि ब्रह्मद्वये परे।
तानीदानीं विचार्य त्वं किं स्वरूपाणि वस्तुतः॥

—शं० वि० १।५७

तुम अद्वय ब्रह्म हो, तुम्हारे साथ जो कर्तृत्वादि लगे हुए हैं, उन पर इस समय विचार करो कि वे वस्तुएं यथार्थ रूप में किस प्रकार की हैं?

वस्तुतो निष्प्रपंचोऽसि नित्यमुक्तस्वभावतः।
न ते बन्धविमोक्षौ स्तः कल्पितौ तौ यतस्त्वयि॥

—शं० वि० १।५८

वस्तुतः तुम निष्प्रपञ्च एवं मुक्त हो, तुममें बन्धन या मोक्ष का भाव नहीं है। वह सब तो तुममें केवल कल्पना मात्र ही है।

श्रुतिसिद्धान्तसारोऽयं तथैव त्वं स्वया धिया।
संविचार्य निदिध्यास्य निजानन्दात्मकं परम्॥
साक्षात् कृत्वा परिच्छिन्नाद्वैतब्रह्माक्षरं स्वयम्।
जीवन्नेव विनिर्मुक्तो विश्रान्तः शान्तिमाश्रय॥

इसीको श्रुतिसिद्धान्त वाक्य जानो। इसीलिए तुम अपनी बुद्धि द्वारा विचार और निदिध्यासन करते हुए अपरिच्छिन्न हो, समझो। अद्वैत अक्षर, परमनिजानन्द स्वयं साक्षात् करके जीवन्मुक्त और विश्रान्त होकर शान्ति प्राप्त करो। इस प्रकार की अवस्था में साधक का जो ज्ञान होता है वही ब्रह्मज्ञान है। उस ब्रह्मज्ञान का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है :—

मनोवाक्यं तथा कर्म तृतीयं यत्र लीयते।
विना स्वप्नं यथा निद्रा ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते ॥

—ज्ञा० सं० त० ५।९

मन, वाक्य और कर्म इन तीनों विषयों में जो ज्ञान लय प्राप्त हो जाता है उसी का नाम ब्रह्मज्ञान है। जिस प्रकार स्वप्नरहित निद्रावस्था होती है, ठीक उसी प्रकार अर्थात् सुषुप्तावस्था की ही तरह ब्रह्मज्ञान का स्वरूप होता है।

एकाकी निस्पृहः शान्तश्चिन्तानिद्राविवर्जितः।
बालभावस्तथा भावो ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते ॥

—ज्ञान सं० तन्त्र, ६०

जिस ज्ञान से जीव निःसङ्ग, निःस्पृह, शान्त, चिन्ता और निद्रा-वर्जित होता है और जिससे बालकों की तरह स्वभाव में सरलता आ जाती है, उसी ज्ञान को ब्रह्मज्ञान कहते हैं। भगवान् व्यासदेव ने शुकदेव से कहा है कि :—

भूमिष्ठानीव भूतानि पर्वतस्थो विलोकय।

—महाभारत

अब तुम संसार से मुक्त होकर पर्वतस्थ व्यक्ति की तरह पृथ्वी पर के लोगों से निर्लिप्त रहते हुए उनका अवलोकन करो।

# ज्ञानयोग या ज्ञान की साधना

वैराग्यादि साधनचतुष्टय की प्रतिष्ठा करके वेदान्त वाक्य के विचार को मुख्य अपरोक्षरूप से ब्रह्मज्ञान का कारण बताया गया है। किन्तु जो व्यक्ति पुनः पुनः विचार करके बुद्धि की मन्दता के कारण एवं विषयानुरागरूप प्रतिबन्धक हेतु से अपरोक्षरूप में ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, वे सभी व्यक्ति ब्रह्मविचार के साथ-साथ गुरु के उपदेशानुसार श्रद्धावान् होकर योगाभ्यास करें। यद्यपि प्रकृत ब्रह्मज्ञान को ही शास्त्रों ने योग कहा है; तथापि ब्रह्म में चित्त स्थिर रखने के लिए जिन विघ्नसमूहों का अतिक्रमण करना पड़ता है, और विचार द्वारा जो उसमें असमर्थ होते हैं, वे चित्त के निरोध द्वारा उस विषय में कृत-कार्य या प्राप्ति में कष्ट उठाते हैं। इसी कारण सचराचर के लोग योग-शब्द में प्राण-संरोध का ही निर्देश करते हैं।* वेदान्त मतानुसार योगके पन्द्रह अङ्ग माने गये हैं। यही वेदान्तोक्त राजयोग है। राजयोग के पन्द्रह अङ्ग इस प्रकार हैं :—

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालता।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः॥

---

* योग शब्द से आत्मज्ञान और प्राण निरोध दोनों का बोध अवश्य होता है, किन्तु प्राणसंरोध ही योगशब्द का रूढ़ अर्थ प्राप्त किया है। इस संसार सागर से पार उतरने के लिए योग और ज्ञान ये दो उपाय ही समान एवं समफलप्रद हैं। ऐसी दशा में विचार से अपरिचित कठोरचित्त व्यक्ति के लिए निश्चय-ज्ञान असाध्य है। वे प्राण निरोध के लिए योगाभ्यास करें अर्थात् वेदान्तमतानुसार ब्रह्मविचार वा पञ्चदशाङ्ग विशिष्ट राजयोग के साधन में जो लोग असमर्थ हैं, वे "योगीगुरु और इस ग्रन्थ के तृतीय खण्ड में वर्णित प्राणसंरोध योग का अभ्यास करके आत्मज्ञान प्राप्त करते हुए कृतार्थ हों।"

प्राणसंयमनञ्चैव प्रत्याहारश्च धारणा।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात् ॥

—वेदान्तरत्नावली, २।१०२–१०३

यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयम, प्रत्याहार, आत्मध्यान और समाधि, इन पञ्चदश योगाङ्गों का अवलम्बन करके यथा नियम कार्यानुष्ठान करने से ही आत्मज्ञान लाभार्थी अपना श्रेयः सावन कर सकता है। अतएव गुरु के उपदेशानुसार इन योगों का पुनः पुन: अभ्यास करो। अभी पञ्चदशाङ्ग योग का लक्षण निरूपण किया जाय।

**यम**—आकाश से लेकर देह तक समस्त ब्रह्माण्ड ही "ब्रह्म-स्वरूप" है, इस प्रकार के निश्चित ज्ञान द्वारा चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक्, पाणि, पाद, गुदा उपस्थ और मन इन एकादश इन्द्रियों को शब्दादि स्व-स्व विषयों से निवारित करने का नाम ही 'यम' है। इन्द्रियग्राह्य शब्दादि विषयसमूह विनाशी एवं अतिशय दुःखप्रद हैं। इस प्रकार दोषों को देखते हुए इन्द्रियों को विषयों से निवारित करने से भी 'यम' की साधना हो सकती है।

**नियम**—"मैं असङ्ग और निरिन्द्रिय परब्रह्म हूँ" इस प्रकार का ज्ञान प्रवाह अर्थात् सर्वदा उक्त प्रकार का विश्वास रहने से पूर्व संस्कारों के त्यागपूर्वक ब्रह्मातिरिक्त जगत् के प्रति जो मिथ्याज्ञान होता है, उसी का नाम नियम है। इस नियम-साधन द्वारा परमानन्द की प्राप्ति होती है।

**त्याग**—चिन्मय ब्रह्मतत्त्वानुसन्धान द्वारा घटपटादि समस्त पदार्थों में नाम–रूप की कल्पना का परित्याग करते हुए जो उपेक्षा भाव धारण किया जाता है, उसी का नाम "त्याग"* है।

---

* आत्मतत्त्ववेत्ता महात्मागण इस प्रकार के त्याग को ही यथार्थ

**मौन**--अन्य वाक्य परित्याग करके केवल उस ब्रह्म में वाक्य विन्यास को मौन कहते हैं। "मैं उसी ब्रह्म का स्वरूप हूँ" इस प्रकार सर्वदा मनन करने को भी मौन कहा जा सकता है। जो लोग वाक्य संयम को मौन कहते हैं, वे बालकों या गूंगे की वाक्यहीनता (मूकपन) को क्या कहेंगे? अतएव उल्टी-सीधी बातों को छोड़कर उचितरूप से ब्रह्मतत्त्वानुसन्धान ही मौन है।

**देश**—जिस देश में आदि, मध्य और अन्त में मानव नहीं होते उसे निर्जन देश कहते हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों काल में जनशून्य देश ही योगसाधन के लिए उपयुक्त है।

**काल**—सृष्टि, स्थिति और प्रलय का आधार अखण्डानन्दस्वरूप अद्वय को ही काल के नाम से निर्देश किया जाता है। यह काल ही योग का प्रधान अङ्ग है।

**आसन**—जिसमें समस्त भूत प्रसिद्ध हैं और सिद्ध महात्मागण समाधि का आश्रय करके जिसमें अवस्थित होते हैं, विश्व के उस अधिष्ठानभूत ब्रह्म को ही आसन के नाम से जाना जाता है।

**मूलबन्ध**—जो आकाशादि समस्त भूतों का आदिकारण है, और चित्तबन्धन का भी कारण-स्वरूप है एवं अज्ञान का मूल तथा ब्रह्मप्राप्ति का निमित्त है और एक दृष्टि से जो चित्त के अनुराग का कारण है, वही मूलबन्ध कहलाता है। यही मूलबन्ध राजयोगियों के लिए सेवनीय है।

---

त्याग कहते हैं। अन्यथा लंगोटी पहन कर या नंगे वदन वृक्ष तले आश्रय करने को त्याग नहीं कह सकते। मन की आसक्ति परिहार करने का नाम ही त्याग है। दूसरों के दोषों की खोज करने वाले व्यक्ति संन्यासी को अंगूठी या कपड़े जूता पहने देखकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, उन्हें यह बात स्मरण रखनी चाहिए। महात्मा शंकराचार्य ने मणिरत्नमाला में लिखा है कि "त्याग क्या है?"—समस्त आसक्तियों का परिहार।

**देहसाम्य**—केवल शुद्धवृक्ष की तरह देह को सरलभाव से ( सीधा ) रखने से ही देह की साम्यावस्था नहीं हो जाती, वरन् सर्वभूतों में समदृष्टि रखते हुए ब्रह्म में जो देह लय को प्राप्त करता है, उसी को देह की साम्यावस्था कहते हैं।

**दृक्स्थिति**—दृष्टि को ज्ञानमय करके उस ज्ञानमयी दृष्टि द्वारा इस जगत् को ब्रह्ममय देखना परम उदारदृष्टि कहलाता है। दृष्टि की इस अवस्था को ही दृक्स्थिति कहते हैं।

**प्राणसंयम**—चित्त आदि समस्त भावों को ब्रह्म के स्वरूप में चिन्तन करते हुए सभी प्रकारों से इन्द्रिय वृत्तियों के निरोध को प्राणसंयम या प्राणायाम कहते हैं।* प्राणायाम तीन प्रकार का होता है। यथा—रेचक, पूरक और कुम्भक। इस प्रपञ्च का निषेध अर्थात् मिथ्यात्वरूप में ज्ञान होना ही रेचक प्राणायाम है और 'एक ब्रह्म ही सर्वमय है" इस प्रकार के अद्वैतज्ञान को पूरक प्राणायाम कहते हैं, तथा "सब कुछ ब्रह्ममय है" इस प्रकार का अद्वैत ज्ञान होने पर जो वृत्तिनिरोध होता है, अर्थात् विषयादि की उपेक्षा करके सभी प्रकार से वृत्तियों को उस ब्रह्म में निश्चल रखने का ही नाम कुम्भक प्राणायाम है।

**प्रत्याहार**—घटादि कार्य और शब्दादि विषयों में आत्मा और अनात्मा का अनुसन्धान करके उन सब विषयों में अनात्म भाव को निश्चय करते हुए चिन्मय परमात्मा में जो मन लगाया जाता है, अर्थात्

---

*पतञ्जलि के मतानुसार प्राण और मन के निरोध को प्राणायाम कहते हैं। जो लोग निश्चित रूप से ब्रह्म का अपरोक्षज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे ज्ञानीगण उपर्युक्त मतानुसार प्राणायाम करें। और जो ब्रह्मज्ञान के अधिकारी न हों वे प्राणवायु के संयमरूप प्राणायाम करें। "अयञ्चापि प्रवृद्धानामज्ञानां घ्राणपीड़नम्"—वेदान्तरत्नावली, २।१९०

सभी प्रकार से उस चिन्मय परमात्मा में जो मन की स्थापना की जाती है, उसी का नाम प्रत्याहार है।

**धारणा**—जिन-जिन विषयों में मन मनन करे, उन-उन विषयों में ब्रह्म की सत्ता जानकर उन सबके नाम-रूपादि की उपेक्षा करके ब्रह्म-स्वरूप के ज्ञान में मन को लगाने का नाम धारणा है।

**आत्मध्यान**—सभी प्रकारों की बाधाओं का अतिक्रमण करके देहानुसन्धान का परित्याग करते हुए "मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकार अनुभव कर ब्रह्मरूप में अवस्थान करने का नाम आत्मध्यान है।

**समाधि**—अन्तःकरण से सभी प्रकारों का विषयानुसन्धान निवारण करके निर्विकार चित्त से सर्वतोभावेन अपने को ब्रह्म के रूप में स्मरण करना और सभी प्रकार के प्रपञ्च भाव को परित्याग करने के बाद मे यह द्वैतभाव तक न रखते हुए कि "वह ब्रह्म हमारा ध्येय है और हम उसका ध्यान करते हैं" सर्वदा और सभी प्रकारों से ब्रह्म के साथ अभेद ज्ञान रखने अर्थात् इस प्रकार ब्रह्मानुस्मरण को समाधि कहते हैं।

इस समाधि का नाम ही तत्वज्ञान है। अखंड-आनन्द को देनेवाला ब्रह्मज्ञान मोक्ष प्रदान करता है। अतएव जब तक ब्रह्म के रूप में अवस्थानात्मक समाधि सिद्ध न हो जाय तब तक गुरु की आज्ञानुसार उनकी बनायी हुई पद्धति से योग साधन करना चाहिए। योगसाधन का कभी अनादर नहीं करना चाहिए। समाधि के साधन काल में अनेक प्रकार के विघ्न बलपूर्वक आ उपस्थित होते हैं। यथा—अनुसन्धान रहित होना, आलस्य, भोग-स्पृहा, निद्रा, कार्य। कार्य का विवेचन न करना, विषयानुराग, रसास्वाद अर्थात् ब्रह्मध्यान में किञ्चित् मात्र रस का अनुभव होते ही यह कहकर कि "मैं धन्य हो गया हूँ" साधन कार्य में अनादर एवं राग-द्वेष तथा उत्कट वासना द्वारा चित्त

की विकलता आदि। ये नानाविध विघ्न उपस्थित होकर समाधि साधन में प्रतिकूलता उत्पन्न कर देते हैं, अतएव योगिगण इन सब विघ्नों के निवारणार्थ अवहितचित्त से सर्वदा योगसाधन में तत्पर होते हैं। परम ज्ञानी शंकराचार्य ने कहा है कि :—

भाववृत्याहि भावत्वं शून्यवृत्या हि शून्यता।
ब्रह्मवृत्या हि पूर्णत्वं तथा पूर्णत्वमभ्यसेत् ॥

—वे० र०, २।१२९

वृत्ति अर्थात् मानसिक अनुराग ही जीव के लिए बन्धन और मोक्ष का कारण है। जिसका मन विषयादि में अनुराग रखता है, वह व्यक्ति चिरकाल विषयों में फँसे रहते हैं। किन्तु जिन का मन विषयों का परित्याग करके ब्रह्मचिन्तन में नियुक्त होता है, उसी को मोक्ष मिल सकता है।* जिसकी चित्तवृत्ति घटादि आकार-विशिष्ट भावरूप के अनुगत होती है, उसके मन में वे सभी पदार्थ भावरूप से प्रकाश पाते हैं। जिनका अन्तःकरण शून्यवृत्ति का आश्रय करता है, उसका चित्त शून्यमय हो जाता है और चित्तवृत्ति ब्रह्मस्वरूप की अनुगामिनी होकर वे पूर्ण ब्रह्मत्व लाभ करते हैं। अतएव जिस अभ्यास द्वारा पूर्ण ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है, ज्ञानी व्यक्ति वारम्बार उसी का आश्रय लेते हैं। ब्रह्म में अस्वाभाविक अनुराग न होने पर केवल मौखिक वाग्विस्तार से किसी भी प्रकार की फल सिद्धि नहीं हो सकती। जो लोग ब्रह्मवृत्ति का परित्याग करते हैं, वे वृथा जीवन धारण करते हैं। ऐसे मनुष्य मानवाकार में केवल पशु ही होते हैं।

---

* मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥

—अन्यमनस्क गीता

मुमुक्षु व्यक्ति सर्वदा ब्रह्मतत्पर होकर इस राजयोग की साधना करें। यो लोग सर्वसम्पत्प्रदायिनी ब्रह्मवृत्ति को जानते हैं एवं जानकर उस वृत्ति को वर्धित करते हैं, वे सत्पुरुष ( महात्मा ) और धन्य जन्मा हैं। वे तीन लोकों में पूजा पाते हैं।

ये हि वृत्तिं विजानन्ति ज्ञात्वाऽपि वर्द्धयन्ति ये।
ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते भुवनत्रये॥

—वे० र०, २।१३१

स्वर्ग, मर्त्य और पाताल में ब्रह्मवेत्ताओं से श्रेष्ठ और पूजनीय दूसरा कोई नहीं हो सकता।

# ब्रह्मानन्द

प्रकृत ब्रह्मगतप्राण-साधक साधारण मानव-समूह से उच्च स्थान पर निवास करते हैं। वे जहाँ वास करते हैं, वहाँ रोग-शोक, भय, जरा, मृत्यु, दारिद्रय आदि कुछ भी नहीं होते। वे लोग पृथ्वी पर रहते हुए भी ब्रह्मलोकनिवासी होते हैं, रोगी होते हुए भी बलवान् और स्वस्थ; दरिद्रावस्था में भी परमैश्वर्यवान् और भिखारी अवस्था में भी चक्रवर्ती राजा से कम नहीं होते। श्री शङ्कराचार्य ने कहा है कि :—

श्रीमांश्च को ? यस्य समस्ततोषः।
को वा दरिद्रो हि ? विशालतृष्णः॥—मणिरत्नमाला

धनवान् कौन है ? जो सदैव सन्तुष्ट रहता है और दरिद्र वह जिसकी तृष्णायें बहुत बड़ी होती हैं।* वस्तुतः ब्रह्मज्ञ व्यक्ति साधारण जीवों से इतनी ऊँची अवस्था में होता है कि प्रकृत मनुष्य उनकी उस उच्चता का परिमाण निरूपण करने में सर्वथा असमर्थ होकर प्रायः उसकी अवज्ञा

---

* गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है कि :—

गोधन, गजधन; बाजिधन और रतनधन खान।
जब आवत सन्तोषधन, सब धन धूलि समान॥

करने लगते हैं। प्रगट और अप्रगट रूप से उसकी निन्दा भी करने लगते हैं, यहाँ तक कि उसके प्रति अत्याचार करने में भी आगे-पीछे नहीं देखते। किन्तु इतने पर भी किसी प्रकार वे उसे रञ्चमात्र क्षुब्ध नहीं कर सकते। वे लोग अपने हाथ में शान्तिरूप महाखड्ग द्वारा उनके समस्त आक्रमणों को व्यर्थ कर देते हैं। यथा--

क्षमावशीकृतो लोकः क्षमया किं न साध्यते।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः॥

--महाभारत

क्षमा द्वारा लोग वशीभूत होते हैं, क्षमा द्वारा क्या नहीं हो सकता? जिसके हाथ में शान्तिरूप खड्ग (तलवार) होता है, उसका दुर्जन लोग क्या कर सकते हैं? वस्तुतः अज्ञव्यक्ति उस समय उनका महत्त्व समझ सकें या नहीं, किन्तु स्वर्गस्थ देवता उसे उस अवस्था में पूज्य एवं वन्दनीय ही मानते हैं। यथा :—

यो नात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियं वा
यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात्।
पापञ्च यो नेच्छति तस्य हन्तु-
स्तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम्॥

—महाभारत

जो अत्यधिक तिरस्कृत होंने पर भी रूक्ष वाक्यों का प्रयोग नहीं करता और न अतिशय प्रशंसा के समय ही प्रियवचन कहता है, जो आहत होने पर धैर्य नहीं छोड़ता और हन्ता (घातक) के लिए अमङ्गल की कामना तक नहीं करता, उससे इस संसार में देवता भी स्पृहा करते हैं।

विचारेण परिज्ञात-स्वभावस्योदितात्मनः ।
अनुकम्प्या भवन्तीह ब्रह्मा विष्णिवन्द्रशंकराः ॥

—योगवाशिष्ठ

ब्रह्मविचार द्वारा निज स्वभाव ज्ञात हो जाने पर जिनके हृदय में परमात्मा का प्रकाश हो जाता है उन व्यक्तियों की कृपा की आकांक्षा, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र और शिव भी करते हैं ।

श्रेष्ठ साधक परमात्मा के साथ अपने हृदय का यथार्थ संयोग कर लेने पर अमरत्व प्राप्त कर लेता है अर्थात् स्पष्ट रूप से अपने को अमर समझने लगता है । वस्तुतः जब साधक अपने को चिरकाल के लिए अपने इष्ट देवता के चरणों में समर्पित कर देता है, तभी वह नित्य ( स्थायी ) आनन्द की अधिकारी होता है और उसी समय वह स्पष्ट रूप से देख सकता है कि उसका वह प्रेम और आनन्द अनन्त काल व्यापी, किसी भी समय और किसी देश में भी उसका क्षय या विनाश नहीं हो सकता । इस लोक में रहकर वह जिसके सहवास और प्रेम का उपभोग करता है; मृत्यु के पश्चात् परलोक में जाने पर भी वह उसी के निकट रहकर उसी प्रेम का उपभोग करता है । अतएव उसके सम्मुख मृत्यु भी अपने प्रकृत रूप में उपस्थित नहीं होती अर्थात् वह उसके लिए फिर इह-परकाल के बीच व्यवधान रूप में प्रतीत नहीं होती और तब वह मृत्यु के समय शरीर को सर्प की केंचुली की तरह छोड़ देने के लिए तैयार रहता है । इसी अवस्था को साधक का अमर जीवन अथवा अनन्त, सत्य या नवजीवन लाभ करना कहते हैं जो भाग्यवान साधक इस अवस्था को प्राप्त कर सके हैं, वे आसन्न मृत्यु या दीर्घजीवन दोनों को स्वभाव से देखते हैं । यथा :—

न प्रीयते वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यति ।
नैवोद्विजते मरणे जीवने नाभिवन्दति ॥

ब्रह्मज्ञ व्यक्ति पूजित होने पर भी प्रसन्न नहीं होते और न निन्दित होने पर क्रुद्ध ही होते हैं। वे मृत्यु को निकट देखकर उद्विग्न नहीं होते और न दीर्घजीवन से हर्षित होते हैं।

संसार-सुखासक्त क्षुद्रचित्त व्यक्तिगण अज्ञानरूप बन्धन के कारण धन और पुत्र आदि सांसारिक अनित्य वस्तुओं को प्रकृत सुख की खान समझकर बड़े ही अशान्त चित्त से चिरकाल तक जीवन में उनकी सेवा करते रहते हैं; किन्तु तत्त्वज्ञ पुरुष उन समस्त क्षण-स्थायी वस्तुओं को अत्यन्त दुःखपूर्ण एवं अशान्तिकारक समझ कर उनमें से किसी के लिए भी इच्छा या याचना नहीं करते। यहाँ तक कि सांसारिक व्यक्ति भ्रान्त बुद्धि के वशीभूत होकर जिसे नितान्त रसहीन एवं कठोर जीवन कहते हैं, उसी को शान्तिप्रद और आनन्दपूर्ण जानकर प्राणाधिक प्रयत्न से उसे ( साधक जीवन को ) ग्रहण करने के लिए बाध्य होते हैं। यथा—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ गीता २।६९

अज्ञानी जीवों के लिए परब्रह्म विषयक निष्ठा रात्रि तुल्य होती है ( अर्थात् वे उस विषय में कुछ भी नहीं देख पाते ), किन्तु संयमी व्यक्तियों की बुद्धि उस ब्रह्मनिष्ठा में ही जागृत रहती है। इसी प्रकार जिस विषय सुख में सब प्राणियों की बुद्धिलिप्त रहती है, वही तत्त्व-ज्ञानियों के लिए रात्रितुल्य होते हैं। ( अर्थात् तत्त्वज्ञानी विषय सुखों की ओर दृष्टि नहीं डालते ) विषय सुख के सम्बन्ध में परम भागवत प्रह्लाद ने कहा है कि :—

किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः।
अनर्थैरर्थसंकाशैर्नित्यानन्दमहोदधेः ॥ —भागवत, ७।७।४५

यह समस्त राज्य, सम्पत्ति एवं देह आदि सब नश्वर हैं और वास्तविक अनर्थ ( व्यर्थ ) ही अर्थवत प्रतीत होते हैं। ( अतएव अत्यन्त

तुच्छ हैं )। इन सबसे परमानन्द रस-सागर स्वरूप आत्मा को सन्तोष कैसे हो सकता है ? उन्होंने फिर कहा है कि :—

यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं,
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः,
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥—भागवत, ७।९।४५

दद्रु ( दाद ) प्रभृति चर्मरोग हाथ द्वारा खुजाने से प्रथमतः सुख का अनुभव होने पर भी अन्त में जिस प्रकार दुःख का अनुभव होता है, उसी प्रकारस्त्री -संगादि तुच्छ गार्हस्थ्य सुखों का अवसान भी दुःखमय ही होता है। कामुक पुरुष उस सुख से अन्त में तृप्ति न पाकर यथार्थ में अतिशय दुःख ही भोगते हैं। किन्तु धीर व्यक्ति खुजलाहट की तरह कामाभिलाष को सहन कर लेते हैं।

विषयसुख सहस्रों बार दुःख से आवृत्त होने पर भी उसकी गणना दुःख में ही होती है। भगवान् रामचन्द्र ने कहा है कि—

इयमस्मिन् स्थितोदारा संसारे परिपेलवा।
श्रीमुंने परिमोहाय सापि नूनं न शर्मदा॥

—योगवाशिष्ठ

इस संसार में महान् शोभामयी जो महती श्री ( लक्ष्मी वैभव ) है, वह केवल मोह का कारणरूप है, अर्थात् वह सुख का कारण कभी हो नहीं सकती। देवर्षि नारद ने युधिष्ठिर से कहा है कि :—

शोकमोहभयक्रोधरागक्लैव्यश्रमादयः।
यन्मूलाः स्युर्नृणां जह्यात् स्पृहाम् प्राणार्थयोर्बुधः॥

—भागवत ६।१३।३६

धन और प्राण मनुष्यों के शोक, मोह, भय, क्रोध, अनुराग, दीनता एवं श्रम आदि के मूल कारण हैं। अतएव विद्वान् लोग इन दोनों पदार्थों की स्पृहा त्याग देते हैं।

महामति वेकन (Bacon) ने भी कहा है कि :—I cannot call riches better than the baggage of Virtue."

इसी प्रकार पञ्चदशीकार ने भी कहा है कि :—

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिरक्षणे।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः॥

प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जिस अर्थ के उपार्जन करने में नाना प्रकार के क्लेश उठाने पड़ते हैं और जिसकी रक्षा करने में भी क्लेशों का सामना करना पड़ता है; जिसके नाश से दुःख होता है और खर्च करने पर भी दुःख होता है। अर्थात् जिसके आगमन, स्थिति, व्यय और नाश सभी से दुःख होता है, अर्थात् इनमें से किसी भी दशा में सुख या शान्ति नहीं मिल सकती, उस क्लेशकारी अर्थ (द्रव्य) को धिक्कार है। अतएव :—

आयासात् सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन।
अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम्॥

—अष्टा० सं०, १६-३

विषयवासना के कारण ही सभी लोग दुःख भोगते हैं और फिर भी इस गूढ़ उपदेश को कोई भी नहीं जानता। अतएव जिन्होंने इस उपदेश द्वारा निवृत्तिलाभ की है, वे यथार्थ में धन्य हैं।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ।।
—महाभारत

कामना की पूर्ति के कारण जो पार्थिवसुख होता है अथवा जो स्वर्गीय महत् सुख है, वह तृष्णा-क्षय-जनित विशुद्धसुख के षोडशांश के एक अंश के जितना भी नहीं है ।

प्रकृत ब्रह्मज्ञ साधक के आनन्दोपभोग के विषय में अष्टावक्र ऋषि ने कहा है कि—

आत्मविश्रान्तितृप्तेन निराशेन गतार्तिना ।
अन्तर्यदनुभूयते तत् कथं कस्य कथ्यते ।।
सुप्तोऽपि न सुषुप्तौ च स्वप्नेऽपि शायितौ न च ।
जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः पदे पदे ।।
—अष्टावक्रसंहिता, १८।९३-९४

जो निरन्तर परमात्मा में विश्रामपूर्वक तृप्तिलाभ करता है और जिसने समस्त आशा अर्थात् भोगलालसा का परित्याग कर दिया है, जो किसी भी विषय में कष्ट अनुभव नहीं करता वह अपने अन्तःकरण में जिस आनन्द का अनुभव करता है, उसका वर्णन भी किसी के सम्मुख नहीं किया जा सकता । ऐसा ज्ञानी व्यक्ति सुषुप्ति अवस्था में होते हुए भी सुप्त नहीं होता अर्थात् निद्रा होते हुए भी नहीं सोता । जागृत होते हुए भी जगा नहीं होता, अतएव वह (निरन्तर पूर्ण आनन्द अनुभव करके) केवल पद-पद पर तृप्ति ही लाभ करता है और इसीलिए कहा गया है कि—'नहि तृप्तेः परं फलम्'

तृप्ति से बढ़कर कोई फल नहीं हो सकता। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी उद्धवजी से कहा है कि :—

मय्यर्पितात्मनः सतो निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयात्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद्विषयात्मनाम् ॥
अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥

—भागवत, ११।१४।१२-१३

जो किसी भी विषय की अपेक्षा न रखते हुए मुझमें आत्म-समर्पण कर देता है, वह जिस सुख का अनुभव करता है, वह सुख विषयादि में कैसे मिल सकता है ? क्योंकि :—

"आशा बलवती कष्टा नैराश्यं परमं सुखम्"

आशा ही घोर कष्टदायिनी है और आशा त्यागने में परमसुख है। अतएव जो अकिञ्चन, दान्त (जितेन्द्रिय) शान्त और समचेता है और जो मुझ में ही सन्तुष्ट है, उसके लिए सभी ओर सुख ही सुख है। इस विषय में महात्मा भीष्म को शम्पाक नाम के एक संन्यासी ने कहा है कि :—

आकिञ्चन्यञ्च राज्यञ्च तुलया समतोलयन्।
अत्यरिच्यत दारिद्र्यं राज्यादपि गुणाधिकम् ॥
आकिञ्चन्ये च राज्ये च विशेषः सुमहानयम्।
नित्योद्विग्नो हि धनवान् मृत्योरास्यगतो यथा ॥
नास्याग्निर्न चादित्यो न मृत्युर्न च दस्यवः।
प्रभवन्ति धनत्यागाद्विमुक्तस्य निराशिषः ॥

—महाभारत

राज्य और अकिञ्चनता इन दोनों को यदि तुलादण्ड (तराजू) के दोनों ओर रखकर देखा जाय तो अकिञ्चनता की अपेक्षा राज्यसुख अनेक अंशों में निकृष्ट सिद्ध होता है। विशेषतः इन दोनों में यह एक महान् विलक्षणता दिखाई देती है कि राजा या धनवान् व्यक्ति सदैव ही कालग्रस्त की तरह नितान्त उद्विग्न रहते हैं। किन्तु आशाविहीन मुक्त व्यक्ति धनत्याग के कारण अग्नि, सूर्य, मृत्यु, दस्यु (चोर) या अन्य किसी से भी रंचमात्र भय अथवा दुःख नहीं पा सकता।

महाराज रामकृष्ण की सांसारिक सुखों से नितान्त अलिप्तता नहीं थी, किन्तु जब उन्होंने परमार्थ रस का आस्वादन किया तो वे स्पष्ट शब्दों में कहने लगे कि "इस संसार में परम आनन्द-पूर्वक वही है, जिसने परमानन्दमयी को जान लिया है।*

जिस व्यक्ति के पैर में जूता होता है, उसके लिए समग्र भूमि ही जिस प्रकार चर्मावृत जान पड़ती है, उसी प्रकार उस पूर्णपुरुषो-

---

*साधकाग्रगण्य रामप्रसाद ने भी एक भजन में कहा है कि :— "हे माते ! इस सामान्य धन का मेरे लिए क्या उपयोग है। तेरा दिया धन मुझसे कौन छीन सकता है ? यदि सामान्य धन दिया तो वह घरके कोने में पड़ा रहेगा, किन्तु यदि अपने अभय चरण की भक्ति प्रदान की तो उसे मैं हृदय-पद्मासन पर स्थापित करूँगा।"

सुप्रसिद्ध गोविन्द अधिकारी के उपयुक्त शिष्य "काव्य-कण्ठ" उपाधिधारी साधक श्रीनीलकण्ठ मुखोपाध्याय ने भी कहा है कि :— "यदि पैसा (धन) होने से ही हरि मिलते है, तो फिर कण्ठ से रोते हुए हरि-हरि कहने की क्या आवश्यकता है ? वह नन्दनन्दन पैसे का धन नहीं, वह तो केवल चन्दन तुलसी से ही राजी है"।

त्तम से मन परिपूर्ण हो जाने पर समस्त जगत् सुधारस द्वारा परिपूर्ण हो जाता है। श्रीमद्भारतीतीर्थ ने परितृप्त भूपति के सुख के साथ ब्रह्मज्ञ के सुख की तुलना करते हुए कहा है कि :—

युवारूपी च विद्यावान्नीरोगो दृढ़चित्तवान् ।
सैन्योपेतः सर्वपृथ्वीं वित्तपूर्णां प्रपालयन् ॥
सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नस्तृप्तभूमिपः ।
यमानन्दमवाप्नोति ब्रह्मविच्च तमश्नुते ॥
—पञ्चदशी, १४।२१, २२

युवापुरुष, रूपवान्, विद्वान्, निरोगशरीर, बुद्धिमान् और विपुल सेनायुक्त अथच वित्तपूर्ण ससागरा पृथ्वी का शासन करते हुए सम्यक् रूप से मानवीय आनन्दोपभोग करके तृप्त होने वाला भूपति जिस सुख को प्राप्त करता है; तत्वज्ञानी लोग उसी सुख का निरन्तर उपभोग करते रहते हैं।

निष्कामत्वे समेऽप्यत्र राज्ञः साधनसञ्चये ।
दुःखमासीद्भाविनाशादतिभीरनुवर्तते ॥
नोभयं श्रोत्रियस्यातस्तदानन्दोऽधिकोऽन्यतः ।
गन्धर्वानन्द आशास्ति राज्ञो नास्ति विवेकिनः ॥
—पञ्चदशी, १४।२६-२७

पूर्वोक्त राजा और विवेकी व्यक्ति दोनों में ही इच्छा का अभाव उत्पन्न करनेवाले सुख साधन होते हुए भी राज्यरक्षा के साधनों के सञ्चय के लिए एवं भविष्यत्-विनाश के भय के कारण राजा को दुःख होता है। किन्तु विवेकवान् के लिए दोनों ही अवस्थायें समान होती हैं। अतएव उसके आनन्द को अधिक मानना पड़ता है। महर्षि वशिष्ठदेव ने भी कहा है कि :—

न तथा भाति पूर्णेन्दुर्न पूर्णः क्षीरसागरः ।
न लक्ष्मीवदनं कान्तं स्पृहाहीनं यथा मनः ॥
—योगवाशिष्ठ

पूर्ण चन्द्रमा भी उतनी शोभावान् नहीं जान पड़ता और न परिपूर्ण क्षीरसागर की तरंगें ही उतनी दीप्तिमती होती हैं, जितना स्पृहा (इच्छा) शून्य हो जाने वाले व्यक्ति का मन प्रकाश पाता है।

न च त्रिभुवनैश्वर्यान्न कोषाद्रत्नधारिणः ।
फलमासाद्यते चित्ताद् यन्महत्तोपबृंहितात् ॥
—योगवाशिष्ठ

महाचित्त सम्पन्न व्यक्ति अपने चित्त से जो फल प्राप्त करता है, दूसरों के रत्नपूर्ण भण्डार एवं त्रिभुवन के ऐश्वर्य लाभ से भी वह फल नहीं मिलता।

कल्पान्तपवना वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवा।
तपन्तु द्वादशादित्या नास्ति निर्मनसः क्षतिः ॥

प्रलय मचानेवाली वायु वहती रहे या सातों समुद्र मिल कर एक हो जाय अथवा बारहों सूर्य एक साथ तपा डालें। किन्तु मनोहीन निस्पृह व्यक्ति को ये कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकते।

संसार के सुख मात्र में ही दुःख मिश्रित है, निरवच्छिन्न सुख संसार के किसी भी पदार्थ में नहीं है। किन्तु साधकगण जिस पथ पर गमन करते हैं, उसी में निरवच्छिन सुख होता है। अधिक तो क्या किन्तु जिस मुक्ति-लाभ के लिए साधकगण निरन्तर यत्नशील

रहते हैं, उसे दुःख का भी आत्यन्तिक अभाव हो जाना ही है। यथाः—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। —न्यायदर्शन, १।१।२२

दुःख का जो अत्यन्त विमोचन है, वही अपवर्ग या मुक्ति है।* अतः ब्रह्मानन्द भी मुक्ति का नामान्तर मात्र ही है। विषय सुख के साथ उसका किसी प्रकार भी तुलना नहीं हो सकती। अतएव प्रत्येक साधक को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए अपने-अपने अधिकारानुसार यथासाध्य साधन-भजन करके हृदय में सुख के चिर-वसन्त को प्रगट करना चाहिए और इस प्रकार मानव-जीवन को सफल बनाना चाहिए।

# ब्रह्म निर्वाण

बाह्य और अन्तःप्रकृति को वशीभूत करके आत्मा में ब्रह्मभाव को प्रगट करना ही साधना का मुख्य उद्देश्य है, ब्रह्मनिर्वाण प्राप्ति का एक मात्र उपाय है समाधि। अन्य सब कार्य उसके लिए उत्तेजक या प्रोत्साहक मात्र ही होते हैं।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः।
निर्वाणं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ।।

गुण अर्थात् प्रकृतिदेवी जब पुरुषत्यागिनी होती है, अर्थात् जब वह पुरुष या आत्मा के सन्निधान में महत् और अहंकारादि के रूप में परिणत नहीं होती, पुरुष या चित्त-स्वरूप आत्मा को किसी प्रकार

---

* मुक्ति, तत्सम्वन्ध में विशद आलोचना एवं उसकी साधन-प्रणाली मत्प्रणीत 'प्रेमिकगुरु' ग्रन्थ के जीवन्मुक्ति खण्ड में देखिये।

भी आत्मविकृति नहीं दिखलाती, इस प्रकार जब पुरुष निर्गुण हो जाता है अर्थात् जब प्रकृति और प्राकृतिक विकार आत्मचैतन्य में प्रदीप्त नहीं होते और जब आत्मा में किसी प्रकार भी प्रकृति या प्राकृतिक-पदार्थ प्रतिबिम्बित नहीं होते और जब आत्मा केवल शुद्ध-चैतन्य में प्रतिष्ठित होकर विकारों से मुक्त हो जाती है, उस निर्विकार अवस्था को ही निर्वाणमुक्ति कहते हैं।

विलीन भाव को ही निर्वाण कहा जा सकता है। इस मत के अनुसार ब्रह्मनिर्वाण अनास्वादित मधु के समान है अर्थात् जिसने कभी मधु ( शहद ) का स्वाद न चखा हो,—उसके लिए मधु का मिठास अनिर्वचनीय होता है। उसी प्रकार वह ब्रह्मनिर्वाण को भी नहीं समझ सकता। सारांश यह है कि जिस आत्मा का क्षय या विनाश नहीं होता और जो अजर अमर है, वह लुप्त कैसे हो सकती है ? वह तो स्वयं ईश्वर आनन्दघन ही है। जीव प्रकृति का बन्धन तोड़कर गुणादि से विवर्जित केवल ( शुद्ध ) रूप प्राप्त करके जब ब्रह्मानन्द का उपभोग करता है, तब दुःख उसकी त्रिसीमा में भी नहीं पहुँच सकता। उस समय वह एक अभूतपूर्व शान्ति और आनन्द लाभ करता है और सर्वत्र सभी वस्तुओं में ईश्वर का अवस्थान देखकर सब के मङ्गल साधन में जुट जाता है। उस दशा में उसके सारे सन्देह छिन्न होकर मोहरूप हृदय-ग्रन्थि टूट जाती है और क्रमशः वह ब्रह्मनिर्वाण लाभ कर लेता है अर्थात् वह ब्रह्म में इस प्रकार मग्न हो जाता है कि उसके समस्त पार्थिव सुख-दुःख और आशा कामनादि भाव भी निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं। यथा :—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।<br>
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।।
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।
—गीता, ५।२४-२६

जो व्यक्ति आत्मा में ही सुखी और आत्माराम होकर आत्मा में ही क्रीड़ा करता है तथा जिसकी आत्मा पर ही दृष्टि रहती है, वह योगी ही उक्त प्रकार से ब्रह्म में स्थिति करके ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है। जो निष्पाप हैं और जिनका संशय दूर हो गया है तथा जिनका चित्त वशीभूत होकर जिनकी सारी शक्तियाँ जन हितार्थं तत्पर रहती हैं, वही महात्मा मोक्ष या ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है। काम, क्रोध से विमुक्त ज्ञानयोगी संन्यासियों को जीवित और मृतावस्था दोनों ही दशाओं में ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति होता है अर्थात् वे जीवन्मुक्तरूप से ही संसार में विराजते हैं।

कर्म संन्यासयोग के द्वारा ही इस प्रकार ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त हो सकता है। इस अवस्था में साधक जीवित-दशा में ही ब्रह्म-संस्पर्श लाभ कर सकता है। यथा :—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।
—गीता, ६।२८

योगी व्यक्ति पापरहित होकर आत्मा को सर्वदा योग-युक्त रखने से अनायास ही ब्रह्म-संस्पर्श जनित आत्यन्तिक सुख भोग करते हैं।

ब्रह्म के साथ आत्मा का संस्पर्श होने की बात आर्यभूमि भारत के ऋषि-मुनियों के अतिरिक्त अन्य किसने हमें सुनाई है ? इस ब्रह्म-

संस्पर्श जनित सुख और आनन्द में हमारे सभी पार्थिव भाव नष्ट हो जाते हैं और वही हमारे लिए प्रकृत ब्रह्मनिर्वाण है। किन्तु साधक किस प्रकार ब्रह्मनिर्वाण लाभ कर सकता है; इसे भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि :—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

—गीता, १८।५१-५३

जो विशुद्धबुद्धियुक्त होकर धैर्य द्वारा उस बुद्धि को नियन्त्रित करता है, तथा जिसने शब्दादि विषयों को त्याग कर रागद्वेष दूर कर दिया है और लघुभोजी होकर काय, मन एवं वाक्य को संयत करके नित्य वैराग्य के आश्रय में ध्यानयोग—परायणता स्वीकार की है; इसी प्रकार अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह-त्याग पूर्वक शान्त हो जाता है, वही ब्रह्मभाव को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है।

यहाँ हमें यह देखना चाहिए कि निर्वाण का अर्थ जब शान्त या विलीन हो जाना है, तो साधक किसमें विलीन होगा ? महर्षि वशिष्ठ-देव कहते हैं कि :—

एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश एव च।
यद् यत् सद्विद्यते किञ्चित् तत्रास्थापरिवर्जनम्।

अनास्थैव हि निर्वाणं दुःखमास्थापरिग्रहः ।

—योगवाशिष्ठ

जो जो वस्तुएं सत्‌रूप में विद्यमान हैं, उनसे आस्था त्याग देने से ही मनोनाश एवं अविद्यानाश होता है और यह अनास्थारूप मनोनाश ही निर्वाण है। अतएव अविद्या जनित मन का निर्वापित हो जाना ही आत्मा का ब्रह्मनिर्वाण कहा जाता है। शङ्करावतार शङ्कराचार्य ने "मणिरत्नमाला" में लिखा है :—

कस्यास्ति नाशे मनसो हि मोक्षः ।

अर्थात् किसके विनाश से जीव की मुक्ति होती है ? मन की चञ्चलता के। यथा :—

"मनोलयात्मिका मुक्तिरिति जानीहि शंकरि !"

—कामाख्यातन्त्र, पटल, ८

हे शङ्करि ! जिस अवस्था में मन का लय होता है, उसी को मुक्ति जानो।

मुक्ति की अन्तिम सीमा का नाम ही ब्रह्मनिर्वाण है। जब साधक शान्ति आदि से युक्त होकर परब्रह्म को आत्मस्वरूप में अवलोकन करता है, वही व्यक्ति परमज्योतिस्वरूप अद्वैत ब्रह्म के रूप में—आत्मस्वरूप में—अवस्थिति करता है, उसी का नाम ब्रह्मनिर्वाण है। :—

"इष्टेनिश्चलसम्वन्धो निर्वाणमुक्तिरीदृशी"

—कामाख्यातन्त्र, पटल ८,.

जब साधक ब्रह्मसत्तासमुद्र में मग्न होकर अपनी सत्ता को खो देता है, अर्थात् क्रमशः जब उसकी "निर्वाणं तु मनोलयः" बुद्धि और मन ब्रह्म के ध्यान से सम्पूर्णरूप से विलय को प्राप्त हो जाते

हैं; तभी उसकी यह अवस्था निर्वाण या परममोक्ष कही जाती है। मुक्ति के सम्बन्ध में महर्षि गौतम ने भी लिखा है कि :—

"दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः। —न्यायदर्शन, १।१।२

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान के अववर्जन अथवा अभावरूप जो सुखावस्था है, उसी का नाम अपवर्ग या मुक्ति है। इसी प्रकार :—

"तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" —न्यायदर्शन, १।१।२२

दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का नाम ही अपवर्ग या मुक्ति है। इसी प्रकार कपिलमुनि ने भी कहा है :—

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः।
—सांख्यदर्शन, ६।७०

सुख-दुःखादि प्राकृतिक धर्म जब आत्मा से लिप्त नहीं होते, तभी आत्मा मुक्तावस्था कहलाती है। पुनः कहते हैं कि :—

"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः"
—सांख्यदर्शन, १।१

त्रिविध दुःख (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) की जो आत्यन्तिक निवृत्ति का नाम ही आत्यन्तिक पुरुषार्थ या मुक्ति है।

बौद्धधर्म प्रचारक राजपुत्र गौतम ने जीवात्मा और परमात्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में स्पष्टतः कोई उल्लेख नहीं किया, किन्तु उन्होंने जिस एक कर्म का उल्लेख किया है, उसके द्वारा उन्होंने कार्यतः (जीवात्मा और परमात्मा) दोनों को स्वीकार किया है।

उन्होंने, जरा, मरण और पीड़ा जनित दुःखों से मुक्त होने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को ही निर्वाण-साधन करने का अनुरोध किया है। उनके निर्वाण का अर्थ रिज़् डेविडस् (Rhys Davids) ने अपने ग्रन्थ में इस प्रकार किया है :—

"Nirvāṇa is therefore the same thing as a sinless, calm state of mind; and if it translated at all, may best, perhaps, be rendered "holiness"—holiness that is, in the Buddhist sense, perfect peace, goodness and wisdom."
"Buddhism" by Rhys David, Chap IV., P. 122

बुद्धवंश-लेखक ने निर्वाण शब्द से इस प्रकार का अर्थ लिया है कि "मनुष्य की सत्ता का लोप या सर्वथा महाविनाश नहीं, वरन् केवल भ्रम, घृणा और तृष्णा इन तीनों का आत्यन्तिक उच्छेद ही निर्वाण है। इसी सम्बन्ध में प्रो० मोक्षमुल्लर ने इस प्रकार कहा है :—

If we look the Dhamma-pada at every passage where Nirvāṇa is mentioned, there is not one which would require that its meaning should be annihilation, while most, if not all would become perfectly unintelligible if we assigned to the word Nirvāṇa, that signification," —Buddha Ghosha's Parables, p. XII

यहाँ तक मुक्ति के विषय में जो अनेक शास्त्रों के मत संक्षेप में संग्रह किए गये हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि मुक्ति के विषय

में भाव पक्ष में अनैक्य होते हुए भी अभाव पक्ष में प्रायः सभी का मत एक ही है। इस रोग, शोक, जरा, मृत्युमय संसार में जन्मग्रहण करके प्रकृत ज्ञानीव्यक्ति चिरकाल से ही मुक्तिरूप निरापद स्थान को प्राप्त करने का यत्न करते आ रहे हैं। किन्तु उनमें जिन्होंने आनन्द को निर्झरस्वरूप मुक्तिदाता परमेश्वर के शरणागत न होते हुए अन्य उपायों द्वारा मुक्ति का अन्वेषण किया है, अर्थात् घृत परित्याग कर एरण्डतैल भक्षण करने की तरह उन्होंने अनेक साधनों द्वारा अपनी-अपनी आत्मा को निद्रा की भाँति एक प्रकार की सुख-दुःख वर्जित अवस्था में पहुँचाने की क्षमता प्राप्त भले ही कर ली हो, किन्तु निरतिशय-आनन्द-उपभोगरूप यथार्थ मुक्ति की अवस्था प्राप्त कर वे कृत-कार्य नहीं हो सके हैं। अतएव जो इस पृथ्वी पर यथार्थ सुख पाने की आशा रखते हैं, उन्हें सुखस्वरूप ईश्वर की शरण ग्रहण करनी चाहिए। अन्यथा संसार में सुख की खोज करना केवल मृग-मरीचिका में जल की तरह व्यर्थ और निराशाजनक ही होगा। इसलिए सदैव इस बात का स्मरण रखना चाहिए। जैसा कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा है :—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
—गीता, १८।६८

अर्थात् "हे भारत ! तुम सभी अवस्थाओं में उसी (परमेश्वर) के शरणापन्न रहो। उसकी कृपा से परमशक्ति और शाश्वत स्थान की प्राप्ति होगी।

० ॐ महाशान्तिः ॐ ०

# तृतीय खण्ड

## साधना काण्ड

## ब्रह्म-रूप

### गीत

**ढोरी-काओयाली**

(१) रतन-आसने वसे गौरी-शङ्कर।
हेर सहस्रारे रजत-भूधरे येन उदित शशधर ॥

(२) शिवेर शिरोपरे करे गङ्गा कल-कल।
वासन्ती वसेछे वामे एलाये कुन्तल ;
किंवा शोभा एक भाले, धक्-धक् वह्नि ज्वले,
आर भाले शोभे अर्ध सुधांशु सुन्दर ॥

(३) एकेर कर्णेते दोले कृष्ण-धुतुरार दल,
अपरेर कर्णशोभा कनककुण्डल ;
ईशान विषाण करे, पलके प्रलय करे
जीवे अन्न दान करे अभयार उभय कर ॥

(४) कञ्चुलि परेछे उमा ज्वलिछे मणि-माणिक्य,
बाघाम्बरेर बाघछाल कटि-सने नाहि ऐक्य;
दीन नलिनी कय, पदशोभा भिन्न नय,
ये पद भावना केन, छोंवे ना यम-किङ्कर ॥

'कामाख्याधाम' ३।१।१३१३,
वङ्गाब्द

# ब्रह्म-रूप

## गीत

### ढोरी-कव्वाली

(१) गौरीशङ्कर रतन आसन पर विराजमान हैं। देखो,—सहस्र-दल कमल में रजत भूधर पर मानो शशधर ( पूर्णचन्द्र ) का उदय हुआ है।

(२) शिव के शिर के ऊपर गङ्गाजी कलकल कर रही हैं, फिर वासन्ती उनके बाईं तरफ कुन्तल को बिखेर कर विराजती है। एक भाल में निराली शोभा है कि धक्-धक् वह्नि ( अग्नि ) जल रही है एवं दूसरे के भाल में सुन्दर अर्ध-सुधांशु शोभा पा रहा है।

(३) एक के कर्ण पर कृष्णधत्तूरे का फूल दोल ( झूल ) रहा है एवं दूसरे के कर्ण की शोभा बढ़ायी है—कनक-कुण्डल ने। ईशान ( शिव ) के कर में विषाण है,—चाहे तो मुहूर्त में प्रलय कर देवें;- फिर दूसरे के कर में अभया (अन्नपूर्णा) का अभयकर जीव को अन्न-दान कर रहा है।

(४) उमाजी ने कञ्चुली पहन ली है,—उसमें मणि-माणिक्य की ज्योति प्रकाश पा रही है; फिर शिवजी ने बाघाम्बर (बाघछाल) को ऐसा पहना है कि कटि के साथ उसका ऐक्य ( समानता ) नहीं है; दीन "नलिनी" ( लेखक ) कहता है कि उन दोनों ( शिव-अन्नपूर्णा ) की पदशोभा में भिन्नता नहीं है; उन चरणकमल का ध्यान क्यों नहीं करते हो ? जिससे यमकिङ्कर तुम्हें छू नहीं सकें।

'कामाक्षाधाम' ३।१।१३१३, बङ्गाब्द

# ज्ञानीगुरु

## तृतीय खण्ड—साधनाकाण्ड

## साधना का प्रयोजन

ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर कृत-कृत्य होना ही साधना का एकमात्र प्रयोजन है। साधनचतुष्टयसम्पन्न एवं योगयुक्त हुए बिना कभी ज्ञान-लाभ नहीं हो सकता। योग से अनजान पुरुष का ज्ञान भ्रान्त होता है, उसमें भ्रम होता है। क्योंकि वह मायापाश में बँधा रहता है। अतः बिना उस पाश को छिन्न-भिन्न किये प्रकृत ज्ञानालोक के दर्शन करने का दूसरा कोई उपाय ही नहीं है और मायापाश को छिन्न करने का साधन है योग। अर्थात् योगी होने पर ही प्रकृत ज्ञान की प्राप्ति होती है। योग रहित ज्ञान केवल प्रलाप होता है। प्राण एवं चित्त को वशीभूत किए बिना कभी प्रकृत ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। क्योंकि चित्त स्थिरता के बिना ज्ञानोदय की सम्भावना ही नहीं।

चित्त स्थिर करने का उपाय है प्राणों का निरोध। अर्थात् कुम्भक द्वारा प्राण को स्थिर कर लेने पर चित्त अपने आप स्थिर हो जाता है। चित्त के स्थिर होने पर ही प्रकृत ज्ञान का उदय होता है। कुम्भक के समय प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में विचरण करते हुए ब्रह्मरन्ध्र-महाकाश में उपस्थित होने पर ही स्थिरता प्राप्त करती है। प्राणवायु के स्थिर होने ही चित्त स्थिर हो जाता है, क्योंकि वह निरन्तर प्राणों का ही अनुसरण करता है। यथा :—

दुग्धाम्बुवत् सम्मिलितावुभौ तौ
तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि।
यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिः
यतो मनस्तत्र मरुत् प्रवृत्तिः ।।
—हठयोगप्रदीपिका, ४।२४

दूध और जल जिस प्रकार एकत्र मिल सकते हैं, उसी प्रकार मन और प्राण भी एकत्र मिलकर अवस्थान करते हैं। जिस चक्र में वायु की प्रवृत्ति होती है, उसी में मन की प्रवृत्ति होती है और जिस चक्र में मन की प्रवृत्ति होती है, उसी में वायु की भी प्रवृत्ति होती है।

अविनाभाविनी नित्यं जन्तूनां प्राणचेतसि ।
कुसुमामोदवन्मिश्रे तिलतैले इवास्थिते ।।
—योगवाशिष्ठ

जन्तुओं के प्राण और चित्त अविनाभावसम्बन्धशाली हैं। अर्थात् इनमें से एक जहाँ होगा वहीं दूसरा भी होगा। जहाँ एक का अभाव होगा, वहीं दूसरे का भी अभाव होगा। जिस प्रकार पुष्प और गन्ध तथा तिल और तैल इन में से किसी एक की विद्यमानता में दोनों की ही विद्यमानता और एक के अभाव में दूसरे का अभाव होता है, उसी प्रकार चित्त और प्राण का भी परस्पर अविनाभाव है। अतएव प्राण-वायु के स्थिर होने पर चित्त भी स्थिर हो जायगा। चित्त की स्थिरता होते ही ज्ञाननेत्र खुलकर आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार हो सकेगा। इसीलिए कहा गया है कि योग के बिना दिव्यज्ञान प्राप्त नहीं होता। यथा :—

योगात् संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता ।—
—आदित्यपुराण

योग द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है और योग से ही चित्त की एका-

-ग्रता होती है। योगियों का इस प्रकार का ज्ञान ही प्रकृत ज्ञान कहा जाता है। नामान्तर से इसी ज्ञान को तत्त्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान और आत्म-ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान के उदय होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है। यथा :—

योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम्।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ।।

—कूर्मपुराण

योगरूप अग्नि पाप-पञ्जर को दग्ध करती है और योग द्वारा दिव्यज्ञान उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में विचारणीय प्रश्न यह है कि योग के बिना दिव्य-ज्ञान की प्राप्ति क्यों असम्भव है। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि समाधि की परिपक्व साधना हुए बिना अन्तः-करण के असम्भवादि दोष दूर नहीं हो सकते। अतएव समाधि के द्वारा इन दोषों के दूर हो जाने पर विशुद्ध अन्तःकरण में ही आत्म-दर्शन हो सकता है और उसके दर्शन मात्र से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है। अतएव उस समय दिव्यज्ञान की प्राप्ति अपने आप हो जाती है। इसी कारण इस बात को स्वीकार करना पड़ता है कि योगसिद्ध हुए बिना दिव्यज्ञान कभी प्रकाश नहीं पा सकता है और न मोक्ष की ही प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि केवल शास्त्रों को पढ़ लेने या उपदेश सुन लेने मात्र से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। विशेषतः वर्त-मान शिक्षा के द्वारा तत्त्वज्ञान तो दूर नीतिज्ञान तक विकसित नहीं हो सकता। यद्यपि शिक्षित व्यक्ति शिक्षा का अभिमान अवश्य रखते हैं। किन्तु उन्हें शिक्षा का प्रकृत फल बिलकुल ही प्राप्त नहीं होता। जो व्यक्ति "पिता-माता परमगुरु" इस सिद्धान्त को भूलकर मूर्ख पिता को मित्रमण्डली में घर का नौकर कहते हुए लज्जित नहीं होते, अशौच ( सूतक ) के पश्चात् जो सिर के बाल और दाढ़ी मुड़ाने में नरकयन्त्रणा का कष्ट अनुभव करते हैं; बकरे की तरह सम्पर्क

(सम्बन्ध) का विचार न करते हुए जो परस्त्रीगमन करते हैं, भिक्षुक को एक मुट्ठी भीख के बदले गालियाँ देकर दुत्कारते हैं, भूखा मरने-वाले कृषकों को जो अपने स्वार्थ के लिए मुकद्दमेबाजी में प्रवृत्त करते हैं, न्यायाधीश के आसन पर बैठ कर जो उच्चपद के कारण निर्दोषी को दण्ड दे सकते हैं, भोगसुख को ही जीवन का एक मात्र कर्तव्य समझकर जो अपनी माता और पुत्री या भगिनी को पुनर्विवाह के लिए उत्साहित कर योजना भी कर देते हैं। जो पशु की तरह विकारों के अधीन होकर कार्य करते हैं, जो लोग परकाल, जन्मान्तर, कर्मफल, देवता, ईश्वर, गुरु आदि को नहीं मानते। हिंसा, द्वेष, पर-निन्दा, परदोषचर्चा और मिथ्याभाषण जिनका नित्य कार्य है, उन्हें मानव-गर्भ-जात गर्दभ के अतिरिक्त शिक्षित कैसे कहा जा सकता है ? जो कवि :—

"समाश्लिष्यत्युच्चैर्घनपिशितपिण्डं स्तनधिया,
मुखं लालाक्लिन्नं पिबति चषकमासवमिव।
अमेध्यं क्लेदार्द्रे पथि च रमते स्पर्शरसिको,
महामोहान्धानां किमपि रमणीयं न भवति ?"

इन बातों* को भूलकर जो रमणी के रमणीय कुचयुग्म और अधरों का माधुर्य वर्णन करने में व्यस्त हैं, उसे मोहान्ध न कहकर विद्वान् कौन कहेगा ? अस्पृश्य कुक्कुट (मुर्गे) के मांस के बिना जिनका

* अमेध्यपूर्णे कृमिजंलसङ्कुले, स्वभाव दुर्गन्धि विनिन्दितान्तरे।
क्लेवरे मूत्रपुरीषभाविते, रमन्ति मूढ़ा विरमन्ति पण्डिताः॥
—अवधूत गीता

महात्मा तुलसीदासजी ने भी कहा है :—
जैसे पुतली काठ की, पुतली मांस की नारी।
अस्थि-नाड़ी-मल-मूत्रमय, यन्त्रित निन्दित भारी।

स्वास्थ्य ठीक नहीं रह सकता, पिता-माता के चरणों में जिनका मस्तक झुकाते लज्जा आती है, पेन्शन पाये बिना जिनके लिए प्रस्राव के समय जल-व्यवहार की सुविधा नहीं होती, चिकन व्रथ के बिना जिनकी पवित्र गव्यघृत से तृप्ति नहीं होती, विलायती घास बिना भारतीय लताओं से जिन की वाटिका शोभित नहीं हो सकती, पर-पुरुष के साथ अपनी कुलवधू को आमोद-प्रमोद करते हुये देखे बिना जिन्हें स्फूर्ति नहीं आती, पूर्व-पुरुषों को असभ्य किसान कहे बिना जिनकी विद्वत्ता प्रगट नहीं होती, उनकी शिक्षा को कौन निर्लज्ज शिक्षा-नाम से सम्बोधन करेगा ?

जितेन्द्रिय, सत्यवादी, परोपकारी, देव-द्विज-गुरुभक्त, स्वधर्मानुरागी, सरलविश्वासी व्यक्ति असभ्य और अशिक्षित होते हुए भी हम उसे उच्चकण्ठ से "पण्डित" या "विद्वान्" ही कहेंगे। जो न्याय के बड़े-बड़े और विद्यावागीश शास्त्रों की मर्यादा भूलकर स्वार्थ के लिए अशास्त्रीय व्यवस्था प्रदान करते हैं, उनके पाण्डित्य को धिक्कार है। जो लोग देश के नेता बनकर देशोन्नति की आड़ में दरिद्र देशवासियों के शोणित के समान अर्थ का शोषण करते हुए अपने खाने-पीने का प्रबन्ध करते हैं और अपने मत के समर्थन के लिए लट्ठ मार सकते हैं, उनकी शिक्षा दीक्षा को सौ बार धिक्कार है। प्राचीन शिक्षा के प्रभाव से ज्ञान स्वतः ही प्रगट होता था। किन्तु आज वह आशा निराशा में बदल गई है। समाज के उच्छृङ्खल और स्वेच्छाचारी हो जाने से साधना के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है। सैकड़ों तर्कशास्त्र और व्याकरणादि के अनुशीलनपूर्वक मनुष्य शास्त्रजाल में पतित होकर विमोहित हो जाते हैं और विश्वविद्यालय के शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों के मस्तिष्क विकृत होने के सिवाय उन्हें ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो ही नहीं सकता। अन्यथा विश्वविद्यालय के उच्च उपाधिधारी पत्नी-वियोग-विधुर युवक चन्द्रवदनी हृदयेश्वरी के

मुख की शोभा का वर्णन करते हुए उद्‌भ्रान्त भाव से पागल की तरह प्रलाप क्यों करते ? उनके समान विद्या-बुद्धि-सम्पन्न स्वदेशी व्यक्ति से इस घोर दुरवस्था में उनके स्वदेशवासी कितनी उच्च आशा रखते हैं; किन्तु दुःख का विषय यह है कि वे स्वार्थपर युवकों के मरणगीत गाकर विषयान्ध लोगों से "वाही-वाही" लूटते हैं। प्रकृत-प्रेम स्वर्गीय वस्तु अवश्य है, किन्तु स्थूलदेह के विनाश से वह प्रेम नष्ट नहीं होता। स्थूलदेह के लिए शोक प्रकाश करना क्या जगत्‌वासियों के सीमाबद्ध प्रेम का परिचय देते हुए प्रेमिक का लक्षण नहीं है ?* व्यावहारिक विद्याबुद्धि का केवल अभिमान ही होता है। हम इस प्रकार के उद्‌भ्रान्त युवकों का हा-हताश देखकर उसे उनका अज्ञान विजृम्भित शून्योच्छ्‌वास ही समझते हैं। विद्या से उनको यदि प्रकृत ज्ञान होता, तो वे उस मुख को लक्ष्य करके इस प्रकार प्रेमोच्छ्‌वास द्वारा मर्मव्यथा व्यक्त करने के बदले शिल्हणाचार्य के साथ एक स्वर से कह सकते थे कि :—

क्व तद्वक्तारविन्दं क्वतदधरमधु क्वायतास्ते कटाक्षाः  
क्वालापाः कोमलास्ते क्व च मदनधनुर्भङ्गुरो भ्रूविलासः।  
इत्थं खट्वाङ्गकोटीप्रकटितवदनं मञ्जुगुञ्जत्समीरा  
रागान्धानामिवोच्चैरुपहसति महामोहजालं कपालम् ॥

---

* जो प्रेमी युवक पहले "एक प्राण दो व्यक्तियों को नहीं दिया जा सकता" कहकर गम्भीर गवेषणा-सहित स्वदेशवासियों को प्रेम का तत्त्व समझाया करते थे; आज देखने में आता है कि वही "प्राणों का" व्यवसाय कर रहे हैं। जो जिस विषय में मुँह से जितनी स्पर्धा करते थे, कार्य के समय उन्हीं को सबसे पीछे देखने में आता है। यदि इसे हमारा जातीय स्वभाव भी कह दिया जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। जो शक्तिशाली नेता स्वदेशवासी को भिक्षा के बदले लाठी उठाने की सलाह देते थे; सुनते हैं कि लाठी देखते ही वे सबसे पहले भाग खड़े होते हैं।

एक बार श्मशान में एक बाँस के सिरे पर किसी स्त्री का मांस चर्मविहीन मस्तक-कंकाल (मुण्ड) देखकर शिल्हणाचार्य ने मन में सोचा इस मुण्ड में जो दन्तावलियाँ दिखाई देती हैं और कण्ठ के छिद्र में प्रवेश करके मुखरन्ध्र से निकलते समय वायु का जो शब्द सुनाई देता है, इन दोनों के द्वारा यही ज्ञात होता है मानो यह कपाल घोर कामान्ध व्यक्तियों को सूचित करता है कि "मूर्ख मानव ! इस श्मशान के निकट खड़े होकर इस मुण्ड की ओर ध्यान से देख और जिसके लिए अन्धा बन कर तू ने कितनी ही पशुताएँ की हैं, उस स्त्री के मुख का स्मरण कर। यह देख उसका अन्तिम स्वरूप। कहाँ वह मुखारविन्द और कहाँ उसकी यह अवस्था ? क्या इस अस्थि-मुण्ड में उसका कुछ भी चिह्न दिखाई देता है ? इस भाव से देख कि जिनका सुधारस की तरह आदरपूर्वक पान किया था, वह अधर-माधुर्य कहाँ है ? वह मधुरतम सुन्दर आलाप भी कहाँ है ? और वह मदनधनु-विलास की भाँति भ्रू-भंगी का विलास भी कहाँ है ? आज उसकी जो अन्तिम अवस्था दिखाई देती है, उसी में यह आच्छादित था। किन्तु तू ने रागान्ध होकर इसी चर्मावृत्त कङ्काल को कितना मधुरतम उपभोग्य पदार्थ समझ कितना आदर-गौरव किया और कितना आनन्द एवं सुख पाया। रे कामान्ध ! यदि उस समय तुझे इस परिणाम का पता लगता तो क्या कभी सम्भव था कि तू ऐसी वस्तु को लेकर इतना आल्लादित होता और स्त्री के मुख का इतना सम्मान करता ?"

इसीलिए कहना पड़ता है कि बिना साधना के कभी दिव्य-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। महायोगी महेश्वर ने कहा है कि :—

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि।
सारन्तु योगिभिः पीतं तक्रं पिबति पण्डितः॥

—ज्ञानसंकलिनीतन्त्र

चारों वेद और समस्त शास्त्रों का मन्थन करके योगीगण उसके सार भाग नवनीत का पान करते हैं और असार भाग तक्र (छाछ) को पण्डित लोग पीते हैं ।

योगसाधन के बिना मोक्षसाधन के हेतुरूप तत्त्वज्ञान की प्राप्ति किसी प्रकार की नहीं हो सकती । योगहीन ज्ञान केवल अज्ञान ही होता है । अर्थात् सांसारिक ज्ञान—जिसके द्वारा केवल सुख का ही अनुभव हो सकता है—मुक्ति पर ले जाने में असमर्थ होता है । इसी कारण योगहीनज्ञान द्वारा मोक्षलाभ असम्भव है । यथा :—

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि ।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ।।

—योगबीज, १८

अर्थात् योगहीन ज्ञान, ज्ञान नहीं है, इसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी योग नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार योगयुक्त ज्ञान ही ज्ञान और ज्ञानयुक्त योग ही योग कहा जा सकता है ।

सर्वे वदन्ति खड्गेन जयो भवति तर्हि कः ।
विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् ।।
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ।
ज्ञानेनैव विना योगो न सिध्यति कदाचन ।।

—योगबीज

सभी लोग कहते हैं कि तलवार के द्वारा विजय प्राप्त होती है । किन्तु यथार्थ में खड्ग धारण और पुरुषार्थ के बिना विजय-प्राप्ति असम्भव होती है, उसी प्रकार योगरहित ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त होना भी असम्भव है । साथ ही ज्ञानरहित योग भी सिद्धिप्रद नहीं हो सकता । इसीलिए :—

तस्मादत्र वरारोहे तयोर्भेदो न विद्यते । —योगबीज

अतएव हे महेशानि ! इन दोनों के—अर्थात् ज्ञान और योग के बीच किसी प्रकार की भिन्नता नहीं दिखाई देती ।

अतएव योगसिद्धि होने पर ही ज्ञानसिद्ध होता है और ज्ञानसिद्ध होने पर ही योग में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है । महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि :—

तज्जयात् प्रज्ञालोकः । —योगदर्शन, ३।५

ध्यान, धारणा और समाधि इन त्रिविध मानसिक व्यापार को एकत्र संयुक्त कर सकने पर संयम नाम की प्रक्रिया सिद्ध होती है । इस संयम से प्रज्ञा नामक आलोक अथवा उज्ज्वल ज्ञानज्योति प्रकाशित होती है । इस ज्योति या प्रज्ञा को ही ज्ञान कहते हैं । प्रज्ञा से जिस ज्ञान का बोध होता है, वह साधारण ज्ञान की तरह नहीं होता, वरन् योगयुक्त ज्ञान ही होता है । केवल शुष्कज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति असम्भव होती है, इसी कारण अर्जुन से योगयुक्त होने के लिए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा है कि :—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ।।

—गीता, ६।४६

जब कि योगीपुरुष, तपस्वी, ज्ञानी और कर्मनिष्ठ से भी श्रेष्ठ है, तो हे अर्जुन ! तुम अवश्य योगी (योगयुक्त) बनो । क्योंकि—

प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धिकिल्विषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।।

—गीता, ६।४५

योग द्वारा प्रयत्नवान् व्यक्ति अनेक जन्म के सञ्चित पापों से

मुक्त होकर अनेक जन्मों के लिए सिद्धि—योग का उत्तम ज्ञान प्राप्त करता हुआ श्रेष्ठगति पाता है। इस विषय में अधिक क्या कहा जाय ?

अभ्यासात् कादिवर्णो हि यथा शास्त्राणि बोधयेत् ।
तथा योगं समासाद्य तत्त्वज्ञानञ्च लभ्यते ॥
—योगशास्त्र

जिस प्रकार ककारादि वर्णमाला के अभ्यास द्वारा समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया जा सकता है, उसी प्रकार योगाभ्यास द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अतएव तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए ही योग की आवश्यकता है। यदि यह कहा जाय कि तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेने पर क्या होगा ? तो उत्तर में यह कहा जा सकता है कि 'उससे समस्त क्लेशों की शान्ति होगी।' ऐसी दशा में फिर प्रश्न हो सकता है कि—'क्लेश किसे कहते हैं ?'

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।—पा० द०, २।३

अविद्या,* अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच प्रकार के मनोवेगों का नाम ही क्लेश है ?

**अविद्या** क्या है ?

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या"

अनित्य को नित्य समझना, अशुचि को पवित्र मानना, दुःख को सुख और अनात्म पदार्थ में आत्मता का अनुभव ही अविद्या है।

---

* पाठक ! शेक्सपियर की उस डाकिनी की बातों को सोचें :—

"Fair is foul, and foul is fair"

वह डाकिनी विशेष ही अविद्या है।

**अस्मिता** क्या है ?

"दृक्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता"

दृक्शक्ति अर्थात् द्रष्टारूप से आत्मा के साथ दर्शनशक्तिरूप बुद्धितत्त्व के परस्पर ऐक्य वा तादात्म्याध्यास होने का नाम ही है ।

**'राग'** क्या है ?

"सुखानुशयी रागः"—अर्थात् सुखभोग की इच्छा का नाम ही राग है ।

**'द्वेष'** क्या है ?

"दुःखानुशयी द्वेषः"—अर्थात् दुःख के प्रति अनिच्छा या वितृष्णा का नाम द्वेष है ।

**'अभिनिवेश'** क्या है ?

"स्वरसवाही विदुषोऽपि तथाऽऽरूढोऽभिनिवेशः ।

बारम्बार भोग के लिए आरूढ वृत्ति का नाम अभिनिवेश है अर्थात् मायाविमोहितावस्था में जिस किसी कार्य का उद्भावन होता है, वह सब क्लेशमय ही होते हैं ।

जिस समय तक जीव को आत्म-साक्षात्कार लाभ नहीं होता, तब तक कष्टों की परिसीमा भी नहीं होती । उन अपरिसीम कष्टों की सीमा न होते हुए भी प्रकारगत सीमा होती ही है, उसी का नाम 'त्रिताप' है । आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन त्रितापों का नाम ही क्लेश है । किन्तु इस प्रकार के क्लेश क्यों होते हैं ? प्रकृति और पुरुष के परस्पर अभ्यास के कारण ही ऐसे क्लेश होते हैं ।

अतः अब हमें यह देखना चाहिए कि प्रकृति और पुरुष इन दोनों का परस्पर अध्यास और उपशम, प्रतिकार या विलय अथवा निवृत्ति कैसे होती है ? जिससे पता लग सके कि उस अध्यास की निवृत्ति होने पर आत्मा वा पुरुष स्वीय भाव में अधिष्ठित हो सके। यहाँ फिर प्रश्न होता है कि स्वीयभाव किसका नाम है ?—मुक्तभाव या निष्क्रिय-भाव जिस में द्रष्टा-दृश्य या भोक्ता-भोग्यभाव न हो, उसी का नाम स्वीयभाव है। आत्मा जिसमें स्वीयभाव से अधिष्ठान कर सके, उसी उपाय की योजना की जानी चाहिए।

यहाँ यदि यह कहा जाय कि तब क्या आत्मा इस समय स्वीय-भाव में अवस्थित नहीं है ? तो उत्तर में यही कहना पड़ेगा कि वह अवश्य है। किन्तु अपने रूप में प्रगट नहीं हो रही है; वरन् उसके विपरीत द्रष्टा-दृश्य और भोक्ता–भोग्यभाव दिखाई दे रहे हैं। अर्थात् प्रकृति इस समय चिन्मय पुरुष की भोग्या बनकर उसे अपना भोक्ता बना रही है। प्रकृत रूप से चिन्मय पुरुष को भोगेच्छा न होने पर भी लौह और चुम्बक की तरह अनिच्छा से भी क्रिया शक्ति का उद्रेक होता ही है। अतएव इस समय आत्मा पुरुष में भोक्ता और प्रकृति जगत् रूप में उसकी भोग्या बनी हुई है। वही भोक्ता-भोग्य निवृत्ति ( अपसारण करना ) आवश्यक है। अतः देखना चाहिए कि किस उपाय से उस निवृत्ति का उद्भावन किया जा सकता है ? उस निवृत्ति का उपाय है योग-साधना। योगाभ्यास के बिना प्रकृति के मायाजाल का बोध नहीं होता; क्योंकि जो पुरुष योगी है, उसके सम्मुख प्रकृतिदेवी अपना मायाजाल नहीं फैला सकती; वरन् लज्जित होकर सिर नीचा किए हुए भग जाती है अर्थात् पुरुष की प्रकृति लय (नष्ट) हो जाती है। प्रकृति का लय हो जाने पर वह व्यक्ति पुरुष पदवाची न रहकर केवल आत्मा के नाम से सत्स्वरूप में अवस्थित रहता है। इसलिए उस सत्स्वरूप में अवस्थान के निमित्त योग

साधना की आवश्यकता है।

ज्ञानकारणमज्ञानं यथा नोत्पद्यते भृशम्।
अभ्यासं कुरुते योगी तथा सङ्गविवर्जितः ॥

—शिवसंहिता, ५।२२७

सर्वदा निःसङ्ग होकर योगी पुरुष ज्ञान के निमित्त योगाभ्यास करेगा और इससे फिर अज्ञानोत्पत्ति नहीं होगी।

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य विषयेभ्यो विचक्षणः।
विषयेभ्यः सुषुप्त्येव तिष्ठेत् संगविवर्जितः ॥
एवमभ्यासतो नित्यं स्वप्रकाशं प्रकाशते।

—शिवसंहिता, ५।२२८–२२९

विषय-वासनाओं से समस्त इन्द्रियों को संयत करते हुए निःसङ्ग होकर निर्लिप्त भाव से सुषुप्ति की तरह अवस्थान करना चाहिए। इस प्रकार नियमपूर्वक अभ्यास करने से साधक का ज्ञान स्वयं प्रकट हो जायगा।

# मायावाद

इस जगत् की रचना और पालन आदि में परमेश्वर की जो शक्ति नियुक्त है, उसी का नाम प्रकृति या माया है। यथा :—

सा माया पालिनी शक्तिः सृष्टिसंहारकारिणी।

—ज्ञान सं० तन्त्र

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग ययेयं निर्ममे विभुः ॥

—भा० ३।५।२६

हे महाभाग ! अपनी सत् और असत् गुणयुक्त शक्ति द्वारा भगवान् ने इस जगत् को निर्माण किया है, इसी कारण इसका नाम माया है। ज्ञानकाण्ड में माया का विषय भलीभाँति आलोचित हुआ है।

वेदान्त ने इस माया को असत् कहा है। क्योंकि शैवदर्शन में माया शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है :—

मात्यस्यां शक्त्यात्मना प्रलये सर्व्वं जगत्
सृष्टौ व्यक्तिं यातीति माया ।।

—सर्वदर्शन संग्रह

प्रलयकाल में शक्त्यात्मा के द्वारा समस्त जगत् उसमें मिल जाता अथवा उपसंहृत (समाप्त) होता है और सृष्टि के समय फिर सब व्यक्तीभूत हो जाता है। इस अर्थ में माया शब्द का "मा" उप-संहरणार्थ तथा "या" शब्द व्यक्ती-करणार्थ है। अतएव महत्तत्त्व-रूप जो माया है, वह अविद्या का व्यक्तिकरण एवं उपसंहार की शक्ति-मात्र है। वही सगुणाशक्तिरूप में है और निर्गुण मूल प्रकृति के विकार-रूप में है। अतएव वह निर्गुण का परिणाम मात्र है। जो परिणामयुक्त है वही असत् भी है ! अविद्या समुत्पन्न जीव जगत् में निरन्तर ही अवस्थान्तर घटित होता है। अविद्या के परिणाम की सीमा और उसका अन्त नहीं मिल सकता। जगत् निरन्तर ही परि-वर्तित होता है। किन्तु यह सब अवस्थाभेद और परिणाम अनित्य है—नित्य वस्तु की अनित्यावस्था है। क्योंकि अविद्यावृत्ति कभी एक रूप में न रहकर निरन्तर ही अविद्यमान होती है; अतएव असत् ही अविद्या है अर्थात् केवल एकमात्र ब्रह्म ही निर्विकार और सत् है। उस निर्विकार सत्य-वस्तु से प्रभेद रखने के लिए परिणामी अविद्या और माया को असत् कहा गया है।

त्रिगुणमयी माया अपनी प्रकृति के कारण असत् है। वह प्रकृति दो प्रकार की बताई गई है। माया की आवरणशक्ति और माया की विक्षेपशक्ति। अब देखिए कि आवरण शक्ति क्या है? अहङ्कारपूर्ण अविद्या जीव में निरन्तर ही कामना की उत्पत्ति करती रहती है। उन कामनाओं से ही जीव के कामनामय सूक्ष्म शरीर की रचना होती है। वह सूक्ष्मशरीर ही जीव का प्रकृत देह है और वह देहभूत प्राण ही देही एवं जीवात्मा है। जीव का स्थूल पाञ्चभौतिक उस कामनामय देह का केवल भोगशरीर ही होता है। यह कामनामय देह ही आत्मा के लिए पिञ्जर-स्वरूप है। उस कामनामय घोर लोभी कंस के कारागार में वसुदेवरूप सात्त्विक विवेकज्ञान देवशक्ति भक्तिमती देवकी के सहित बन्धनयुक्त होकर निवास करता है। इसलिए भगवान् ने कहा है :—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरुपेण कौन्तेय! दुष्पूरेणानलेन च॥

—गीता, ३।३८-३९

जिस प्रकार धुएँ द्वारा अग्नि या मलिनता द्वारा दर्पण एवं जरायु द्वारा गर्भ आवृत्त रहता है, उसी प्रकार कामनाओं द्वारा विवेक-ज्ञान आवृत्त होता है। हे कौन्तेय! ज्ञानियों का सदैव का शत्रुरुप काम, जो कभी तृप्त न होनेवाली अग्नि के समान है, ज्ञानियों के ज्ञान को भी ढँक लेता है।

इस प्रकार कामनामय माया की आवरण शक्ति का प्रबल प्रभाव है। यह आवरण कामना की धर्माधर्मता के कारण होता है। इससे जीव का सत्त्विकांश मलिन हो जाता है और इसी कारण अविद्या सत्त्वगुण को मालिन्यमय कर देती है। वह सत्त्वरुपी वासुदेव

मालिन्यमय कामनाओं द्वारा आच्छन्न हो जाता है। कामनायें अतिशय चञ्चल होंने के कारण उनकी स्थिरता सम्भव नहीं। अतः माया इन्हीं कामनाओं से युक्त होकर निरन्तर ही अनित्य भावापन्न होती है। इस असत् कामनामयी अविद्या के अधीन होकर जीव कर्तृव्याभिमान से पूर्ण हो जाता है। किन्तु निज कर्तृत्व में पूर्ण होने से व फिर ईश्वर कर्तृत्व की उपलब्धि नहीं कर सकता। जहाँ जीव कर्ता है, वहाँ ईश्वर कौन होना चाहिए ? किन्तु यह कर्तृत्वाभिमान जीव की अन्तर्दृष्टि को आच्छन्न कर लेता है। अतएव वह जगत् में ईश्वर को देख नहीं पाता। इसी का नाम माया की घोर आवरण-शक्ति है।

इस आवरणशक्ति के लिए माया की जो मिथ्या दृष्टि उत्पन्न होती है, उसी से माया की विक्षेपशक्ति का जन्म होता है। जीवका अभिमान जिस मिथ्या दृष्टि का संचार करता है, उस दृष्टि के कारण जगत् के सभी वस्तु मायिकरूप और व्यवहार सत्य के रूप से प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकार क्या ये सब वास्तविक सत्ता न होकर जीव की कल्पना मात्र ही हैं ? इस पर वेदान्ती लोग कहते हैं कि जीव की जो मिथ्या दृष्टि माया जगत् के समस्त रूपों में विक्षेप उत्पन्न करती है वही माया की विक्षेप-शक्ति की परिचायिका है। अन्यथा यह जगत् अनन्त **ब्रह्ममय** ही है।

जीव-दृष्टि के साथ ब्रह्मपदार्थ का एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध होने से जगत् के इस विराट् रूप की कल्पना की गई है। मनुष्य के नेत्रों के साथ जगत् का सम्बन्ध इस प्रकार का है; जो विशेप-विशेष रूप विशिष्ट प्रतीत होता है। उल्लू की दृष्टि में जिस प्रकार उल्लवी ( मादा ) विशेष सुन्दरी होती है, उसी प्रकार मनुष्य के लिए नारी भी सुन्दरी होती है। अतएव रूप केवल दृष्टि की विशेष प्रकार की सम्बन्ध रचना के कारण ही ज्ञात हो सकता है। अतएव जीव की मानस और स्थूलदृष्टि के कारण ही उसका स्थूल और सूक्ष्मरूप प्रतीत

होता है। इस रूप में माया का अर्थ परिणाम है। ऐसी दशा में यह जगत् ब्रह्म के सृष्ट ( रचित ) रूप में नहीं वरन् जीव की कल्पना के रूप में है। यह कल्पना ही माया और मिथ्या दृष्टि है। यह माया केवल व्यावहारिक ज्ञान में वास्तविक होती है, अन्यथा पारमार्थिक ज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त तुच्छ एवं युक्ति-द्वारा अनिर्वचनीय है। शारीरक-भाष्यकार श्री शंकराचार्यजी ने कहा है कि :—"जिस प्रकार प्राकृतजीव जब तक प्रबुद्ध (जागृत नहीं होता, तब तक वह स्वप्न की सृष्टि को सत्य ही समझता है। उसी प्रकार ब्रह्मात्मज्ञान के पूर्व मनुष्य लौकिक व्यवहारों को भी सत्य ही समझता है।"

—वेदान्त दर्शन, २।१।१४

वास्तव में जब लोग नींद में स्वप्न देखते हैं, उस समय वे किसी प्रकार भी उसे मिथ्या नहीं समझते। किन्तु निद्रा भंग होने पर उसकी असत्यता प्रतीत हो जाती है; उसी प्रकार माया की असारता पूर्णरूपेण सिद्ध करने का एकमात्र उपाय अध्यात्म विज्ञान है। अध्यात्मविज्ञान के योग प्रकरण द्वारा जिस सम्यक् दर्शन की सृष्टि होती है उसी दृष्टि के प्रभाव से माया की अयथार्थता सप्रमाण सिद्ध हो जाती है। उसके द्वारा मायारूप कारागार से देवभक्ति देवकी के सहित शुद्ध सत्त्व वासुदेव रूप विवेकज्ञान का उद्धार कर जीवात्मा को अनायास ही मुक्त किया जा सकता है। अन्यथा उसे कामना सम्भूत सूक्ष्मशरीर द्वारा अनेक जन्म-जन्मान्तर तक इस घोर दुःखमय संसार में आवागमन करना पड़ता है और किसी उपाय से भी उनकी आत्मा मुक्तिलाभ नहीं कर सकती। इसी को कामनाजनित पाप-पुण्य कर्मोंका बन्धन कहा जाता है। भगवान् कहते हैं :—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

—गीता, ७।१३।१४

इन सात्त्विक, राजसिक और तामसिक-त्रिविध भावों से समस्त जगत् मोहित हो रहा है। इसी कारण मुझे जो कि त्रिविध भावों से अस्पृष्ट और इन सबका नियन्ता होने से निर्विकार हूँ, वे कभी जान नहीं सकते। मेरी यह माया (ईश्वरी-शक्ति) अलौकिक एवं गुणमयी (सत्त्वादि गुणविकारात्मिका) एवं दुस्तरा है। किन्तु जो एकनिष्ठ भक्ति द्वारा मेरे शरणागत हो जाते हैं, केवल वे ही मेरी इस दुस्तरा मायाको अतिक्रम कर सकते हैं।

यह माया को किस प्रकार से अतिक्रम की जा सकती है? जीव के कामनाजन्य सूक्ष्मशरीर का विनाश-साधन करना ही उस माया के बन्धन काटने का मुख्य उपाय है। कामनाओं का परित्याग न कर सकने से उस शरीर का क्षय नहीं होता। कर्म-फल की इच्छा न रखकर उन्हें ईश्वरार्पण करने से ही कामना परित्यक्त होती है। शुद्ध कर्तव्यज्ञान के साथ समस्त कार्यों में प्रवृत्त होने से कर्मफल की अभिलाषा नहीं रह पाती। प्रवृत्ति को इस प्रकार निवृत्ति-पथ पर लाकर निष्काम धर्म की साधना कर सकने से कामनाओं का लय-साधन किया जा सकता है। इस दशा में कामनामय शरीर क्रमशः क्षीण होता चला जाता है। कामनामय शरीर का लय हो जाने पर भी यदि अहं-कार (अस्मित्व-ज्ञान) किञ्चित् मात्र भी हो तो उसका भी ईश्वरार्पित चित्त से संहार किया जा सकता है। अहङ्कार के तिरोहित होने पर ईश्वर का सारूप्य लाभ होता है। ईश्वर स्वरूप की प्राप्ति के पश्चात् उसके उपाधिस्वरूप केवल विशुद्ध सत्त्वगुण की उपलब्धि होती है। इस सात्त्विक देह के लिये साधनार्थ निस्त्रैगुण्य की योग-साधना आवश्यक

होती है। निस्त्रैगुण्य साधित होने पर विदेह होकर मुक्त जीवात्मा ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेती है।

यह बात हम पहले भी वता चुके हैं कि जीव वासना कामना के कारण ब्रह्म से स्वगतभेद सम्पन्न होता है। अतएव साधना की भट्ठी में गलाकर इस वासनारूप मैल को छुटाया जाता है अर्थात् माया ही यही वासना-कामना-रूप मैल है। अतः जिस किसी साधन प्रणाली से इस माया को प्रसन्न या वशीभूत किया जा सके, उसी की कृपा से साधक ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त कर सकता है। देवी पार्वती के प्रश्न के उत्तर में भगवान् सदाशिव ने कहा है कि :—

> शृणु देवी महाभागे तवराधन-कारणम्।
> तव साधनतो येन ब्रह्मसायुज्यमश्नुते ॥
> त्वं परा प्रकृतिः साक्षाद् ब्रह्मणः परमात्मनः।
> त्वत्तो जातं जगत् सर्वत्वं जगजजननी शिवे ॥
> महदाद्यणुपर्यन्तं यदेतत् सचराचरम्।
> त्वयैवोत्पादितं भद्रे ! त्वदधीनमिदं जगत्।
> त्वमाद्या सर्वविद्यानामस्माकमपि जन्मभूः।
> त्वं जानासि जगत् सर्वं न त्वां जानाति कश्चन ॥
>
> —महानिर्वाणतन्त्र, चतुर्थ उल्लास

हे देवि ! तुम्हारी साधना से ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त किया जा सकता है, अतएव मैं तुम्हारी ही साधना का वर्णन करता हूँ। तुम ही पर-ब्रह्म की साक्षात् प्रकृति हो। हे शिवे ! तुम्हीं से जगत् की उत्पत्ति हुई है। तुम्हीं जगत्-जननी हो। हे भद्रे ! महत्तत्त्व से परमाणु पर्यन्त एवं समस्त चराचर सहित यह जगत् तुम्हीं से उत्पादित हुआ है और तुम्हारी ही अधीनता में यह आबद्ध है। तुम समस्त विद्याओं की आदिभूत एवं हमारी भी जन्मभूमि हो ! तुम सम्पूर्ण जगत् को जानती हो। किन्तु तुम्हें कोई नहीं जानता।

मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत चण्डी में सुरथ का उपाख्यान पढ़ने से इस विषय की समुचित मीमांसा हो सकती है। स्वारोचिष मन्वन्तर में चैत्रवंश-सम्भूत सुरथनामा व्यक्ति अवनिमण्डल का राजा था। कुछ दिन पश्चात् कोलाविध्वंसी (शूकरखादक यवन) राजा ने उसके राज्य पर आक्रमण किया। किन्तु महान् प्रवल दण्डधारी राजा होने पर भी दैवगति से सुरथ पराजित हो गया। विश्वासघाती दुष्ट अमात्यों ने भी शत्रु से मिलकर राजधानी का कोषागार और सैन्य-सामन्तादि हरण कर लिया। तदनन्तर राजा सुरथ अधिकार-च्युत होकर मृगया के बहाने एक घोड़े पर चढ़कर अतिदुर्गम वन में चला गया। किन्तु वहाँ जाने पर भी वह अपना मन वश में न कर सका। इधर स्वजन-वन्धु आदि में से कोई भी उसके साथ या पीछे से खोजने नहीं गया। जो उस पर विपत्ति आने से दूसरों का भजन करने लगते हैं और उस समय जो मुँह से सान्त्वना का एक शब्द भी नहीं कहते तथा जो (लोग) उसे उत्सव-समाप्ति के पश्चात् वासी फूल की तरह फेंक देने में कोई कष्ट अनुभव नहीं करते, जगत् की माया के कारण उन्हीं के विरह में राजा व्यथित होने लगा। एक बार एक वैश्यजाति के पुरुष को देखकर राजा ने उससे पूछा, "हे महाशय ! आप कौन हैं ? किस उद्देश्य से यहाँ आये हैं और आपका चित्त शोकाकुल एवं दुश्चिन्ता-परायण क्यों हो रहा है ?' उस वैश्य ने राजा के प्रेमयुक्त भाषण के इन शब्दों को सुनकर विनयपूर्वक कहा 'मैं समाधि नामक वैश्य हूँ। धन सम्पन्न परिवार में मेरी उत्पत्ति हुई है। किन्तु असाधु वृत्त (दुर्जन) पुत्र कलत्रादि ने धन के लोभ से ललचाकर मुझे घर से निकाल दिया। स्त्री-पुत्रादि के द्वारा धन छीन लेने से मैं कलत्र और पुत्र-हीन एवं हितकारी बन्धुओं द्वारा परित्यक्त होकर धनार्थ दुःखित होकर वन-वन भटक रहा हूँ। मैं यहाँ पहुँचकर भी अभी तक अपने पुत्रकलत्र या बन्धुओं के कुशल समाचारों को भी नहीं जान सका हूँ। मेरे पुत्रादि इस समय कुशलपूर्वक हैं या नहीं, और वे सद्वृत्ति

परायण हैं या असत् परायण इसका भी मुझे पता नहीं है । तब राजा ने कहा :—

यैर्निरस्तो भवाँव्लुब्धैः पुत्रदारादिभिर्धनैः ।
तेषुः किं भवतः स्नेहमनुबध्नाति मानसम् ।

—मार्कण्डेयचण्डी

"आप धनलुब्ध भार्या-पुत्रादि द्वारा विताड़ित होनेपर भी उनके प्रति मन में स्नेह-भाव क्यों रखे हुए हैं ? वैश्य ने उत्तर दिया :—

एवमेतद् यथा प्राह भवानस्मद्गतं वचः ।
किं करोमि न वध्नाति मम निष्ठुरतां मनः ।।
यैः सन्त्यज्य पितृस्नेहं धनलुब्धैर्निराकृतः ।
पतिस्वजनहार्दञ्च हार्दितेष्वेव मे मनः ।।
किमेतन्नाभिजानामि जानन्नपि महामते !
यत् प्रेम-प्रवणं चित्तं विगुणेष्वपि बन्धुषु ।।
तेषां कृते मे निश्वासो दौर्मनस्यञ्च जायते ।
करोमि किं यन्न मनस्तेष्वप्रीतिषु निष्ठुरम् ।।

—मा० चण्डी

"आपने मेरे सम्बन्ध में जो कुछ कहा, वह सर्वथा सत्य है। किन्तु मैं क्या करूँ ? मेरा चित्त किसी प्रकार भी निष्ठुर नहीं हो पाता । जिन्होंने धनलुब्ध होकर पितृस्नेह एवं पतिस्वजन-प्रेम को त्यागते हुए मुझे निर्वासित कर दिया है, उनके प्रति भी मेरे अन्तःकरण में प्रेम उत्पन्न होता है । हे महामते राजन् ! आपने जो कुछ कहा उसे मैं भी समझता हूँ । किन्तु फिर भी उन गुणरहित बन्धुओं के प्रति मेरा चित्त प्रेमासक्त क्यों हो रहा है, इसका कारण किसी प्रकार भी समझ में नहीं आता । उनके लिए निःश्वास छोड़ता हूँ और चित्त में विकलता भी होती है । किन्तु उन प्रीति-रहित बन्धुओं के प्रति मेरा

चित्त किसी प्रकार भी ममता-हीन नहीं होता, अतएव मैं क्या करूँ ?"

तब वह नृपतिश्रेष्ठ सुरथ और समाधि वैश्य दोनों मिल कर मेधा मुनि के पास पहुँचे। वहाँ दोनों यथानियम मुनि की पद वन्दना करके बैठ गये और तब राजा ने कृताञ्जलिवद्ध होकर जिज्ञासा की कि "भगवन ! मूर्खलोग जिस प्रकार विषयाशक्ति-द्वारा मुग्ध हो जाते हैं। किन्तु वैसे ही मैं ज्ञानवान् होकर भी उन्हीं की तरह राज्य एवं समस्त स्वामित्व या अमात्यादि राज्याङ्गों के विषयों में ममतापूर्वक आकृष्ट क्यों होता हूँ ? साथ ही मेरी तरह यह वैश्य भी पुत्रों द्वारा निर्वासित एवं स्त्री-भृत्यादि द्वारा परित्यक्त एवं स्वजन-द्वारा त्याग दिया जाने पर भी उनके सम्वन्ध में प्रेम से विह्वल क्यों हो रहा है ? इस प्रकार मैं और यह वैश्य, हम दोनों ही विषयों के दोष प्रत्यक्ष जानते हुए भी ममत्व द्वारा आकृष्ट-चित्त हो अत्यन्त दुःखभागी हो रहे हैं। जिन्होंने "पाद-कण्टक" की तरह हमें दूर कर दिया है, जो हमारे शत्रुओं के वशीभूत होकर हम से सर्वथा विरुद्ध हो गये हैं और निष्ठुरतापूर्ण व्यवहार कर रहे हैं, उनकी सब बातों को जानते हुए भी—अर्थात् ज्ञानवान् होकर भी क्यों इस प्रकार दुःखी हो रहे हैं ? इतनी व्याकुलता बढ़ा रहे हैं। हे महाभाग ! जो विवेकहीन होते हैं, उन्हीं में मुग्धता हो सकती है। किन्तु हम ज्ञानी होकर भी किस कारण से मुग्ध हो रहे हैं। कृपाकर इसका कारण बतलायें ?"

महामुनि मेधा ने कहा कि "हे महाभाग ! इस संसार में सभी विषय पृथक्-पृथक् रूप से प्रतीयमान होते हैं और प्राणिमात्र को विषयों का ज्ञान होता है। किन्तु इससे उन्हें ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। संसार के सभी प्राणियों को हम विषयों की उपलब्धि करते हुए देखते हैं। किन्तु जो दिव्य प्रकाशमान वस्तु है उस आत्मतत्त्व के विषय में संसारासक्त प्राणी चिरकाल पर्यन्त अन्धा ही रहते हैं। वे

कदापि उस तत्त्व को उपलब्ध नहीं कर सकते। इसी प्रकार आत्म-राज्य में विचरण करने वाले मुनिगण रात्रि अर्थात् बाह्य राज्य में अन्ध (दृष्टिहीन) हो जाते है अर्थात् बहिर्भाव की किसी प्रकार भी उन्हें अनुभूति नहीं होती। तथा जो आत्मराज्य में पहुँचकर लब्धज्ञान बन चुके हैं; वे दिन-रात—आन्तर और बहिः राज्य दोनों में तुल्यरूप से एक आत्मसत्ता को ही उपलब्ध करते हैं। अतएव वे सर्वत्र ही तुल्य दृष्टि-सम्पन्न हैं। आप लोग कहते हैं कि हम ज्ञानी हैं। किन्तु हे राजन् ! क्या वह ज्ञान प्रकृत विषयगत नहीं है ? इस ज्ञान में किसी प्रकार भी विवेक का उदय नहीं हो सकता। अतः तुम जिस भाव में अपने को ज्ञानी कहते हो, उस प्रकार के ज्ञानी विषयराज्य का ज्ञानी तो मनुष्यमात्र हो सकते हैं। यह सत्य है कि केवल मनुष्य ही क्यों ? पशु-पक्षी, मृग आदि भी विषयों की उप-लब्धि कर सकते हैं। अतएव उन्हें भी ज्ञानी कहना चाहिए ? अर्थात् आहार-विहारादि बाह्य विषयों में मनुष्य एवं पशु-पक्षी आदि सभी एक प्रकार के ज्ञान से युक्त होते ही हैं। किन्तु फिर भी यह देखना चाहिए कि ज्ञान रखते हुए भी पक्षी क्षुधार्त होने पर मोहवश तण्डु-लादि के कण पहले अपने बच्चों को ही खिलाते हैं। अतएव हे पुरुष-व्याघ्र सुरथ ! क्या तुम यह नहीं देखते कि मनुष्य अन्तिम समय में प्रत्युपकार की आशा से पुत्रादि के प्रति स्नेह दिखलाकर उनका लालन-पालन करता है। किन्तु पशु-पक्षियों की सन्तानें तो प्रति वर्ष ही जन्म लेकर बढ़ती चली जाती हैं और प्रति बार ही वे माता-पिता से सम्बन्ध-विच्छेद करके न जाने कहाँ चले जाते हैं और इस बात को पशु-पक्षी भलीभाँति जानते भी हैं कि उनसे किसी प्रकार का बदला नहीं मिल सकता, और न किसी लाभ की आशा ही की जा सकती है, तो भी क्यों वे इस प्रकार करने को प्रवृत्त होते हैं ? क्या वे इस आत्मदान को नहीं जानते ?

तथापि ममतावर्ते मोहगर्ते निपातिताः ।
महामाया प्रभावेण संसारस्थितिकारिणः ॥
तन्नात्र विस्मयः कार्यो योगनिद्रा जगत्पतेः ।
महामाया हरेश्चैषा तया संमोह्यते जगत् ॥
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥
तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम् ।
सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये ॥
सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी ।
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी ॥

—दुर्गा सप्तशती

ऋषि ने कहा "तुम मन में यह सोचते हो कि पुत्र-दारादि के द्वारा जब प्रकृत सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, तब मानवगण क्यों अनर्थ के हेतु मोह का आश्रय ग्रहण करके निपातित होते हैं ? वास्तविक पक्ष में कोई स्वाधीन भाव से अपना अहित की कामना नहीं करता । किन्तु जो जगत् की स्थिति सम्पादन करती है, उस महामाया के प्रभाव से ही प्राणिगण माया के आवरण से परिपूरित और मोहगर्त में पतित होते हैं । निरन्तर आत्महित साधन करनेवाले मानव की भी महामाया इस प्रकार दुर्गति कर डालती है, इस पर तुम्हें आश्चर्य नहीं करना चाहिए । क्योंकि दूसरों की बात तो तुम से क्या कही जाय, जो कि स्वयं जगत्पति श्रीहरि, वे भी महामाया के द्वारा वशीभूत होकर रह रहे हैं । वह समस्त इन्द्रियशक्ति की नियन्त्रिका है, उसका ऐश्वर्य अचिन्त्य है । वह ज्ञानियों का चित्त भी बलपूर्वक मुग्ध कर लेती है । उसी के द्वारा चराचर जगत् प्रसूत होता है और प्रसन्न होने पर वही जनता की मुक्तिदात्री बनजाती है । वह महामाया जिस प्रकार जीव को संसारगर्त में गिराती है, उसी प्रकार यह तत्त्वज्ञान-

स्वरूपा भी है। उसकी शक्ति द्वारा ही मानव तत्त्वज्ञान लाभ करता है। अतः वह मुक्ति की हेतुरूपा, नित्यवस्तु है। उसके द्वारा संसार-बन्धन होता है और ब्रह्मादि की भी ईश्वरी वे हैं।"

महामुनि मेधा के वचनों को सुनकर राजा ने अश्रुपरिप्लावित नेत्रों से उनके मुख की ओर देखते हुए भक्तिगद्गद् कण्ठ से पूछा :—

भगवन् ! का हि सा देवी महामायेति यां भवान् ।
ब्रवीति कथमुत्पन्ना सा कर्मास्याश्च किं द्विज ॥
यत् स्वभावा च सा देवी, यत्स्वरूपा यदुद्भवा ।
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तो ब्रह्मविदां वर ॥

"हे भगवन् ! आपने जिसे महामाया कहा है, वह कौन है ? वह कैसे उत्पन्न होती है ? उसका कार्य भी क्या है ? हे ज्ञानिश्रेष्ठ ! वह किस प्रकार विशिष्ट स्वभाववाली है अर्थात् उसका स्वरूप नित्य है या अनित्य ? ये सब बातें हम आपसे सुनना चाहते हैं।" राजा की जिज्ञासा सुनकर मेधा ऋषि ने भक्ति-करुण कण्ठ से कहा :—

नित्येव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम् ।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम ॥

वह नित्य, जगन्मूर्ति है, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड ही उसका स्वरूप है, उसी के द्वारा इस स्थावर जङ्गमात्मक विश्व की सृष्टि हुई है; यद्यपि हमारी तरह उसकी उत्पत्ति आदि कुछ भी नहीं होती, तथापि लोग एक प्रकार से उसकी उत्पत्ति आदि बताते हैं; उसे तुम मुझसे अनेक प्रकार से श्रवण करो। वही रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द है। वह प्रकृति और वही सत्त्व, रज और तमोगुणविभाविनी है, उसे प्रसन्न कर लेने से मुक्तिलाभ करने में मनुष्य समर्थ हो सकता है।

महामुनि मेधा ने राजा सुरथ को देवी की उत्पत्ति आदि बताकर अन्त में कहा कि :—

तयैतन्मोह्यते विश्वं सैव विश्वं प्रसूयते ।
सा यांचिता च विज्ञानं तुष्टा ऋद्धिं प्रयच्छति ।।
व्याप्तन्तयैतत् सकलं ब्रह्माण्डं मनुजेश्वर ।
महाकाल्या महाकाले महामारी-स्वरूपया ।।
सैव काले महामारी सैव सृष्टिर्भवत्यजा ।
स्थितिं करोति भूतानां सैव काले सनातनी ।।
भवकाले नृणां सैव लक्ष्मीर्वृद्धिप्रदा गृहे ।
सैवाभावे तथाऽलक्ष्मीर्विनाशायोपजायते ।।
स्तुता संपूजिता पुष्पैर्धूपगन्धादिभिस्तथा ।
ददाति वित्तं पुत्रांश्च मतिं धर्मे तथा शुभाम् ।

"इस देवी-द्वारा ही विश्व—ब्रह्माण्ड मुग्ध हो रहा है, यही इस विश्व की सृष्टि करती है, इसकी सेवा में प्रार्थना करने से यह सन्तुष्ट होकर ज्ञान और सम्पत्ति प्रदान करती है। हे नृपतिवर ! इस महाकाली द्वारा अनन्त विश्व परिव्याप्त हो रहा है। यही महा-प्रलय के समय ब्रह्मादि को भी आत्मसात् कर लेती है और खण्ड-प्रलय में भी समस्त प्राणियों का विनाश कर देती है। सृष्टि के समय समस्त विश्व की रचना करती है और स्थिति के समय समस्त प्राणियों का पालन करती है। किन्तु कभी इसकी उत्पत्ति नहीं होती। वह नित्य है। लोगों के अभ्युदय (उत्कर्ष) के समय यही वृद्धिप्रदा लक्ष्मी है और अभाव के समय यह अलक्ष्मीरूप विनाश-कारिणी भी बन जाती है। इसकी स्तुति करके पुष्प और धूप-गन्धादि द्वारा पूजन करने से धन-पुत्रादि से सम्पन्न और धर्म में शुभ-बुद्धि प्रदान करती है।"

एतत्ते कथितं भूप! देवी माहात्म्यमुत्तमम् ।
एवम्प्रभावा सा देवी ययेदं धार्यते जगत् ॥
विद्या तथैव क्रियते भगवद्-विष्णु-मायया ।
तया त्वमेष वैश्यश्च तथैवान्ये विवेकिनः ॥
मोह्यन्ते मोहिताश्चैव मोहमेष्यन्ति चापरे ।
तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम् ॥
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा ।

ऋषि ने कहा—"हे राजन्! यह जो देवीमाहात्म्य मैंने तुम से कहा है, वह इस प्रकार के प्रभाव से सम्पन्न है और उसी के द्वारा यह जगत् विधृत (अवलम्बित) है। इसी भगवान् विष्णु की माया के प्रसन्न होने से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। यही देवी तुम्हें, इस वैश्य को और अन्यान्य समस्त विवेकियों को मुग्ध कर लेती है और आज भी कर रही है तथा आगे भी करेगी। हे महाराज! तुम इस देवी का आश्रय ग्रहण करो। क्योंकि इसकी आराधना करने से भोग, स्वर्ग एवं मुक्ति लाभ कर सकोगे।"

इस सुरथ उपाख्यान-द्वारा महामाया और उसकी आराधना का कारण स्पष्ट रूप से बता दिया गया है। केवल महामाया की आराधना करके उसे प्रसन्न कर लेने से मुक्ति के हेतुरूप तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है, इसे कदाचित् ही सभी जानते हैं। वह विषयरूपिणी महामाया संसार की स्थिति के लिए हमारे ज्ञान का विध्वंस करके मोहरूप आवरण से ढँककर मोहगर्त में गिरा देती है। उस ज्ञान को वह ज्ञानातीत-महामाया बल-पूर्वक आकर्षण और हरण करके जीव को मुग्ध किये रहती है। ऐसा करने से ही वह इस जगत् को स्थिर रख सकती है। अन्यथा कौन किसका है और किसके लिए क्या कारण हो सकता है? यदि माया का आवरण हट जाय और मोह का चश्मा उतार दिया जाय, तो कौन किसका पुत्र और कौन किसकी कन्या

अथवा कौन किसकी स्त्री, इसका भेद खुल जाता है। वह महामाया रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श का बाजार लगाकर जीव को लुभाया करती है। इन्हीं पाँच प्रकार के प्रलोभनों में फँसकर जीव इधर उधर भटकता फिरता है। इसी के आकर्षण से समस्त जीव उन्मत्त हो रहे हैं। जीवों के लिए साध्य नहीं कि वे इस नशे को, इस आकुल-तृष्णा का निवारण कर सकें। तब यदि वह विषयाधिष्ठात्री देवी—वह परमा विद्या मुक्तिदायिनी सनातनी प्रसन्न हो जाय तो जीव बन्धन-मुक्त हो सकता है। इसीलिए महायोगी महादेव ने कहा है कि :—

शक्तिज्ञानं विना देवि! मुक्तिर्हास्याय कल्पते।

अर्थात् शक्ति-साधना के विना मुक्ति की आशा करना हास्यजनक और वृथा है। इसीलिए साधक कवि ने कहा है कि—"भक्त होना मुँह से कह देने की बात नहीं है, इसके लिए पहले शाक्त होना पड़ता है।" शक्ति-साधना उसी महामाया की साधना है। उसकी साधना करके मनुष्य प्रकृति की सुखलालसा का उपभोग करता है और मोह के पर्दे को नष्ट कर डालता है। प्रकृति का रस उपभोग करके माया का बन्धन-आकर्षण को आकुलता नष्ट करके शक्ति-साधना में उत्तीर्ण होने पर साधक ब्रह्मसायुज्य लाभ कर सकता है। हम भी इस खण्ड में ब्रह्मा, विष्णु, शिवाराध्य विन्ध्याद्रिनिलया महामाया की योगोक्त साधना का उपाय लिखेंगे। यह देवी सर्वव्यापिनी होने से समस्त जगत् भी इसी का रूप है, अतएव हम इस सर्वरूपा परमेश्वरी देवी को प्रणाम करते हैं।

सर्वरूपमयी देवी सर्वं देवीमयं जगत्।
अतोऽहं विश्वरूपां त्वां नमामि परमेश्वरि॥

# कुलकुण्डलिनी-साधन

यहाँ जिस आद्याशक्ति महामाया के विषय में आलोचना की गई है, वह देवी जीव के आधारकमल में कुल-कुण्डलिनीशक्ति के रूप में अवस्थिति कर रही है। यथा :—

मूलाधारे च या शक्तिर्गुरुवक्त्रेण लभ्यते।
सा शक्तिर्मोक्षदा नित्या विद्यातत्त्वं तदुच्यते॥

—तन्त्रवचन

इस स्थूलशरीर के भीतर आधारकमल में जो शक्तिरूपा प्रकृति अधिष्ठित है, उसका तत्त्व गुरु के मुख से सुनना चाहिए, वह शक्तिरूपा प्रकृति ही मुक्तिदात्री है। अतएव उस शक्तितत्त्व को ही विद्यातत्त्व कहते हैं। विद्या का अर्थ है ज्ञान, और ज्ञानोदय होने से ही अविद्या और अज्ञान नष्ट हो जाते हैं। अज्ञान का नाश होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है।

गुह्यदेश से दो अंगुल ऊपर और लिङ्गमूल से दो अंगुल नीचे; इस प्रकार चार अङ्गुल विस्तृत मूलाधारपद्म का स्थान हैं।* उसमें तेजोमय रक्तवर्णा "क्लीं"-वीजरूप कन्दर्प नामक स्थिरतर वायु का निवास है। उसी के बीचोबीच ब्रह्म-नाड़ी के मुख में स्वयम्भूलिङ्ग विद्यमान है। स्वयम्भूलिंग रक्तवर्ण एवं कोटि सूर्य के समान तेजोमय है। उसके शरीर में दक्षिण की ओर से आवर्त साढ़े तीन बार लिपटी हुई सर्परूप में अपनी पूँछ को मुँह में लिए हुए सुषुम्नाछिद्र का अवरोध करके कुलकुण्डलिनीशक्ति अवस्थान कर रही है। यह कुलकुण्डलिनी ही नित्यानन्द-स्वरूपा परमा प्रकृति है। इसके दो मुख हैं

---

* मूलाधारपद्म और कुल-कुण्डलिनी का विवरण मेरे लिखे हुए "योगीगुरु" ग्रन्थ में विस्तार से लिखा गया है।

और यह बिजली की लहर के समान तथा अतिसूक्ष्म एवं अर्ध-ओंकार की आकृति के तुल्य है। देव-दानव, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि समस्त प्राणियों के शरीर में कुल-कुण्डलिनीशक्ति विराजती है, कमल के मध्य में जिस प्रकार भौंरा रहता है, उसी प्रकार शरीर में कुल-कुण्डलिनी निवास करती है। इस कुल-कुण्डलिनी के भीतर कोमल मूलाधार में चित्-शक्ति वास करती है, जिसकी गति अतिशय दुर्लक्ष्य है। सद्गुरु की कृपा और साधक की साधना-शक्ति के विना इस कुल-कुण्डलिनी का ज्ञान होना कठिन है।

यह कुलकुण्डलिनी सर्ववेदमयी, सर्वतन्त्रमयी, सर्वतत्त्वमयी और पञ्चाशद्वर्णरूपिणी है। अवस्थाभेद से यह त्रिगुण एवं त्रिरेखा, त्रिवर्णा, त्रयी, त्रिलोकी, त्रिदोषा और प्रणवस्वरूपा है। यथा :—

सर्ववेदमयी देवी सर्वमन्त्रमयी शिवा।
सर्वतत्त्वमयी साक्षात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः॥
त्रिगुणा सा त्रिदोषा सा त्रिवर्णा सा त्रयी च सा।
त्रिलोका सा त्रिमूर्तिः सा त्रिरेखा सा विशिष्यते॥

इसी प्रकार कुल-कुण्डलिनी योगियों के हृदय में तत्त्व-रूपिणी एवं जीवों के मूलाधार में विद्युदाकाररूप में रहती है। यथा :—

योगिनां हृदयाम्बुजे नृत्यन्ती नित्यमञ्जसा।
आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युदाकृतिः॥

यह स्थूलदेहात्मक बीज-पञ्चक कुण्डलिनी के अन्तर्गत मूलाधार प्राणपञ्चक के रूप में प्रस्फुरित होता रहा है। उसकी उत्तम जीवनी शक्ति कुण्डलिनी देह में अवस्थित होकर जीवन-द्वारा जीवरूप में, बोध द्वारा बुद्धिरूप में और अहंभाव द्वारा अहंकाररूप निवास करती है। यही अपानता को पाकर निरन्तर अधोमुख में प्रवाहित होने लगती है। नाभिमध्य में रहने पर यह समान के नाम से और उप-

विभाग में रहने पर उदान के नाम से अभिहित होती है। इसकी यत्नपूर्वक रक्षा न की जाने से जीव मृत्यु-मुख में निपतित होता है।

कुण्डलिनी ही चैतन्यरूपा, सर्वगा और विश्वरूपिणी महामाया है। यही निर्वाणकारिणी आद्याशक्ति महाकाली है। सर्वदा सभी अवस्थाओं में हम इस शक्ति के प्रभाव का अनुभव करते हैं। क्योंकि यह हमारे सर्वांग में व्याप्त हो रही है। हमारी जो दर्शन, श्रवण और संजीवनीशक्ति तथा वाक्योच्चारण एवं अंग सञ्चालन-शक्ति आदि शक्तियाँ हैं, उन सब की मूल यह आद्याशक्ति कुलकुण्डलिनी ही है। यह सर्वतेजोरूपिणी, सर्वप्रकाशकारिणी, सूक्ष्मरन्ध्रगामिनी, स्थूल-सूक्ष्मरूपिणी, सर्वभूताधार-स्वरूपिणी एवं मूलाधार-विहारिणी है। यह कुल-कुण्डलिनीशक्ति प्रचण्ड स्वर्णवर्ण के तेज-स्वरूप से दीप्तिमती एवं सत्त्व-रजः और तमोगुण की जन्मदात्री ब्रह्मशक्ति है। यह कुण्डलिनीशक्ति ही इच्छा, क्रिया, और ज्ञान इन तीनों नामों से विभक्त होकर सर्वशरीरस्थ चक्रों में परिभ्रमण करती है। यही हमारी जीवन-शक्ति है। प्रकृतिरूपा कुल-कुण्डलिनीशक्ति चार अवस्थाओं में चिन्मय पुरुष की भोग्या बन कर उसे भोक्ता बनाये हुए हैं। वे चार अवस्थायें इस प्रकार हैं :--

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।

—योगसूत्र

प्रकृति के गुण-समूह की विशेष, अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग ये चार अवस्थायें होती हैं। इनके स्वरूप इस प्रकार हैं :—

विशेषावस्था :—स्थूलतत्त्व का नाम विशेषावस्था है। पञ्ची-कृत पञ्चभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रिय एवं पञ्चकर्मेन्द्रिय ये पन्द्रह तत्त्व विशेषावस्था हैं।

**अविशेषावस्था** :—सूक्ष्मतत्त्व का नाम अविशेषावस्था है। पञ्चतन्मात्रा और मन या अन्तःकरण, ये छः तत्त्व अविशेष अवस्था हैं।

**लिङ्गावस्था** :—अहङ्कारतत्त्व और महत्तत्त्व ये दोनों तत्त्व लिङ्गावस्था हैं।

**अलिङ्गावस्था** :—मूल प्रकृति मात्र ही अलिङ्गावस्था है। इस प्रकार इन चौवीस तत्त्वों की चार प्रकार की अवस्थायें निश्चय की गई है।

अलिङ्गावस्था परिणाम-प्राप्त होकर अन्यान्य अवस्थाओं को उत्पन्न करती है। स्त्री-अणु जिस प्रकार पुं० ( पुरुष ) अणु के संयोग से परिणामकारी हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रकृति-पुरुष के संयोग से परिणाम प्राप्त एवं क्रम विवर्तित होकर स्थूल प्रकृति में परिणत हो जाती है। यही प्रकृति की चार अवस्थायें हैं। जड़ विज्ञान के मतानुसार जड़ पदार्थों के परमाणुपुञ्ज जिस प्रकार जड़शक्ति के संयोग से क्षोभित और परिणत होते हैं, मूल प्रकृति भी उसी प्रकार पुरुष के संयोग से ही अङ्ग में विकार एवं वैषम्य को प्राप्त हो जाती है। किन्तु साधकगण, इसको स्मरण रक्खें कि यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं स्थूल-प्रकृति दोनों ही पृथक् हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा है कि:—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

—गीता, ७।४-५

अर्थात् मेरी मायारूपी प्रकृति भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार इन आठ भागों में विभक्त हैं। हे महाबाहो! यह प्रकृति अपरा ( निकृष्ट ) है; इसके अतिरिक्त मेरी जीवरूप परा

( उत्कृष्ट एवं चेतनामयी ) शक्ति और भी है, वही इस जगत् को धारण किये हैं।

पाठक ! इस बात को स्मरण रक्खें कि हम इस परा प्रकृति की ही यहाँ चर्चा कर रहे हैं। यह परा प्रकृति ही पुरुष के योग से क्रम-विवर्तन मार्ग में अपरा बन जाती है। यही मूल या परा प्रकृति महा-शक्ति कुण्डलिनी एवं नित्य-स्वरूपा है। यही जगन्मूर्ति है एवं इसी ने समस्त जगत् को मुग्ध कर लिया है। यही प्रसन्न होने पर मनुष्य को मुक्ति का वरदान दे सकती है। यही विद्या, सनातनी और सकले-श्वरी एवं मुक्ति और बन्धन की हेतुभूता है। यदि कोई यह कहे कि एक ही प्रकृति बन्धन और मुक्ति का कारण कैसे हो सकती है? तो उत्तर में यह कहना पड़ेगा कि जिस प्रकार एक ही सुन्दरी रमणी प्रियजन के लिए सुख, सपत्नी के लिए दुःख एवं निराश प्रेमी के लिए मोह का कारण हो जाती है, उसी प्रकार महाशक्ति विद्या और अविद्या के रूप में मुक्ति और बन्ध का कारण भी हो जाती है।

अतः संसार-नाशाय साक्षिणीमात्मरूपिणीम्।
आराधयेत् परां शक्तिं प्रपञ्चोल्लासवर्जिताम्॥

—सूतसंहिता

अतएव संसार के नाशार्थ उस साक्षीमात्र एवं समस्त प्रपञ्च-उल्लास आदि से परिवर्जित आत्मस्वरूप पराशक्ति की आराधना करना उचित है।

परा तु सच्चिदानन्दरूपिणी जगदम्बिका।
सैवाधिष्ठानरूपा स्याद् जगद्भ्रान्तेश्चिदात्मनि॥

—स्कन्दपुराण

चिदात्मा के द्वारा इस जगत् की भ्रान्ति का ज्ञान होता है और

उसके विषय में सच्चिदानन्द स्वरूपिणी उस पराशक्ति जगदम्बिका को ही अधिष्ठानस्वरूपा जानना चाहिए।

एतत् प्रदर्शितं विप्रा ! देव्या माहात्म्यमुत्तमम् ।
सर्ववेदान्तवेदेषु निश्चितं ब्रह्मवादिभिः ॥
एकं सर्वगतं सूक्ष्मं कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति महादेव्याः परं पदम् ॥
परात्परतरं तत्त्वं शाश्वतं शिवमच्युतम् ।
अनन्तं प्रकृतौ लीनं देव्यास्तत् परमं पदम् ॥
शुभं निरञ्जनं शुद्धं निर्गुणं दैन्यवर्जितम् ।
आत्मोपलब्धि-विषयं देव्यास्तत् परमं पदम् ।

—कूर्मपुराण

हे विप्रगण ! ब्रह्मवादी ऋषियों द्वारा देवी का माहात्म्य परि-निश्चित होकर वेद-वेदान्त में इस प्रकार प्रदर्शित हुआ है कि "वह एकमात्र अद्वितीया, सर्वत्रगामिनी, नित्यकूटस्थ व चैतन्य-स्वरूपा है। केवल योगीगण ही उसके इस निरूपाधिक स्वरूप का दर्शन कर सकते हैं। प्रकृति-परिलीन अनन्त-मंगलस्वरूपा उस देवी के परात्पर तत्त्व एवं परमपद का योगीगण भी अपने हृदय कमल में साक्षात्कार करते रहते हैं। हे महर्षि वृन्द ! देवी के उस अतीव निर्मल, सतत विशुद्ध, सर्व-दीनतादिदोषविवर्जित, निर्गुण, निरञ्जन, केवल आत्मो-पलब्ध-विषय का परमधाम में केवल विमलचेता योगेश्वर पुरुष ही दर्शन करते रहते हैं।

निर्गुणा सगुणा चेति द्विधा प्रोक्ता मनीषिभिः ।
सगुणा रागिभिः सेव्या निर्गुणा तु विरागिभिः ।

—देवीभागवत

हे मुनिगण ! उस परब्रह्मस्वरूपिणी सच्चिदानन्दमयी पराशक्ति

देवी को ब्रह्मवादी मनीषिगण सगुण और निर्गुण के भेद से दो प्रकार बतलाते हैं। उनमें संसारासक्त सकाम साधकगण उसकी सगुणभाव से और वासना-परिवर्जित ज्ञान-वैराग्यपूर्ण निर्मलचेता योगिगण, निर्गुणभाव के आश्रय से आराधना करते हैं।

चितिस्तत्पदलक्ष्यार्था चिदेक-रसरूपिणी।

—ब्रह्माण्डपुराण

"चिति" यह पद तत् पद का लक्ष्यार्थ बोधक है, अतएव वह चिदानन्द-स्वरूपा है।

यहाँ पाठक को एक बात और भी स्मरण रखनी चाहिए कि वेदान्ती लोग माया को मिथ्या कहते हैं—केवल अधिष्ठानरूप ब्रह्म में ही माया कल्पित होती है। इसी कारण अधिष्ठान की सत्ता के विना माया की पृथक् सत्ता की प्रतीति नहीं होती है। इसी कारण यहाँ माया में ही अधिष्ठानभूत सत्तारूप ब्रह्म की ही उपासना सम्भाव्य है, यह स्वीकार की गई है। फलतः इस प्रकार माया का स्वरूपतत्त्व प्रतिपादन होने से भी कोई विरोध संघटित नहीं हो पाता। क्योंकि ब्रह्मोपासना के स्थान पर केवल ब्रह्म को ग्रहण न करने से जिस प्रकार शक्ति की ब्रह्म-सत्ता से भिन्न सत्ता के अभाव से प्रयुक्त शक्ति-विशिष्ट ब्रह्म को ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार माया की आराधना करने से भी परब्रह्म सत्ता-विशिष्ट माया की उपासना का बोध हो सकता है। सारांश, जिस प्रकार निरूपाधिक विशुद्ध चैतन्य स्वरूप परब्रह्म की उपासना असम्भव होती है, उसी प्रकार ब्रह्म को छोड़कर केवल माया की उपासना भी असम्भव होती है। अर्थात माया का कोई आश्रय नहीं है वरन् वही ब्रह्म में आश्रिता है। इसी से तान्त्रिक लोगों की महाशक्ति :—"शवरूपमहादेव-हृदयोपरि संस्थिता ॥" अर्थात् शवरूप महादेव ही निष्क्रिय परब्रह्म हैं और उन्हीं का आश्रय

लेकर ब्रह्मशक्ति क्रियाशीला है। वह महाकाली शिव के ऊपर खड़ी होकर विश्व की सृष्टि और लय कार्य का सम्पादन करती हैं।

इसी प्रकार वैष्णव शास्त्रों में भी देखा जाता है कि :— "राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः" राधापरा प्रकृति है—निरूपाधिक चैतन्यस्वरुप परब्रह्म की उपासना असम्भव होने से, शक्ति-विशिष्ट ब्रह्म मदनमोहन की उपासना की जाती है। राधा के परित्याग करने पर मदनमोहन की सम्भावना ही नहीं है। अर्थात् राधा सहित कृष्णचन्द्र ही मदनमोहन हैं। अतएव मदन-मोहन कहने से प्रकृति-पुरुषरूपी सगुणब्रह्म का ही बोध होता है। पर-ब्रह्म और माया की अभेदता का प्रतिपादन करते हुए शास्त्रों ने कहा है :—

पावकस्योष्णतेवेयं उष्णांशोरिव दीधितिः।
चन्द्रस्य चन्द्रिकेवेयं शिवस्य सहजा ध्रुवा ॥

जिस प्रकार अग्नि की उष्णता, सूर्य की किरणमाला, चन्द्र की ज्योत्स्ना प्रभृति स्वाभाविक शक्तियां हैं। उसी प्रकार उस परात्परा परमाशक्ति शिवरूप परब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति है।

स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लंघितुमीहते।
पादोद्देशे शिरो न स्यात् तथेयं वैन्दवी कला ॥

जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने पैरों द्वारा अपने ही मस्तक की छाया को लांघने की चेष्टा करे, तो प्रत्येक कदम उठाने पर वह छाया एक स्थान पर नहीं रह सकती, उसी प्रकार इस बिन्दु सम्बन्धिनी कला को जानना चाहिए। अर्थात् परब्रह्म का परित्याग करने से कभी ब्रह्मशक्ति की सत्ता रह नहीं सकती।

चिन्मात्राश्रयमायायाः शक्त्याकारे द्विजोत्तमा ।
अनुप्रविष्टा या सम्वित् निर्विकल्पा स्वयम्प्रभा ॥

सदाकारा सदानन्दा संसारोच्छेदकारिणी ।
सा शिवा परमा देवी शिवाऽभिन्ना शिवङ्करी ।।

हे द्विजोत्तमगण! चिन्मात्राश्रिता मायाशक्ति के अवयवों में अनुप्रविष्ट जो सद्रूपा सदानन्दमयी, संसार-उच्छेदकारिणी कल्पनादि विरहिता स्वयम्प्रभा चित्-शक्ति है, वह परमदेवी ही परमशिव-स्वरूपिणी है।

अतएव मूलाधार निवासिनी कुल-कुण्डलिनी शक्ति ही वह परमशिवरूपिणी है। इस शक्ति को प्राप्त करना ही योगसाधना का उद्देश्य है।

यह कुल-कुण्डलिनीशक्ति ही जीवात्मा की प्राणस्वरूपा है। किन्तु कुण्डलिनीशक्ति ब्रह्मद्वार को बन्द करके सुख की नींद सो रही है, इसी कारण जीवात्मा अविद्या के वशीभूत होता है। विकार भी इन्द्रियों द्वारा परिचालित होकर अहम्भावापन्न होते हैं और अज्ञान मायाच्छन्न होकर सुख-दुःखादिरूप भ्रान्तज्ञान के कारण कर्म-फल को भोगते हैं। इस कुल-कुण्डलिनीशक्ति के जागरित न होने पर किसी प्रकार भी ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। यथा :—

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो।
तावत् किंचिन्न सिध्येत मन्त्र-यन्त्रार्चनादिकम् ।।
जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः।
तदा प्रसादमायाति मन्त्र-यन्त्रार्चनादिकम् ।।

—गौतमीतन्त्र

मूलाधार स्थित कुलकुण्डलिनीशक्ति जब तक जागरित नहीं होगी तब तक मन्त्र जप और यन्त्रादि द्वारा पूजा अर्चना आदि निष्फल होंगे। यदि साधक के महापुण्य के प्रभाव से यह कुण्डलिनीशक्ति

जागरित हो जाय तो मन्त्र जपादि भी सफल होते और उनमें सिद्धि प्राप्त होती है।

मूलाधारपद्म में अवस्थित कुण्डलिनी का चैतन्य सम्पादन करने के लिए साधन-भजन और योगादि नाना प्रकार के अनुष्ठान बताये गये हैं। योगानुष्ठान द्वारा उसको चैतन्य कर सकने से ही मानव जीवन की पूर्णता सिद्ध हो सकती है। मूलाधारपद्म से कुण्डलिनी को चैतन्य करके शिरस्थित सहस्रदल-पद्म में परमशिव के साथ संयुक्त कर सकने से ब्रह्मयोग और जीवात्मा के साथ परमात्मा का संयोग होकर प्रकृत योगसाधन हो सकता है। इस खण्ड में हम उसके कुछ उपाय बतायेंगे।

सभी प्रकार की साधनप्रणालियों में योगोक्त और तन्त्रोक्त साधनप्रणाली ही श्रेष्ठ है। साधन के सुगम उपाय तन्त्रशास्त्रों में बताये गये हैं।* किन्तु इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय योगोक्त साधना ही है। अतएव प्रकृति-पुरुषयोग साधन करने के लिए पहले योग के अंग और अन्यान्य विषयों को जान लेना आवश्यक है। इसीलिए प्रथमतः परम आवश्यक ज्ञातव्य विषयों की चर्चा करने के पश्चात् ही प्रकृतयोग के विषय का विवेचन करेंगे। क्योंकि प्राथमिक शिक्षा में अभ्यास हुए बिना क्या कोई विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकता है?

भक्तिपूर्ण चित्त से प्रतिदिन मूलाधार में कुण्डलिनी का ध्यान करने और उसी का स्तव पाठ करने से नित्य चिन्तन के फलस्वरूप इस शक्ति के सम्बन्ध में ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। कुल-कुण्डलिनी का स्तव इस प्रकार है :—

---

* तन्त्रोक्त बहुविध साधना और ब्रह्मशक्ति का विशेष तत्त्व "तान्त्रिकगुरु" में लिखा गया है।

ॐ नमस्ते देवदेवेशि योगीशप्राणवल्लभे ।
सिद्धिदे वरदे मातः स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिते ॥
प्रसुप्तभुजङ्गाकारे सर्वदा कारण-प्रिये ।
कामकलाऽन्विते देवि ममाभीष्टं कुरुष्व च ॥
असारे घोरसंसारे भवरोगान् महेश्वरि ।
सर्वदा रक्ष मां देवि जन्म-संसार-रूपकात् ॥
इति कुण्डलिनी-स्तोत्रं ध्यात्वा यः प्रपठेत् सुधीः ।
स मुक्तः सर्वपापेभ्यो जन्म-संसार-सागरात् ॥

—योगसार

मनुष्य के शरीर में समस्त शक्तियाँ विद्यमान हैं, केवल शक्तियों को वश में करने के लिए उपयुक्त शक्ति-बल प्राप्त नहीं किया जा सकने से ही वे सब गुप्त अवस्था में पड़ी रहती हैं। किसी भी शक्ति को जगाने के लिये उस पर अविच्छिन्न तैलधारा की तरह ध्यान का प्रवाह आरम्भ करने से उस चिन्तन या ध्यान द्वारा वह शक्तितत्त्व हृदय में प्रगट हो सकता है। साधक ध्यान और स्तव पाठ के अन्त में कुण्डलिनी देवी के निमित्त भक्तिपूर्ण चित्त से प्रणाम करे। सभीको यह बात जान लेनी चाहिए कि कुल-कुण्डलिनीशक्ति शाक्त, वैष्णव, शैव, सौर आदि सभी सम्प्रदाय के साधकों के लिए इष्ट-देवता है। उसके प्रणाम का मन्त्र इस प्रकार है :—

इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानाञ्चाखिलेषु या ।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्तिदेव्यै नमो नमः ॥

# अष्टांग योग और उसकी साधना

योग का स्वरूप और तात्पर्य जानने के लिए इस बात का पर्या-लोचन होना आवश्यक है कि योग कहने से क्या समझा जाता है ? परम योगी सदाशिव ने कहा है कि :—

योऽपानप्राणयोर्योगः स्वरजोरेतसोस्तथा ।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः ।।
एवन्तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग -उच्यते ।

—योगबीज

प्राण और अपानवायु, रज और रेत ( वीर्य ) अर्थात् नाद और विन्दु, सूर्य और चन्द्र अर्थात् इड़ा और पिङ्गला का श्वास, एवं जीवात्मा और परमात्मा के संयोग-साधन का नाम योग है।

योगसाधना में सफलता प्राप्त करने के लिए उसके आठ अङ्गों का क्रम से साधना करना पड़ता है। (साधना का अर्थ है अभ्यास।) योग के आठ अङ्ग इस प्रकार है :—

यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान
समाधयोऽष्टावङ्गानि ।

—पा० द०, सा० पाद, २९

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ साधनाओं का नाम अष्टाङ्ग योग है।

इन आठ प्रकार के योगाङ्गों द्वारा सात प्रकार के साधन करना बताया गया है। इसका कारण यह है कि यम और नियम नाम के दो अङ्ग योगविषय के साधन नहीं है। अतएव आसन नामक तृती-

याङ्ग से समाधि पर्यन्त छः अङ्ग और षट्कर्म नामक एक उपाङ्ग ये सात प्रकार के साधन ही योग हैं। यथा :—

शोधनं दृढ़ता चैव स्थैर्यं धैर्यञ्च लाघवम्।
प्रत्यक्षञ्च निर्लिप्तत्वं दैहिकं सप्तसाधनम्॥

—गो० सं०, ४।६

शोधन, दृढ़ता, स्थिरता, धैर्य, लघुत्व, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता इन सात प्रकार के साधनों द्वारा देह को शुद्ध किया जाता है। जिन-जिन योगाङ्गों द्वारा जो जो साधन सम्पन्न किये जाते हैं, उनका विवरण इस प्रकार है :—

षट्कर्मणा शोधनञ्च आसनेन भवेद्दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
प्राणायामात् लाघवञ्च ध्यानात् प्रत्यक्षमात्मनि।
समाधिना निर्लिप्तत्वं मुक्तिरेव न संशयः॥

—गो० सं०, ४।७-८

अर्थात् षट्कर्मद्वारा शोधन, आसनद्वारा दृढ़ता, मुद्राद्वारा स्थैर्य, प्रत्याहारद्वारा लघुत्व, ध्यानद्वारा प्रत्यक्ष, दर्शन और समाधि द्वारा निर्लिप्तता साधन करने से अवश्य ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।*

षट्कर्म और मुद्रा ये दो विषय योग के अष्टांग से पृथक् होने से पाठकों के लिए नये हैं। अतएव इन दोनों विषयों को विस्तार के

---

* मतान्तरे :—प्राणायामैर्देहदोषान् धारणादिभिश्च किल्विषम्।
प्रत्याहारेण विषयान् ध्यानेनानीश्वरगुणान्॥

—स्कन्दपुराण

प्रणायामद्वारा समस्त शरीरगत दोष, धारणा द्वारा पापराशि, प्रत्याहारद्वारा विषयसमूह और ध्यानद्वारा अनीश्वर गुणसमूह को दग्ध करते हैं।

साथ लिखा जाता है। इसमें भी सबसे पहले यह देखना चाहिए कि षट्कर्म किसे कहते हैं और उनके साधन किस प्रकार हैं ?

धौतिर्वस्तिस्तस्था नेतिः लौलिकी त्राटकैस्तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥

—गो० सं०, ८।९

धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक, और कपालभाति इन छः प्रकार के शोधन कार्य को षट्कर्म कहते हैं। इन षट्कर्म-साधन के भेद यहाँ बतलाये जाते हैं :—

धौति एवं उसके प्रकार :—

अन्त्रधौति :—वातसार, वारिसार, वह्निसार, वाहिष्कृति।

दन्तधौति :—दन्तमूल, जिह्वामूल, कर्णमूल, कपालरन्ध्र।

हृद्धौति :—दन्तद्वारा, वमनद्वारा, वस्त्रद्वारा।

मूलशोधन :—गुह्यदेश के अभ्यन्तर का प्रक्षालन (धोना)।

वस्तिप्रकार :—जलवस्ति और शुष्कवस्ति।

नेतिप्रकार :—मुख और नासिकाद्वारा सूत्र सञ्चालन।

लौलिकीप्रकार :—उदर सञ्चालनपूर्वक नाड़ी परिष्कार करण।

त्राटकप्रकार :—आँख के पलक न गिराना।

कपालभातिप्रकार :—वातक्रम, व्युत्क्रम, शीतक्रम।*

इन षट्कर्मों द्वारा पहले नाड़ीशोधन करके फिर योगाभ्यास किया जाता है। क्योंकि शरीरस्थ नाड़ी-समूह मलादि से दूषित हो जाते हैं। अतः नाड़ियों का शोधन न करने से वायु-धारण नहीं किया जा सकता। किन्तु षट्कर्म-द्वारा नाड़ी-शोधन करना साधारण व्यक्ति के लिए अत्यन्त दुष्कर है। क्योंकि उनके भलीभाँति अनुष्ठित न

* इसकी साधनप्रणाली का साधकों को मौखिक उपदेश द्वारा दिया जाता है।

होने से नानाविध रोग उत्पन्न हो जाने की सम्भावना रहता है। अतएव योग्य व्यक्ति के उपदेशानुसार विशेष सतर्कता के साथ षट्कर्म का सम्पादन करना चाहिए। जो साधक उन्हें कठिन समझते हैं, वे हमारे "योगीगुरु" नामक ग्रन्थ में लिखित अन्तर प्रयोग[1] द्वारा नाड़ी शोधन की व्यवस्था करें। यही सबसे सरल उपाय है।

अब मुद्रा विषय की चर्चा करना आवश्यक है। मुद्रा के अभ्यास से मन की स्थिरता और कुलकुण्डलिनीशक्ति की चेतना होती है। यथा :—

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥

—शि० सं०, ४।२५

सभी प्रकार के यत्नपूर्वक उस ब्रह्मरन्ध्र के मुख पर सोई हुई परमेश्वरी कुलकुण्डलिनीशक्ति को जागरित करने के लिए मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।

मुद्रायें शरीर के लिए व्यायाम के समान हैं। देहस्थित वायु प्रभृति को शरीर संकोच-विकोचन द्वारा इच्छानुसार परिचालन को

---

१. प्राणायामक्षयितमनोमलस्य चित्तं ब्रह्मणि स्थितं भवतीति प्राणायामो निर्दिश्यते। प्रथमं नाडिशोधनं कर्तव्यं, ततः प्राणायामेऽधिकारः। दक्षिणनासापुटमङ्गुल्यावष्टभ्य वामेन वायुं पूरयेद् यथाशक्तिः, ततोऽनन्तरमुत्सृज्यैवं दक्षिणेन पुटेन समुत्सृजेत्। सव्यमपि धारयेत्। पुनर्दक्षिणेन पूरयित्वा सव्येन समुत्सृजेत् यथाशक्तिः त्रिःपञ्चकृत्वा एवैवमभ्यसतः साधनचतुष्टयमपररात्रे, मध्याह्ने, पूर्वरात्रे, मध्यरात्रे च पक्षान्मासाद्विशुद्धि-र्भवति।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, शङ्करभाष्य, २।८

मुद्रा कहा जा सकता है। इनका भी बड़ी सावधानी से साधन करना चाहिए। मुद्रायें अनेक प्रकार की हैं। उनमें महामुद्रा, नभोमुद्रा, या खेचरी मुद्रा, उड्डीयान, जालंधरी, मूलवन्ध, महावेध, विपरीतकरणी, महावन्ध, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, तड़ागी, माण्डवी, पञ्चधारणा (पाँच प्रकार की धारणा यथा :— अधो वा पार्थिव, आम्भसी, वैश्वानरी, वायवी और नभसी,) शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी और भुजङ्गिनी, पच्चीस प्रकार की मुद्रायें योगियों के लिए सिद्धिदात्री हैं।

धारणा की साधना मुद्राद्वारा सम्पन्न होती है। योगिवर श्री गोरक्षनाथ के मतानुसार योगाङ्ग केवल छः प्रकार के हैं। यथा :—

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्॥

—गो० सं०, १-५

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन छह प्रकार के साधनों को योग का अंग कहा गया है। आसन-द्वारा दृढ़ता, प्रत्याहारद्वारा धीरता, प्राणायामद्वारा लघुत्व, ध्यान-द्वारा प्रत्यक्ष और समाधिद्वारा निर्लिप्तता का विषय वर्णन किया गया है। आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि इन पाँच का ही योगाङ्ग के रूप में उल्लेख किया गया है। यद्यपि इन छहों को योग का अंग स्वीकार किया गया है, केवल पाँच की ही साधना बताई गई है। अन्तिम धारणा नामक योगांग के साधन का उल्लेख किसी भी रूप में नहीं किया गया है। उसके वदले मुद्रा द्वारा स्थैर्य साधन का उल्लेख अवश्य किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि धारणा द्वारा मुद्रारूप प्रक्रिया के सहयोग से स्थैर्य साधन करना बताया गया है। यद्यपि यम और नियम इन दो योगांगों को भी

गोरखनाथ ने स्वीकार नहीं किया है, तथापि षट्कर्म द्वारा शोधन कार्य करने का उल्लेख अवश्य किया है। इससे ज्ञात होता है कि षट्कर्म पद्धति नियम नामक योगाङ्ग के ही अन्तर्गत है। जबकि षट्कर्म के लिए समस्त पद्धति का उल्लेख किया गया है और नियम नामक योगाङ्ग की साधना जिस प्रकार की देखने में आती है, इन दोनों का मिलान करने से यह भावार्थ निकलता है कि षट्कर्म नामक शोधन कार्य नामक योगाङ्ग का अंश ही विशेषरूप से प्रतीत होता है। केवल यम नामक योग के प्रथम अंग का किसी प्रकार की साधनप्रक्रिया देखने में नहीं आती। क्योंकि उसकी अधिकांश क्रियायें मानसिक हैं। इसीलिए कहा जा सकता है कि 'यम' नामक योग का प्रथम अङ्ग केवल चित्तशुद्धि के साधन से भिन्न कुछ भी नहीं है। यही कारण है कि अनेकानेक योगियों ने "यम" नामक अङ्ग को योगाङ्ग में सम्मिलित नहीं किया है। जो भी हो, जहाँ तक ज्ञात हो सका है उससे इस प्रकार मिलन संस्थापन करना असङ्गत नहीं कहा जा सकता। यथा :—

| | | | |
|---|---|---|---|
| प्रथमाङ्ग | यम | उसका साधन | चित्तशुद्धि का अभ्यास |
| द्वितीयाङ्ग | नियम | ,, | (षट्कर्मद्वारा) शोधनाभ्यास |
| तृतीयाङ्ग | आसन | ,, | दृढ़ताभ्यास |
| चतुर्थाङ्ग | प्राणायाम | ,, | लाघवाभ्यास |
| पञ्चमाङ्ग | प्रत्याहार | ,, | धैर्याभ्यास |
| षष्ठाङ्ग | धारणा | ,, | (मुद्राद्वारा) स्थैर्याभ्यास |
| सप्तमाङ्ग | ध्यान | ,, | प्रत्यक्षाभ्यास |
| अष्टमाङ्ग | समाधि | ,, | निर्लिप्ताभ्यास |

इस तरह आठ प्रकार के साधनाभ्यास द्वारा योग के आठों अङ्गों का वर्णन किया गया है। इन आठों योगाङ्गों का यथाक्रम साधन

करने से अवश्य ही मोक्षलाभ हो सकता है। इन आठों योगाङ्गों का पृथक्-पृथक् विवरण "योगीगुरु" नामक ग्रन्थ में लिखा गया है।

इस ग्रन्थ का अध्ययन करने से पहले योगीगुरु नामक पुस्तक को एक बार अवश्य पढ़ लेना चाहिए। क्योंकि उसमें योग की प्राथमिक शिक्षा अर्थात् शरीरतत्त्व, यथा—नाड़ी, वायु और चक्रादि का विवरण, योग के नियमादि का पालन, अष्टाङ्गयोग का पृथक्-पृथक् विवरण और आसनसाधन प्रभृति स्पष्टता और विस्तारपूर्वक लिखे गये हैं। अतः ग्रन्थ विस्तार के भय से इसमें उनकी पुनरावृत्ति नहीं की गई है। इसीलिए उनके समझे विना इन सभी तत्त्वों को समझ सकने में भ्रम या सन्देह हो सकता है। इस खण्ड में लिखित साधन-प्रणाली के लिए केवल प्राणायाम और समाधि का ही विशेप विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। प्राणायाम साधन किए विना उच्च विषयों का अभ्यास कर सकना असम्भव होता है।

# प्राणायाम-साधना

श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति को वदल कर शास्त्रोक्त नियम के अधीन कर देना अथवा स्थान विशेप में धारण करना ही प्राणायाम कहलाता है। योगशास्त्र के आचार्य भगवान् पतञ्जलि ने कहा है कि :—

**तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।**

—पातञ्जल दर्शन, साधनपाद, ४९.

**श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति को विच्छिन्न करके योग के नियमानुसार स्थिर करने का नाम ही प्राणायाम है।**

पूर्वार्जितानि पापानि, पुण्यानि विविधानि च ।
नाशयेत् षोडशप्राणायामेन योगिपुङ्गवः ॥
—शिवसंहिता, ३।६०

षोडश प्राणायाम करके साधक पूर्वजन्म और इस जन्म के ज्ञाताज्ञात विविध प्रकार के पाप और पुण्य को नष्ट कर सकता है ।

पुण्य नष्ट करने का कारण यह है कि पाप और पुण्य दोनों ही बन्धन के कारण हैं—अर्थात् एक यदि लोहे की सांकल है तो दूसरी सोने की । अतएव :—

प्राणायामेन योगीन्द्रो लब्ध्वैश्वर्याष्टकानि वै ।
पापपुण्योदधिं तीर्त्वा त्रैलोक्यचरतामियात् ॥
—शिवसंहिता, ३।६२

योगीन्द्र व्यक्ति प्राणायाम द्वारा अणिमादि ऐश्वर्यलाभ करके पापपुण्यरूप महासमुद्र को पार करते हुए त्रिलोक में पर्यटन कर सकते हैं ।

पूर्वार्जितानि कर्माणि प्राणायामेन निश्चितम् ।
नाशयेत् साधको धीमानिहलोकाद्भवानि च ॥
—शिवसंहिता, ३।६४—६५

प्राणायाम द्वारा साधक के पूर्वजन्मार्जित और इहजन्मार्जित कर्म-समूह का विनाश हो जाता है । साधक केवल तीन घण्टे तक यदि वायु धारण करने के लिए शक्तिशाली हो जाये तो समस्त अभिलषित पदार्थ प्राप्त कर सकता है । यथा :—

वाक्यसिद्धिः कामचारी दूरदृष्टिस्तथैव च ।
दूरश्रुतिः सूक्ष्मदृष्टिः परकायप्रवेशनम् ॥

विण्मूत्रलेपने स्वर्णमदृश्यकरणं तथा ।
भवन्त्येतानि सर्वाणि खेचरत्वञ्च योगिनाम् ।

—शिवसंहिता, २।६४-६५

उस अवस्था में साधक स्वेच्छाविहार कर सकता है, उसको वाक्यसिद्धि प्राप्त हो जाती है और दूरदर्शी भी बन जाता है। दूर की बात सुनना या अत्यन्तसूक्ष्म वस्तु देखना, यहां तक कि परकाया में प्रवेश की क्षमता भी उसमें आ जाती है।* विण्मूत्र (पखाना और पेशाब) के लेपन से स्वर्ण धातु बदल जाती है और उसे अन्तर्धान करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। योग के प्रभाव से प्रायः सभी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं और अविरोध गति से सिद्धयोगी शून्यपथ में गमनागमन करने के लिए शक्तिशाली हो जाता है।

याममात्रं यदा पूर्णः भवेदभ्यासयोगतः ।
एकवारं प्रकुर्वीत योगी तदा च कुम्भकम् ।
दण्डाष्टकं यदा वायुर्निश्चलो योगिनो भवेत् ।
स्वसामर्थ्यात्तदाङ्गुष्ठे तिष्ठेद्वातुलवत् सुधीः ॥

—शिवसंहिता, ३।५

अभ्यास करते हुए जब पूर्ण एक प्रहर तक वायु को रोकने की शक्ति प्राप्त हो जाती है, तब एक बार कुम्भक करना चाहिए। यदि एक प्रहर समय तक योगी के शरीर में प्राणवायु निश्चल हो सके तो वह योगी अपने सामर्थ्य के बल पर वातुल ( उन्मत्त ) की तरह केवल पैर के अंगूठे पर भी खड़ा रह सकता है।

इन अवस्थाओं के अनन्तर अभ्यास के द्वारा योग में योगी को

---

* शिवावतार श्री शङ्कराचार्य ने कामकला विषयक ज्ञान प्राप्त करने के लिए राजा अमरूक के मृतदेह में प्रवेश करके कुछ कम एक महीने तक राज्य सुख उपभोग किया था।—शङ्करदिग्विजय।

परिचयावस्था प्राप्त होती है। जब इड़ापिङ्गला को परित्याग करके वायु निश्चल हो जाती है। और प्राणवायु सुषुम्णा नाड़ी के मध्यस्थ छिद्रपथ से संचार करती है, वही परिचयावस्था कहलाती है।

क्रियाशक्तिं गृहीत्वैव चक्रान् भित्वा सुनिश्चितम्।
यदा परिचयावस्था भवेदभ्यासयोगतः।
त्रिकूटं कर्मणां योगी तदा पश्यति निश्चितम्॥

—शिवसंहिता, ३।७३-७४

उक्त वायु क्रियाशक्ति ग्रहण करके समस्त चक्रों को भेद करती हुई जब अभ्यासयोग से निश्चित परिचयावस्था को प्राप्त हो जाती है, तब साधक को निश्चित कर्म के त्रिकूट का दर्शन होता है। अर्थात् कर्मजन्य आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक इन त्रिविध तापों का अनुभव होता है। उनके स्वरूप का दर्शन होने से प्रकृति का ज्ञान भी हो सकता है। योगीश्वर गोरखनाथ ने कहा है कि :—

अल्पकाले भवेत् प्राज्ञः प्राणायामपरायणः।
योगिनो मुनयश्चैव ततः प्राणं निरोधयेत्॥

—गो० सं०, २३२

प्राणायाम परायणव्यक्ति अल्पकाल में ही प्राज्ञ अर्थात् आत्मतत्त्वज्ञ हो सकता है। अतः योगी और मुनिगण प्राणसंरोध का अभ्यास करें।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टेन दीर्घः सूक्ष्मः।

—पातञ्जलदर्शन, २।५०

प्राणायामवृत्ति भेद से तीन प्रकार का होता है बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति स्तम्भवृत्ति। रेचक का नाम बाह्यवृत्ति अर्थात् श्वासत्याग करके फिर उसे ग्रहण न करना। पूरक का नाम आभ्यन्तरवृत्ति अर्थात् श्वास ग्रहण करके उसे न त्यागना। तथा कुम्भक का नाम स्तम्भवृत्ति अर्थात् प्रपूरित वायु को रोक कर रखता है। इस प्रकार प्राणायाम के

सूक्ष्म और दीर्घ ये दो भेद और भी हैं। दीर्घ या सूक्ष्म के जानने का उपाय स्थान, काल और संख्या है। देह में वायु पूर्ण करते समय सिर से लेकर पाँव तक यदि चिन-चिन (झन् झनाहट) होने लगे तभी उसे दीर्घ और ऐसा न होने पर सूक्ष्म समझना चाहिए। इस प्रकार इन दो भेदों के जानने का नाम 'स्थान' है। इसी के द्वारा यह भी जाना जा सकता है कि स्थिर करके कुम्भक कितनी देर किया गया है। यदि अधिक समय तक कुम्भक किया जाय तो वह दीर्घ कहा जायगा अन्यथा वह सूक्ष्म कहा जायगा। इस भेद को जानने का नाम 'काल' है। इसी प्रकार संख्या द्वारा अर्थात् १६।६४।३२ बार या ऐसी ही संख्या में मन्त्र जप द्वारा जो जाना जाता है, उसी का नाम संख्या है। संख्या की वृद्धि करने पर दीर्घ और घटाने पर सूक्ष्म होगा।

प्राणापाननिरोधस्तु प्राणायाम उदाहृतः।

—मारकण्डेयपुराण

प्राण और अपान वायु के परस्पर संयोग को 'प्राणायाम' कहते हैं। रेचक, पूरक और कुम्भक इन त्रिविध कार्यों का सम्पादन करना भी प्राणायाम कहलाता है। यथाः—

प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचक-पूरक-कुम्भकैः॥

— योगी याज्ञवल्क्य, ६।२

प्राणायामपरायण व्यक्ति सर्वरोग से मुक्त हो जाता है। किन्तु अयुक्त अभ्यास के द्वारा नानाविध रोगों की उत्पत्ति होती है। यथाः—

प्राणायामेन सिद्धेन सर्व-व्याधि-क्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वव्याधिसमुद्भवः॥
हिक्का श्वासश्च का सश्च शिरः कर्णाक्षिवेदनाः।
भवन्ति विविधा रोगाः पवनस्य व्यतिक्रमात्॥

—सिद्धियोग

प्राणायाम-साधना में सिद्धि प्राप्त कर लेने पर सभी व्याधियां नष्ट हो जाती हैं। किन्तु प्रथमतः शिक्षार्थी को विशेष सावधानी के साथ क्रमशः अभ्यास बढ़ाना चाहिए। क्योंकि इसका सम्बन्ध प्राणवायु के साथ होता है। यदि वायु में व्यतिक्रम हो जायगा और अयुक्त ( उल्टा सीधा ) अभ्यास किया जाय तो इससे हिचकी, श्वास, खांसी, सिर-दर्द अथवा कान या आँख के रोग आदि व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

अतएव श्वास-प्रश्वास का आकर्षण कदापि वेग पूर्वक नहीं करना चाहिए अर्थात् दोनों धीरे-धीरे, और सावधानी के साथ करना उचित है। इस प्रकार अल्प वेग से श्वास परित्याग करना चाहिए कि हाथ पर रखा हुआ सत्तू ( सतुआ ) भी निःश्वास के वेग से न उड़ सके। रेचक, पूरक या कुम्भक के समय अङ्ग-प्रत्यङ्ग को कम्पित या वक्र ( टेढ़ा ) नहीं करना चाहिए। इस प्रकार उचितरूप से प्राणायाम की शिक्षा प्राप्त करने से वह शीघ्र ही आयत्त ( वशीभूत ) और अपीड़क ( कष्ट न देने वाला ) हो जाता है। किन्तु इसके विरुद्ध क्रिया करने से अर्थात् जल्दी-जल्दी कार्य समाप्त करने के प्रयत्न से श्वास प्रश्वास की शृङ्खला विच्छिन्न होकर अनिष्ट की सम्भावना रहती है। यदि प्राणवायु हठात् आबद्ध हो जाय—रुक जाय तो वह लोमकूप से निकल कर उसके द्वारा कभी-कभी शरीर के विदीर्ण हो जाने की सम्भावना रहती है। अतएव जंगली हाथी की तरह उसे क्रम से वश में लाना चाहिए। क्योंकि जंगली हाथी की तरह प्राणवायु भी धीरे-धीरे से ही वशीभूत होती और मृदुता प्राप्त करती है, एकदम नहीं। प्राणायाम का अभ्यासी जब कुम्भक के पश्चात् रेचक करे अर्थात् खींची हुई बाह्य वायु को जब छोड़े तब और भी अधिक सतर्कता रखे।

प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः।
कम्पे च मध्यमः प्रोक्तः उत्थाने चोत्तमो भवेत्॥

—योगी याज्ञवल्क्य, ६।२५

प्राणायाम के समय यदि शरीर से पसीना निकलने लगे तो उसे अधम और कम्प होने पर मध्यम एवं शून्य में उठने से उत्तम योग कहते हैं। प्रथम बार में ही यदि पसीना आने लगे तो उससे अन्यान्य लक्षण प्रगट होते हैं। यथा :—

स्वेदः संजायते देहे योगिनः प्रथमोद्यमे।
यदा संजायते स्वेदो मर्दनं कारयेत् सुधीः।
अन्यथा विग्रहे धातुर्नष्टो भवति योगिनः॥

—शि० सं०, २१४९

प्राणायाम-साधना करने के समय प्रथमतः शरीर से पसीना निकलता है। किन्तु उसे सारे शरीर में ही मल लेना चाहिए ऐसा न करने पर सारे शरीर की धातुएं नष्ट हो जायेंगी।

द्वितीये हि भवेत् कम्पो दार्दुरी मध्यमे मतः।
ततोऽधिकतराभ्यासाद् गगनेचरसाधकः॥

—शि० सं० ३।५०

प्राणायाम के द्वितीय कल्प में शरीर कांपने लगता है और तृतीय कल्प में दर्दुर ( मेंढ़क ) के समान गति हो जाती है। अर्थात् बद्धपद्मासनस्थ योगी को अवरुद्ध प्राणवायु प्लुतगति के समान चालित कर देती है। इसके बाद अधिक समय तक वायु को रोक कर रख सकने से भूमि परित्याग करके मनुष्य शून्य में विचरण कर सकता है।

अल्पनिद्रा पुरीषञ्च स्तोकं मूत्रं च जायते।
अरोगित्वमदीनत्वं योगिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
स्वेदो लाला कृमिश्चैव सर्वथैव न जायते।
तस्मिन् काले साधकस्य भोज्येष्वनियमग्रहः॥

अत्यल्पं बहुधा भुक्त्वा योगी न व्यथते हि सः ।
अथाभ्यासवशाद् योगी भूचरीं सिद्धिमाप्नुयात् ॥

—शिवसंहिता, ३

प्राणायाम सिद्धि के लक्षण इस प्रकार हैं :—अल्प निद्रा, अल्प मूत्र, और अल्प पुरीष होता है। शारीरिक या मानसिक कोई भी रोग नहीं होता। कोई दुःख न होकर चित्त सदैव सन्तुष्ट रहता है। योगी के शरीर में प्रस्वेद, कृमि, कफ, लालादि उत्पन्न नहीं होते। योगी बिना आहार ( भोजन ) अथवा अल्पाहार से वा बहुविध आहार करने पर भी कोई कष्ट नहीं पाते। इसी योग की सहायता से साधक भूचरी सिद्धि प्राप्त कर सकता है। अर्थात् गम्य या अगम्य ( जाने या अनजाने ) सभी स्थानों में गमनागमन करने के लिए शक्तिमान् हो जाता है।

योगशास्त्र में आठ प्रकार के प्राणायाम बताये गये हैं :—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भिकाः ॥

—गो० सं०, १९५

अर्थात् सहित, सूर्य भेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, और मूर्छा तथा केवली ये आठ प्रकार के कुम्भक हैं। घेरण्ड कहते हैं कि :—

सूर्यभेदनमुड्डाख्यं तथा शीत्कारः शीतली ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लावनी चाष्टकुम्भिकाः ॥

—घे० सं०

सूर्यभेदन, उड्डीयान, शीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा, और प्लावनी ये आठ प्रकार के कुम्भक हैं। इन पर से यह देखा जाता है कि सहित के स्थान में उड्डाख्य और उज्जायी के प्रयत्न को शीत्कार तथा केवली के स्थान में प्लावनी नाम के कुम्भक का उल्लेख किया गया है। इन सभी का पृथक-पृथक वर्णन आगे चल कर किया जायगा।

किन्तु इसके पूर्व आसनसिद्धि और नाड़ीशोधन करके तब कहीं प्राणायाम साधन किया जा सकता है। क्योंकि इसी से सुगमतापूर्वक सफलता प्राप्त हो सकती है।*

# सहित-प्राणायाम

रेच्य चापूर्य यः कुर्यात् स वै सहितकुम्भकः।

—योगी याज्ञवल्क्य

श्वासत्याग और श्वासग्रहण करके जो प्राणायाम किया जाता है, उसी को सहित प्रणायाम कहते हैं।

मुखं संयम्य नासाभ्यां चाकृष्य पवनं शनैः।
यथा लगति कण्ठान्ते हृदयावधि सस्वनः।
पूर्ववत् कुम्भयेत् प्राणान् रेचयेदिडया ततः॥

मुँह को वन्द करके नाक से धीरे धीरे प्राणवायु को खींचना चाहिए और कण्ठ से लेकर हृदय तक रोक कर पूर्ववत् कुम्भक करके इड़ा ( दक्षिण नासा पुट ) से रेचन कर देना चाहिए। यही घेरण्ड संहिता के उज्जाख्य प्राणायाम हैं।

इसका क्रम इस प्रकार है।—

इडया वायुमारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम्।
शनैः षोड़शभिर्मात्रैरकारं तत्र संस्मरेत्।
धारयेत् पूरितं पश्चाच्चतुःषष्ट्या च मात्रया।
उकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन् प्रणवं जपेत्॥

---

* तस्मिन् आसनसिद्धौ सति श्वासप्रश्वासयोर्वाह्यकोष्ठवाय्वोर्या अन्तर्बहिर्गतिः तस्य यो विच्छेदः स प्राणायामः। स च आसन-जयात् सुखेन सेत्स्यतीति विभावनीयम्। —राजमार्तण्ड

यावद्वा शक्यते तावद् धारणं जपसंयुतम्।
पूरितं रेचयेत् पश्चात् प्राणं बाह्यानिलान्वितम् ॥
शनैः पिङ्गलया गार्गि द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः।
प्राणायामो भवेदेवं पुनश्चैवं समभ्यसेत् ॥

--यो० या०, ६।४-७

दाहिने स्वर को रोक कर बायें स्वर से वायु खींचते हुए उदर में धारण करने के लिए धीरे-धीरे १६ बार अकार मंत्र का जप करना चाहिए। इसके बाद ६४ बार उकार का जप स्मरण करते हुए उसे रोके रहो। इसके बाद ३२ बार मकार का स्मरण करते हुए पिंगला रेचन करो। इस प्रकार प्रणव के जप पूर्वक प्राणायाम करना उचित है। अथवा जब तक सम्भव हो मन्त्र जप करते हुए पूरक करके वायु को धारण करे और तदनन्तर रेचन कर दे। इस प्रकार एक प्राणायाम हुआ। हे गार्गि तुम इस प्रकार के प्राणायाम का पुनः-पुनः अभ्यास करो।

इस सहित कुम्भक का विस्तृत वर्णन "योगीगुरु" ग्रन्थ में लिखा जा चुका है। अतः यहाँ अधिक व्याख्या नहीं की गई। पाठकगण "योगी-गुरु" ग्रन्थ को देख कर अभ्यास करें।*

सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायाम समाचरेत्।
सगर्भो बीजमुच्चार्य निर्गर्भो बीजवर्जित। ॥

---

* पूरयेत् षोडशैर्वायुः धारयेत्तच्चतुर्गुणैः। रेचयेत् कुम्भकार्द्धेन अश-क्तस्तत्तृतीयतः। तदशक्तौ तच्चतुर्थ्या एवं प्राणस्य संयमः। प्राणायामं विना मन्त्री पूजनेनैति योग्यतानाम्। कनिष्ठा नामिकाङ्गुष्ठैः यन्नासापुट धारणम्। प्राणायामः स विज्ञेयस्तर्जनी मध्यमां विना। —राजमार्तण्ड

सहित नामक प्राणायाम दो प्रकार का कहा गया है :—एक "सगर्भ" दूसरा निगर्भ" । वीजमन्त्र को उच्चारण करके जो कुम्भक किया जाता है, वह सगर्भ और वीजमन्त्र रहित कुम्भक का निर्गर्भ कहा जाता है ।

श्लेष्मरोगहरञ्चैतदनलैर्दीप्तबन्धनम् ।
नाडीजलोदरी धातुगण्डदोषविनाशनम् ।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुड्डाख्यं कुम्भकन्त्विदम् ।।

—घे० सं०

इस सहित या उड्डाख्य प्राणायाम के सिद्ध हो जाने से साधक के श्लेष्मजनित समस्त रोग और जलोदरी, धातुगण्डादि दोष नष्ट होकर जठराग्नि प्रदीप्त होती है ।

## सूर्यभेद-प्राणायाम

पूरयेत् सूर्यनाड्या च यथाशक्ति वहिर्मरुत् ।
धारयेद्बहुयत्नेन कुम्भकेन जालन्धरैः ।।

—गो० सं०

प्रथम सूर्यनाड़ी ( पिङ्गला ) द्वारा अर्थात् दक्षिण नासिका द्वारा यथाशक्ति वायु का आकर्षण करने के पश्चात् उसे जालन्धरमुद्रा धारण करके कुम्भक करें । जालन्धर मुद्रा इस प्रकार है :—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये मारुतं धारयेद् दृढ़म् ।
नाभिस्थाग्नौ कपालस्थ-सहस्रकमलच्युतम् ।
अमृतं सर्वदास्रावं विन्दुत्वं याति देहिनाम् ।।
यथाग्निश्च तदमृतं न पिबेच्च पिबेत् स्वयम् ।।

—दत्तात्रेयसंहिता

अर्थात् शिर-स्थित सहस्रदल-कमल से टपकनेवाली अमृतधारा को नाभिस्थित जठरानल में न गिरने देकर स्वयं पान करना ही "जालन्धर-बन्ध" कहलाता है।

यावत् स्वेदं न केशाग्रात् तावत् कुर्वन्तु कुम्भकम्।

—गोरक्षसंहिता

जब तक केश के अग्र भाग से स्वेद ( पसीना ) न निकलने लगे, तब तक कुम्भक करना चाहिए।

सर्वे ते मूर्यसम्भिन्ना नाभिमूलात् समुद्धरेत्।
इडया रेचयेत् पश्चात् धैर्येणाखण्डवेगतः॥

—गो० सं, २०९

यह कुम्भक करते समय प्राण अपान प्रभृति वायुओं को सूर्य-नाड़ी अर्थात् पिंगला द्वारा भेद करके समान वायु को नाभिमूल से उद्धृत करना चाहिए। इसके पश्चात् इड़ा अर्थात् वामनासा पथ से धैर्य पूर्वक क्रमशः, पूर्ण वेग से रेचक करो।

पुनः सूर्येण चाकृष्य कुम्भयित्वा यथाविधि।
रेचयित्वा साधयेत्तु क्रमेण च पुनः पुनः॥

—गो० सं, २१०

फिर दक्षिण नासा से पूरक और सुषुम्ना द्वारा कुम्भक करके वाम-नासा-पथ से रेचन करना चाहिये। इसी प्रकार बारम्बार किया जाता है। मतान्तर के अनुसार सूर्यभेद प्राणायाम की प्रक्रिया इस प्रकार है :—

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा मुक्तासनं ततः।
दक्ष नाड्या समाकृष्य बहिस्थं पवनं शनैः॥
आकेशाग्रान्नखाग्राद्वा निरोधावधि कुम्भयेत्।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत् पवनं सुधीः॥

—घेरण्डसंहिता

साधक योगसाधना के स्थान पर पद्मासन से बैठ कर जिह्वा को उलटते हुए तालू के कुहर ( छिद्र ) से टिका दे। इसके बाद बायें हाथ के अंगूठे द्वारा वाम नासापुट को बन्द करके दाहिनी नासा द्वारा धीरे-धीरे यथाशक्ति वायु का आकर्षण करे। इसके पश्चात् अनामिका और कनिष्ठा इन दो अंगुलियों द्वारा दक्षिण नासापुट को बन्द करके नाभि-मूल से समान वायु को बलपूर्वक उठा कर प्रपूरित ( खींची हुई ) वायु के साथ कण्ठ में रोक कर कुम्भक करे और जब तक केश की नोक से पसीना न निकलने लगे तब तक कुम्भक करे, वायु को रोके। कुम्भक के पश्चात् उस वायु को धीरे-धीरे अविच्छिन्न तैलधारा की तरह वामनासा के मार्ग से रेचन कर दे। इसके पश्चात् पुनः दक्षिण नासा पथ से पूरक, पूर्ववत् कुम्भक और वामनासा के मार्ग से रेचन कर दे। इस प्रकार यथाशक्ति पुनः पुनः करना चाहिए। ब्राह्ममुहूर्त में एक बार, मध्याह्न में एक बार और सायंकाल में एकबार तथा निशीथकाल में एक बार इस प्रकार चार बार इस प्राणायाम को करना उचित है।

कुम्भकः सूर्यभेदस्तु जरा-मृत्यु-विनाशकः।
बोधयेत् कुण्डलीं शक्ति देहानलं विवर्धयेत् ॥

—गा० स०; २११

इस सूर्य-भेदी कुम्भक द्वारा जरा ( वृद्धावस्था ) और मृत्यु का भय नष्ट होकर कुलकुंडलिनीशक्ति जागृत होती है। और दैहिक अग्नि भी प्रदीप्त हो उठती है।

# उज्जायी-प्राणायाम

नासाभ्यां वायुमाकृष्य वक्त्रेणैव च धारयेत्।
हृद्गलाभ्यां समाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत् ॥
मुखं प्रक्षाल्य संवन्द्य कूर्याज्जालन्धरं ततः।
आशक्ति कुम्भकं कृत्वा धारयेदविरोधतः ॥

—गोरक्षसंहिता;

उभय नासिका द्वारा अन्तर्वायु को खींच कर मुख में कुम्भक करते हुए रोके और मुख प्रक्षालनपूर्वक जालन्धरबन्ध नामक मुद्रा के योग से यथाशक्ति कुम्भक करे। अविरोध भाव से वायु को धारण करे। घेरण्ड के मतानुसार यही शीत्कारी प्राणायाम है।

साधक उपयुक्त स्थान में पद्मासन से बैठ कर उभय नासिका द्वारा समान वेग से यथाशक्ति वायु का आकर्षण करे। वायु का आकर्षण करते समय ठोढ़ी को कण्ठ में टिका दे। इसके बाद खींची हुई वायु को मुंह में धारण करके कुम्भक करे। कुम्भक के पश्चात् स्वच्छ जल से मुंह धोकर यत्नपूर्वक जीभ को तालु मूल में स्थापित कर दे। इसके बाद पुनः पुनः यथाशक्ति कुम्भक करके अविरोधरूप से वायु को धारण करना चाहिए। पूर्वोक्त प्रकार से इसे भी बार बार करना चाहिए।

उज्जायीकुम्भकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत्।
न भवेत् कफरोगश्च क्रूरवायुरजीर्णकम्।
आमवातं क्षयं काशो ज्वरः प्लीहा न जायते।
जरामृत्युविनाशाय चोज्जायीं साधयेन्नरः॥

—गो० सं०

उज्जायी कुम्भक के द्वारा सभी प्रकार के कार्य सिद्ध किए जा सकते हैं। इससे कफरोग, क्रूरवायु, अजीर्ण, आमवात, क्षयरोग, ज्वर, प्लीहा आदि उत्पन्न नहीं होते और जरा-मृत्यु नष्ट होते हैं।

# शीतली-प्राणायाम

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत् कुम्भकादितः।
शनैश्च प्राण-रन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं प्रिये॥

—घेरण्डसंहिता

जिह्वा द्वारा वायु को आकर्षण करके पूर्व कथित विधि से और फिर धीरे-धीरे उभयनासापथ द्वारा उसे रेचन कर दें।

साधक सुखासन से बैठकर स्थिरभाव से होंठ को सीटी बजाने की तरह सिकोड़कर बाहर की वायु को धीरे-धीरे खींचे। इस प्रकार यथाशक्ति वायु को खींचकर मुँह बन्द करते हुए घूट पीने की तरह खींची हुई वायु को पेट में पहुँचावे, इसके बाद क्षण भर के लिए इस वायु को कुम्भक द्वारा धारण करके उभय नासा पथ से धीरे-धीरे रेचन कर दें। प्रतिदिवस दिन रात के बीच चार बार इस प्रक्रिया का अभ्यास करें।

सर्वदा साधयेद् योगी शीतलीकुम्भकं शुभम्।
अजीर्णं कफपित्तं च नैव तस्य प्रजायते॥

—गो० सं०

योगीगण सर्वदा इस कल्याणकारी कुम्भक का साधन करें, इससे कभी उन्हें अजीर्ण एवं कफपित्तादि रोग नहीं होंगे।

गुलमप्लीहादिन्कान् दोषान् ज्वरं रेतःक्षयं क्षुधाम्।
तृष्णाञ्च शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति वै॥

—घेरण्डसंहिता

शीतलीकुम्भक साधन करने से गुल्म, प्लीहा, ज्वर, वीर्यक्षीणता, क्षुधा, तृष्णा, आदि साधक के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रक्रिया द्वारा शूलवेदना आदि छाती या पेट में जो कुछ आभ्यन्तरिक वेदनाएं होती हैं, वे निश्चितरूप से दूर हो सकती हैं।*

---

* शीतलीकुम्भक का विशद वर्णन हमारे "योगीगुरु" ग्रन्थ में देखिये।

# भस्त्रिका प्राणायाम

भस्त्रेव लोहकाराणां यथा क्रमेण संभ्रमेत् ।
ततो वायुश्च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः ॥
एवं विंशति-वारञ्च कृत्वा कुर्याच्च कुम्भकम् ।
तदन्ते चालयेद्वायुं पूर्वोक्तं च यथाविधि ॥

—गोरक्षसंहिता, २१६-१७

लोहार की धौंकनी द्वारा अग्नि-उद्दीपन के लिए जिस प्रकार वायु को आकर्षण किया जाता है, उसी प्रकार उभयनासापुट द्वारा वायु को खींचकर क्रमशः पेट में चलाना चाहिए। इस प्रकार बीस बार वायु की चालना कर कुम्भक द्वारा यथासाध्य उसे धारण करना चाहिए। इसके बाद पूर्वोक्त प्रकार से अर्थात् भस्त्रिका ( धौकनी ) द्वारा जिस प्रकार वायु को बाहर निकाला जाता है, उसी प्रकार उभयनासा पुट द्वारा वायु का रेचन करना चाहिए। किन्तु सावधान इस बात का ध्यान रहे कि रेचन के अन्त में हाँफना नहीं चाहिए।

त्रिवारं साधयेदेनं भस्त्रिका कुम्भकं सुधीः ।
न च रोगं न च क्लेशमारोग्यं च दिने दिने ॥

—गोरक्षसंहिता, २१८

साधकव्यक्ति तीनवार इस प्रकार भस्त्रिका कुम्भक का साधन करे। इस साधन के द्वारा रोग या क्लेश नहीं होते, वरन् प्रतिदिन आरोग्य लाभ ही होता है।

# भ्रामरी प्राणायाम

अर्धरात्रिगते योगी जन्तूनां शब्दवर्जिते ।
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात् पूरक-कुम्भकम् ॥

श्रृणुयाद् दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं शुभम् ।
प्रथमं झिल्लिनादं च वंशीनादं ततः परम् ।।

—गोरक्षसंहिता, २१९-२२०

अर्धरात्रि के समय योगी जन्तुओं के शब्द से वर्जित और योग साधन के लिए उपयोगी स्थान में पहुँच कर दोनों कान हाथों द्वारा बन्द करके पूरक और कुम्भक करे अर्थात् कान बन्द करके दोनों नासापुट से धीरे-धीरे खींचकर दोनों अंगूठों से कान के छेद बन्द कर दे । इस प्रकार फेफड़ों में वायु को पूर्ण करके रोके । इसके बाद यथाशक्ति कुम्भक करके थोड़ी-थोड़ी वायु रेचन करे । प्रतिदिन अर्धरात्रि के समय इस प्रकार करने से दाहिने कान में शरीर के भीतर का नाद सुनाई देगा । पहले झिल्ली झनकार के समान नाद सुनाई देगा और तदुपरान्त वंशी-नाद कर्णगोचर होने लगेगा ।

मेघ—झर्झर-भ्रामरी-घंटा क्रांस्यन्ततः परम् ।
तुरी-भेरी-मृदङ्गादि-निनादानकदुन्दुभिः ।।
एवं नानाविधो नादो जायते नित्यमभ्यासात् ।।

—गोरक्षसंहिता, २२१

इसके बाद मेघगर्जन, झरझरवाद्य की ध्वनि, भ्रमरगुञ्जन, घण्टा, झांझ, तुरी, भेरी, मृदङ्ग, आनक, दुन्दुभि आदि विविध प्रकार के वाद्यों के नाद क्रमशः सुनाई देते हैं । इस प्रकार भ्रामरी प्राणायाम का नित्य अभ्यास करने से अनेक प्रकार के शब्द सुनाई देने लगते हैं ।

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ।
ध्वनेरन्तरगतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः ।।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।
एवं भ्रामरीसंसिद्धः समाधिसिद्धिमाप्नुयात् ।।

—गोरक्षसंहिता, २२२-२२३

हृदयस्थित अनाहतपद्म से जो शब्द उत्पन्न होता है, उसकी ध्वनि अर्थात् प्रतिशब्द कर्णगोचर होता है। इसके बाद योगीव्यक्ति आँखें मूँद कर उस अवस्था में, अन्तर में उस अनाहतपद्मस्थ प्रतिध्वनि के बीच ज्योति का दर्शन करता है। उस दीप-कलिका के ज्योतिर्मय ब्रह्म में योगियों का मन संयुक्त होकर ब्रह्मरूपी विष्णु के परम-पद में लीन हो जाता है। इस प्रकार "भ्रामरी प्राणायाम" सिद्ध हो जाने से ही समाधि की सिद्धि भी हो सकती है।*

# मूर्च्छा-प्राणायाम

पूरकान्ते गाढतरं बद्ध्वा जालन्धरं शनैः।
रेचयेन्मूर्च्छनाख्योऽयं मनो मूर्च्छा सुखप्रदा॥

—घेरण्डसंहिता

साधक योगासन से बैठ कर दोनों नासापुट से धीरे-धीरे वायु को आकर्षित करे। इस प्रकार आपाद-मस्तक वायु से पूर्ण करके जालन्धर-बन्ध-मुद्रा के योग से जिह्वा को तालु के गड्ढे में प्रविष्ट करके कण्ठ में वायु को धारण करके कुम्भक करें। इसके पश्चात् इस प्रपूरित वायु को उभयनासा पथ से धीरे-धीरे रेचन कर दे। यह क्रिया दिन रात के बीच तीन चार बार करनी चाहिए।

सुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रुवोरन्तरम्।
संत्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्च्छा सुखप्रदा॥
आत्मनि मनसो योगादानन्दं जायते ध्रुवम्।
उत्पद्यते यत्नतो हि शिक्षते कुम्भकं सुधीः॥

—गोरक्षसंहिता

---

* भ्रामरी कुम्भक के द्वारा किस प्रकार लययोग साधन किया जाता है, इसका विवेचन "योगीगुरु" के साधनकल्प में "नादसाधन" देखिए।

प्रथमतः पूर्वोक्त प्रकार से स्वच्छन्दता पूर्वक कुम्भक करके मन को समस्त वैषयिक व्यापारों से निवृत्त करते हुए दोनों भौंहों के बीच आज्ञा-चक्र में संयुक्त करके परमात्मा में लीन करना चाहिए। इस प्रकार आत्मा के साथ मन का संयोग होने से परमानन्द की प्राप्ति होती है। अतएव पण्डित लोग यत्नपूर्वक मूर्च्छा कुम्भक का बड़े यत्न और साव-धानी के साथ अभ्यास करते हैं।

वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम्।
कुंडलीरोधनं चक्रे क्रोधघ्नं शुभदं शुचि॥

मूर्च्छा नामक प्राणायाम का अभ्यास करने से वात, पित्त और श्लेष्मा दोष नष्ट होकर शरीर में अग्नि वर्धित होती है और चक्र में कुण्डलिनी जागृत होकर साधक के क्रोधादि का नाश हो जाने से उसके लिए पवित्रता और शुभ कारक होता है।

# केवली-प्राणायाम

रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः॥

--योगी याज्ञवल्क्य, ३।३०

रेचक और पूरक परित्याग कर केवल वायुधारण करना ही केवली कुम्भक कहलाता है।

नासाभ्यां वायुमाकृष्य केवलं कुम्भकञ्चरेत्।
एकाधिकचतुःषष्टि धारयेत् प्रथमे दिने।
केवलीमष्टधा कुर्याद् यामे यामे दिने दिने।
अथवा पञ्चधा कुर्यात् यथा तत् कथयामि ते॥

—गोरक्ष सं०, २२७-२२८

उभय नासापुटद्वारा वायु को धारण करके केवल कुम्भक करे प्रथम दिन इस कुम्भक के साधन में एक साथ ही चौंसठ बार तक "हंसः" या "सोऽहम्" के मन्त्र का जप करते हुए श्वास वायु को धारण करना चाहिए। प्रतिदिन यह केवली प्राणायाम आठप्रहर में आठबार करना चाहिये। इसमें असमर्थ होने पर पाँच बार तो अवश्य ही करना चाहिए। अब उसके करने की विधि सुनिए :--

प्रातर्मध्याह्नसायाह्ने मध्यरात्रिचतुर्थके।
त्रिसंध्यमथवा कुर्यात् सममाने दिने दिने॥
पञ्चवारं दिने वृद्धिर्वारैकञ्च दिने तथा।
अजपापरिमाणञ्च यावत् सिद्धः प्रजायते॥

--गोरक्ष सं० २२-९-२३।

साधक प्रतिदिन प्रातःकाल, मध्याह्न, सन्ध्या समय, या मध्य रात्रि एवं अन्तिम रात्रि में इस प्रकार पाँचों समय में पाँच बार कुम्भक करे। इसमें असमर्थ होने पर केवल तीन बार करे अर्थात् प्रातःकाल, मध्याह्न, और सायं सन्ध्या काल में तीन बार करे। जबतक अजपा परिमाण में अर्थात् २१,६०० ( इक्कीस हजार छः सौ ) बार कुम्भक करने के लिए शक्तिमान न हो जाय तबतक उसे प्रतिदिन पाँच पाँच की संख्या में कुम्भक बढ़ाने चाहिए। यदि प्रतिदिन पाँच की संख्या में न बढ़ा सके तो एक एक के हिसाब से बढ़ावे। घेरण्ड संहिता के मतानुसार :--

अन्तःप्रवर्तिताधारमरुता पूरितोदरम्।
साक्षात् पारस्य गाधेऽपि प्लवते पद्मपत्रवत्॥

यह प्लावनी प्राणायाम केवली प्राणायाम का केवल नामान्तर है।

प्राणायामं केवलीञ्च तदा वदति योगवित्।
कुम्भके केवली सिद्धौ किं न सिध्यति भूतले॥

--गोरक्ष सं०, २३१

इस प्रकार के प्राणायाम को योगिगण केवली प्राणायाम कहते हैं। केवली कुम्भक सिद्ध होने से क्या सिद्ध नहीं हो सकता ? अर्थात् सब कुछ सिद्ध हो सकता है।

इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने के फल-स्वरूप साधक प्रथम दिन ही अत्यन्त शान्ति का अनुभव करता है। अर्थात् जिसे प्रकृत विश्राम कहते हैं, उसको भी वह समझ सकेगा। दिन भर कठोर परिश्रम करने के पश्चात् एक बार प्राणायाम करने से अत्यन्त विश्राम ( सुख ) का अनुभव कर सकेगा। यह सुख अन्य किसी भी उपाय से और कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसके बाद क्रमशः अभ्यास बढ़ाने से मुखपर ज्योति-प्रस्फुटित होगी। शुष्क-चिह्न, झुर्रियाँ, चिन्ता की रेखायें आदि उसके चेहरे से दूर हो जाएँगी। उसके कण्ठ का स्वर मधुर हो जायगा और यौवन की नई किरण दिखाई देगी। सुख का चिरवसन्त आकर हृदय पर अधिकार जमा लेगा।

# समाधि-साधना

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥

—पातञ्जलदर्शन, विभूतिपाद, ३

केवल वही पदार्थ ( स्वरूप-आत्मा ) है। इस प्रकार का आभास-ज्ञान होना और दूसरा कुछ भी न जान पड़ना, अर्थात् चित्त की ध्येय वस्तु में तन्मयता अथवा उसमें लय हो जाना ही समाधि है।

समाधिर्ब्रह्मणि स्थितिः ।—गरुड़ पुराण, ४९

अर्थात् परब्रह्म में चित्त को स्थिर रखने का नाम समाधि है।

ध्यानद्वादशकैरेकः समाधिः प्रतिपद्यते।
आत्मसंयमयोः सम्यगैक्यं भवति गोचरः ॥

—गोरक्षसंहिता ३३०

द्वादश ( १२ ) बार ध्यान करने से एक बार समाधि सिद्ध होती है और उस समाधि के सिद्ध हो जाने पर आत्मा और जीव की पृथकता का भेदज्ञान नहीं रह जाता।*

**उभयोरात्मनोरैक्यं समाधिश्च विधीयते।**
**यथा संक्षीयते प्राणो मनश्चैव विलीयते॥** —गो० सं०, ३३१

जीवात्मा और परमात्मा दोनों के ऐक्य का नाम ही समाधि है, इस समाधि अवस्था में मन, प्राण आदि सभी लय को प्राप्त हो जाते हैं।

**निर्गुणध्यानसम्पन्नः समाधिञ्च समभ्यसेत्।**
**वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवेद् ध्रुवम्॥**
**समाधिः संयतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः॥**

—दत्तात्रेयसंहिता

---

*प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः।
प्रत्याहारैर्द्वादशभिर्धारणा परिकीर्तिता॥
भवेदीश्वरसङ्गत्यै ध्यानं द्वादशधारणम्।
ध्यानद्वादशके चैव समाधिरभिधीयते॥
समाधेः परतो ज्योतिरनन्तं स्वप्रकाशकम्।
तस्मिन् दृष्टे क्रियाकाण्डं यातायातं निवर्त्तते॥ स्कन्दपुराण, ९४-९६

बारह प्राणायामों का एक "प्रत्याहार" और बारह प्रत्याहार की एक "धारणा" होती है और बारह धारणाओं का एक "ध्यान" होता है। इस ध्यानावस्था में ईश्वर दर्शन होता है। इस प्रकार के बारह ध्यान से "समाधि" लग जाती है। उस समय स्वप्रकाश अनन्त ज्योति का दर्शन होता है, जिसके दर्शन से फिर इस संसार में आवागमन नहीं होता और समस्त कर्मभोग से निवृत्ति होकर निर्वाणमुक्ति प्राप्त हो जाती है।

निर्गुणध्यानसम्पन्न व्यक्ति समाधियोग का अभ्यास करें। कुम्भक द्वारा वायु को रोक कर साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था ही समाधि कहलाती है। इसके अतिरिक्त एकाग्रचित्त होने पर जो समाधि लग जाती है, वह इससे भिन्न है। यथा :—

तत्त्वावबोधो भगवन् सर्वाशा तृण-पावकः।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न च तूष्णीमवस्थितिः।

—योगवाशिष्ठ

हे भगवन्! ब्रह्मज्ञान समस्त आशारूप तृण के लिए अग्नि के समान है। उस ब्रह्मज्ञान का नाम ही समाधि है। किन्तु केवल मौन रहकर बैठ जाने का नाम समाधि नहीं हो सकता। यहाँ तक ज्ञान और योग के विषय में जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट प्रगट हो जाता है कि प्रकृतयोग ही ब्रह्मज्ञान है और प्रकृत ब्रह्मज्ञान ही योग है। ब्रह्म में चित्त स्थिर रखने के लिए जिन विघ्नों को पार किया जाता है और ज्ञानसाधन-द्वारा जो उसमें असमर्थ होते हैं, वे प्राणरोधरूप अष्टाङ्गयोग-साधना द्वारा उसमें सफलता प्राप्त कर सकते हैं। इसी कारण शास्त्र में कहा गया है :—

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्।
अत्र वः संशयो मा भूज्ज्ञान सांख्यं परं मतम्॥

सांख्यज्ञान के समान ज्ञान नहीं है और योग के समान कोई बल नहीं। इस विषय में किसी प्रकार की शंका नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह सांख्यज्ञान ही प्रधान है। योगशब्द से आत्मज्ञान और प्राणनिरोध दोनों का बोध होता है। किन्तु व्यवहार में योग शब्द से प्राणों का निरोध करना ही समझा जाता है। इस संसार-समुद्र को पार करने के

क्लेश को न सह सकने वाले सुकोमल-चित्त व्यक्ति द्वारा हठात् प्राणों का निरोध नहीं हो सकता। इसी प्रकार विचार से रहित व्यक्ति कठोर चित्त होकर भी ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता। अर्थात् समाधियोग-द्वारा ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ध्यान के प्रगाढ़ होने पर "ध्येय वस्तु और मैं" इस प्रकार का भेद नहीं रहता। क्योंकि उस समय चित्त ध्येय वस्तु में मिल जाता है अर्थात् उसमें लीन हो जाता है। उस लयावस्था का नाम ही समाधि है।

योगाचार्य महर्षि पतञ्जलि ने कहा कि समाधि दो प्रकार की होती है:—(१) "सम्प्रज्ञात" और (२) "असम्प्रज्ञात"। सम्प्रज्ञात में ध्येय वस्तु का ज्ञान रहता है और असम्प्रज्ञात में ध्येय का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता।

**सम्प्रज्ञात समाधि :—**सम्प्रज्ञात-समाधि में ध्येय वस्तु दो प्रकार की होती है—स्थूल और सूक्ष्म। इनके भी दो भेद हैं—"बाह्य" और "आध्यात्मिक"। बाह्यस्थूल :—पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न पदार्थ का नाम बाह्यस्थूल है और पञ्चतन्मात्रा तत्त्व को बाह्य-सूक्ष्म कहते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक-स्थूल में समस्त इन्द्रियाँ और आध्यात्मिक सूक्ष्म में अहम्तत्त्व, महत्तत्त्व, प्रकृति और आत्मा का समावेश होता है। इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म एवं बाह्य और आध्यात्मिकभेद से चार प्रकार के पदार्थों का उल्लेख किया गया है। ये ही ध्येय वस्तु कहलाते हैं। इन चार प्रकार की ध्येय वस्तुओं के अन्तर्गत किसी पदार्थ में ध्यान के संयोग या गाढ़ चित्त निवेश कर सकने की अवस्था ही सम्प्रज्ञात समाधि है।

समस्त पदार्थों के चार विभाग किये जाने से सम्प्रज्ञात-समाधि की भी चार प्रकार की अवस्थाएँ निश्चित की गई हैं। यथा :—

वितर्क-विचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः।

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता इन चार प्रकार की आस्थायुक्त समाधियों का नाम सम्प्रज्ञात समाधि है।

**१ वितर्कावस्था :**—बाह्य स्थूलपदार्थों के साक्षात्कारस्वरूप का ज्ञान होना।

**२ विचारावस्था :**—बाह्य सूक्ष्मपदार्थों के साक्षात्कारस्वरूप का ज्ञान होना।

**३ आनन्दावस्था :**—आध्यात्मिक स्थूलपदार्थों के साक्षात्कारस्वरूप का ज्ञान होना।

**४ अस्मितावस्था :**—आध्यात्मिक सूक्ष्मपदार्थों के साक्षात्कार स्वरूप का ज्ञान होना।

ये चारों प्रकार की समाधियों में क्रमशः बाह्य, आन्तर, बौद्ध और अध्यात्म इन चारों जगत् का ज्ञान प्राप्त होता है।

इन चारों प्रकार की अवस्थाओं में किसी भी रूप में समाधि संघटित होने का नाम सम्प्रज्ञात समाधि है और सम्प्रज्ञात समाधि में दो भाव होते हैं :—"भवप्रत्यय" और "उपायप्रत्यय"। भवप्रत्यय समाधि का भाव अविद्यामूलक एवं उपायप्रत्यय समाधि का भाव विद्यामूलक होता है। भवप्रत्यय समाधि में संसारासक्ति होती है और उपायप्रत्यय में वह नहीं होती; यही भेद है। यथा :—

**भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।**—पा० द०, स० पा०, १९

"विदेहलय" और "प्रकृतिलय" इन दो प्रकार के योगियों का जो सम्प्रज्ञात योग है, वह भवप्रत्यय अर्थात् अज्ञानमूलक है। क्योंकि इससे संसार में आवागमन करना पड़ता है। अतएव यह मुक्ति का देनेवाला नहीं हो सकता है अर्थात् देहपात के पश्चात् योगी पञ्चमहाभूतों में अथवा सूक्ष्मतम इन्द्रियों में लय प्राप्त हो जाता है। अतएव उसे विदेहलय कहा जाता है। किन्तु जो तन्मात्रा तत्त्वों या अहङ्कार अथवा महत्तत्त्व

किम्वा अव्यक्त प्रकृति में चित्त का लय कर देते हैं, वह प्रकृतिलय कहा जाता है। इन दोनों प्रकार के लय को ही भवप्रत्यय अर्थात् अविद्यामूलक भाव कहते हैं। क्योंकि उनका चित्त सुषुप्ति भंग के पश्चात् पुनर्वार जाग्रत् अवस्था प्राप्ति के समान यथासमय सांसारिक अवस्था को प्राप्त होता है अर्थात् समाधि प्राप्त हो जाने पर सांसारिक बीज नष्ट नहीं होते, वरन् यथासमय अंकुरित होकर उसे फिर संसारी बना देते हैं। अतएव इस सम्प्रज्ञात समाधि का नाम "सबीज समाधि" भी है। यथा : -

ता एव सबीजः समाधिः। —पा० दर्शन, समाधिपाद, ४६

उक्त चतुर्विध समाधियों को "सबीज समाधि" कहते हैं। क्योंकि ये बीज के समान अंकुरजनक हैं। समाधि भङ्ग होने के पश्चात् पुनः संसारांकुर उत्पन्न होते हैं। इसी कारण से सम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है। वेदान्तशास्त्र में इसी को सविकल्प समाधि कहते हैं। इस प्रकार की समाधि में जिस प्रकार मिट्टी का हाथी दिखाई देने पर भी मृत्तिका ही ज्ञात होता है, उसी प्रकार द्वैतज्ञान होने पर भी साधक को अद्वैतज्ञान ही प्रतीत होता है।

**असम्प्रज्ञात समाधि** :—जिस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि संसारागमन के लिए बीजरूप होती है, उसी प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि "निर्बीज," "निरवलम्ब" एवं "कैवल्य" या "निर्वाण मुक्ति" का कारण होती है। यथा :—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।

—पा० दर्शन, समाधिपाद, १८

मनोवृत्ति का "विराम या निवृत्ति" होने से चित्त में जो एक प्रकार का शून्यभाव उपस्थित होता है अर्थात् जब चित्त का कोई अवलम्बन नहीं रहता, तभी वह असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास से ही असम्प्रज्ञात समाधि उपस्थित हो जाती है। असम्प्रज्ञात समाधि की कठोरतर दृढ़ता उत्पन्न हो जाने पर जब चित्त

बाह्य जगत् के साथ संस्पर्श करना नहीं चाहता और न किसी अवलम्बन की इच्छा करता है, तथा समस्त मनोवृत्तियाँ लय को प्राप्त हो जाती हैं। तभी लय प्राप्त समाधि सिद्ध होती है। असम्प्रज्ञात समाधि का दूसरा नाम निर्बीज समाधि है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

--पा० दर्शन, समाधिपाद, २०

अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के समान किसी इन्द्रिय महाभूत या तन्मात्रा अथवा प्रकृति में चित्त को न लगा कर प्रथम से ही अपनी आत्मा या इष्टदेवता या परब्रह्म में चित्त का लय करने के अभ्यास द्वारा क्रमश: "श्रद्धा", "वीर्य", "स्मृति", "समाधि", और "प्रज्ञा" स्वयमेव उपस्थित होकर आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार लाभ होता है।

प्रथमत: योग के प्रति चित्त प्रसन्न होने का नाम श्रद्धा है और श्रद्धा से उत्साह उत्पन्न होने पर उसे वीर्य कहते हैं। वीर्य से अनुभूत विषय का अविस्मरण होना स्मृति कहलाता है। इसी प्रकार भाव्य विषय में ध्यानतत्पर होने का नाम भी स्मृति है। स्मृति या ध्यान के दृढ़ होने पर एकाग्रता या समाधि उत्पन्न होती है। समाधि से प्रज्ञा अर्थात् ज्ञातव्य विषय का साक्षात्कार लाभ अर्थात् आत्मसाक्षात्कार, इष्टदेवता दर्शन या परब्रह्म की प्राप्ति होती है। ऐसा होने पर ही साधक कृतार्थ हो सकता है।

असम्प्रज्ञात समाधि ही वेदान्त के मतानुसार निर्विकल्प समाधि कहलाती है। इस समाधि में जिस प्रकार जल में मिले हुए नमक को जलरूप में होने पर भी नमक के खारेपन के ज्ञान के अभाव में वह केवल जल ही ज्ञात होता है। उसी प्रकार अद्वितीय जलब्रह्म में लीन चित्त-वृत्ति के ज्ञान के द्वारा अद्वितीय ब्रह्मवस्तु का ही ज्ञान होता है।

ईश्वर में चित्त को अर्पण कर सकने से अन्य कोई साधना न करने पर भी केवल भक्तिद्वारा सिद्धिलाभ किया जा सकता है। अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होने पर अन्त में निर्वाण मोक्ष मिल जाता है।

निरन्तरकृताभ्यासात् षण्मासात् सिद्धिमाप्नुयात्।

—शिवसंहिता, ५।७२

'अधिमात्रतम' योग का श्रेष्ठ अधिकारी साधक विशेषरूप से चेष्टा करने पर छः मास में ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

जो हो, किन्तु सिद्धयोगीगुरु के प्राप्त हुए बिना कोई कभी भी प्राण संशोधनरूप योग के अभ्यास में प्रवृत्त न होवे। क्योंकि इस अभ्यास के समय किसी भी रूप में नियम का अन्यथाचरण होने पर नाना प्रकार की उत्कट पीड़ायें उत्पन्न होने की संभावना रहती है। योगेश्वर सदाशिव ने कहा है कि :—

योगोपदेशं संप्राप्य लब्ध्वा च योगविद्गुरुम्।
गुरूपदिष्टविधिना धिया निश्चित्य शोधयेत्॥
भवेद्वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्रसमुद्भवा।
अन्यथा फलहीना स्यान्निर्वीर्याप्यतिदुःखदा॥

—शिवसंहिता, ३।९-१०

योगवित् गुरु को प्राप्त कर उनसे योगोपदेश लेकर उसी के अनुसार निश्चयबुद्धि से साधना करना चाहिए। क्योंकि गुरु के उपदेशानुसार कार्य करने से योगविद्या वीर्यवती होने पर ही सिद्धि को प्राप्त हो सकेगी। बिना इसके सिद्धिलाभ नहीं होता, वरन् साधक को उल्टा कष्ट ही होता है।

साधक प्रथमतः आसन का अभ्यास और उचितरूप से नाड़ी का शोधन करके पूर्वोक्त अष्टविध प्राणायामों में से जिसके लिए इच्छा हो

क्रिया द्वारा समाधि का अभ्यास करे। जो प्राणायाम को कठिन समझते हों वे "योगीगुरु" ग्रन्थ में कही हुई कुण्डलिनी के चैतन्यकला की किसी क्रिया का अभ्यास करें। क्योंकि कुण्डलिनी के चैतन्य होने पर समाधि की किसी भी प्रक्रिया का अभ्यास किया जा सकता है।

# प्रकृति-पुरुष योग
## अथवा
# कुण्डलिनी-उत्थापन

जितने भी प्रकार की योग प्रणालियां हैं, उन सब में कुण्डलिनी उत्थापन या प्रकृति-पुरुष योग ही श्रेष्ठ है। कुण्डलिनी को जागरित करके उसे जोंक की तरह जो कि एक तिनके से दूसरे को पकड़ लेती है, कुण्डलिनी को मूलाधार से क्रमशः समस्त चक्रों में उठाकर अन्त में शिरस्थित सहस्रार पद्म में पहुँचाते हुए प्रकृति पुरुष का योग कर देना ही "प्रधान योग" कहलाता है।

जो व्यक्ति अपने पूर्ण पुण्य के फलस्वरूप कुल-कुण्डलिनी शक्ति की आराधना करता है, उन्हें धन्य और कृतार्थ समझना चाहिए। यथा :—

महाकुण्डलिनीं शक्तिं यो भजेत्तु भुजङ्गिनीम्।
सकृतार्थः स धन्यश्च स दिव्यः वीरसत्तमः॥

भुजङ्गिनी-स्वरूपा महाकुण्डलिनीशक्ति की जो व्यक्ति आराधना करता है वह कृतार्थ और धन्य एवं वीरश्रेष्ठ है।

कुण्डलिनी उत्थापन की मानस क्रिया की प्रणाली इस प्रकार है :—

साधक योगसाधन के लिए उपयुक्त स्थान में कम्बल, मृगचर्म आदि किसी आसन पर पूर्व या उत्तराभिमुख बैठ कर धूप आदि की सुगन्ध से उस गृह को पूर्ण कर दे और स्वयं भी आनन्दित होकर रहे। इसके

वाद अपनी अपनी सुविधानुसार अभ्यस्त किसी आसन से स्थिर होकर बैठ जाय। इसके पश्चात् प्रथमतः, पञ्चप्राण पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि इन सप्तदश अङ्गों के आधार-स्वरूप जीवात्मा को मूलाधारचक्रस्थित कुण्डलिनी के साथ एकत्ररूप में चिन्तन करे। मूलाधारचक्र और कुण्डलिनी का मानस नेत्रों से दर्शन करके "हूँ" कुर्चबीज के उच्चारण सहित उभय नासिका पथ से वायु को खींच कर मूलाधार में चलाते हुए यह ध्यान करे कि वहाँ के शक्तिमण्डल में कुण्डलिनी के चारों ओर स्थित कामाग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है। इस अग्नि के उद्दीपित होने से कुण्डलिनी जागृत होगी। उस समय "हंस" मन्त्र का उच्चारण कर "अश्विनीमुद्रा" द्वारा गुह्यदेश को संकुचित करके कुम्भकद्वारा वायु को रोकने से कुण्डलिनी उर्ध्वगमनोन्मुखी होगी। उस समय साधक कुण्डलिनी को महातेजोमयी शक्ति के रूप में ध्यान करे। ऐसा करने पर कुण्डलिनी अपना एक मुख पूर्ववत् रखकर दूसरे मुख से मूलाधार-स्थित ब्रह्मा और डाकिनी-शक्ति और उस पद्म के चारों पत्र पर स्थित 'वं' 'शं' 'यं' 'सं' इन मातृका वर्ण और समस्त देवता एवं चारों वृत्तियों को ग्रास कर लेगी; अर्थात् ये सब उस ( कुण्डलिनीशक्ति ) के शरीर में लय हो जायेंगे। इसी प्रकार पृथ्वी मण्डल भी लय प्राप्त होकर उसके मुख पर 'लं' बीज अवस्थान करेगा। उस समय वह म्लान हो जायेगी। इसी प्रकार मूलाधार पद्म अधोमुख एवं मुद्रित ( बन्द ) और म्लान हो जायगा।*

मूलाधारपद्म का परित्याग करके कुण्डलिनी के स्वाधिष्ठानपद्म में पहुँचने पर पूर्वमुख को मणिपुर चक्र की ओर उठायेगी और दूसरे

---

*किन्तु यहां साधक को एक बात स्मरण रखना चाहिए कि भावना ( ध्यान ) के समय सभी पद्म उर्ध्वमुख और विकसित हो जाते हैं। कुण्डलिनी चैतन्यलाभ करके जब पद्म में पहुँच जाती है, तब वह पद्म विकसित हो उठता है। किन्तु जब जिस पद्म को छोड़ा जायगा, तभी वह मूलाधार की भांति अधोमुख, मुद्रित और मलीन हो जायगा।

मुखद्वारा स्वाधिष्ठानपद्म में विराजित विष्णु और राकिनीशक्ति, पद्मपत्रस्थित देवतागण "वं, भं, मं, यं, रं, लं, ये छः मात्रिका वर्ण एवं प्रश्रय, अविश्वास, अवज्ञा, मूर्च्छा, सर्वनाश और क्रूरता इन छः वृत्तियों को ग्रास कर लेती है। पूर्वोक्त पृथ्वीबीज 'लं' जल में लय प्राप्त होकर जब 'वं' बीज में परिणत होता और कुण्डलिनी के मुख में अवस्थान करने लगता है और तब वह इस मुख को क्रमशः मणिपुर-पद्म की ओर उठाने लगता है, यह सब प्रणाली भावनाद्वारा अभ्यस्त हो जाने पर जब कुण्डलिनी उठने लगती है, जब साधक स्पष्टरूप में उसका अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने लगता है। क्योंकि वह जितनी दूर तक उठेगा उतनी ही दूर तक मेरुदण्ड में सिड़्-सिड़् शब्द होकर रोमाञ्च होने लगेगा और मन में अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा।

इसके पश्चात् कुण्डलिनी मणिपुर चक्र में पहुँचकर पूर्वमुख को अनाहतपद्म की ओर उठायेगी और दूसरे मुख द्वारा मणिपुरपद्म स्थित रुद्र और लाकिनीशक्ति, पद्मपत्र स्थित देवता गण 'डं, ढं, जं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं, इन दस मातृका वर्ण एवं लज्जा, पिशुनता ईर्ष्या, सुषुप्ति, विषाद, कषाय, तृष्णा, मोह, घृणा और भय इन दश वृत्तियों का ग्रास कर लेगी। पूर्वोक्त 'वं' बीज अग्निमण्डल में लीन होकर अग्नि भी 'रं' बीज में परिणत होती हुई कुण्डलिनी के मुख में अवस्थान करेगी। तब वह इस मुख को भी क्रमशः अनाहत चक्र से ऊपर उठायेगी। मणिपुरचक्र को ब्रह्मग्रन्थि कहते हैं। इस ब्रह्मग्रन्थि को भेदते समय साधक के मेरुदण्ड के भीतर चिन्-चिन् शब्द होगा और विषय वेदना होने लगेगी। उस समय साधक को प्रायः उदरामय रोग होकर शरीर अत्यन्त कृश और दुर्बल हो जाता है।

इसके बाद कुण्डलिनी अनाहतपद्म में आकर पूर्वमुख को विशुद्ध पद्म की ओर उठाकर दूसरे मुखद्वारा अनाहतपद्म स्थित देव-देवी और कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं, इन बारह मातृका--

वर्ण एवं आशा, चिन्ता, चेष्टा, ममता, दम्भ, विकलता, विवेक, अहङ्कार, लोलता ( अभिलाषा ) कपट वितर्क और अनुपात इन द्वादश वृत्तियों को ग्रास कर लेगी। पूर्वोक्त 'रं' बीज वायुमण्डल में लीन होकर वायु भी 'यं' बीज में परिणत होकर, कुण्डलिना के मुख में अवस्थान करेगी। उस समय क्रमशः वह अपना मुख विशुद्धचक्र की ओर उठायेगी। इस पद्म को विष्णुग्रन्थि कहते हैं।

इसके पश्चात् कुण्डलिनी विशुद्धपद्म मे पहुँचकर पूर्व मुख को ललना-पद्म नामक गुप्तचक्र की ओर उठाकर दूसरे मुखद्वारा विशुद्धपद्म स्थिति अर्धनारीश्वर शिव और शाकिनीशक्ति तथा पद्मपत्र स्थित समस्त देवी देवता अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, लृं, ॡं, एं, ऐं, ओं औं, अं, अः इन सोलह मातृका वर्ण एवं निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम्, धैवत और पञ्चम इन सप्त स्वरों सहित ॐ हूँ फट्, वौषट् वषट्, स्वधा, स्वाहा, नमः, विष, अमृत, प्रभृति को ग्रास कर लेगी। पूर्वोक्त वायुबीज 'यं' आकाश में लीन होकर आकाश भी 'हं' बीज में परिणत होकर कुण्डलिनी के मुख में अवस्थान करेगा। उस समय वह क्रमशः इस मुख को ललना-चक्र से उठायेगी।

कुलकुण्डलिनी ललनाचक्र में पहुँचकर एक मुख आज्ञाचक्र की ओर उठाकर दूसरे मुखद्वारा ललनाचक्र स्थित श्रद्धा, सन्तोष, स्नेह, दम, मान, अपराध, शोक, खेद, अरतिः, संभ्रम, उर्मि और शुद्धता इन द्वादश वृत्तियों का ग्रास कर लेगी। उस समय वह अपना मुख आज्ञा चक्र की ओर उठायेगी।

इसके अनन्तर कुण्डलिनी आज्ञापद्म में पहुंचकर आज्ञापद्म के शिव, शक्ति, और 'हं' 'लं' 'क्षं' इन तीन मातृका वर्णों, सत्त्व, रज, और तम इन तीन गुणों एवं ब्रह्मा-विष्णु-शिव प्रभृति पद्मस्थित अन्यान्य देव समूह को ग्रास कर लेगी। पूर्वोक्त आकाश बीज 'हं' मनश्चक्र में लीन हो कर मन और मनश्चक्रमध्यस्थ शिव और कुण्डलिनी

के शरीर में लीन हो जायगा। इस पद्म का नाम रुद्रग्रन्थि है। इस ग्रन्थि को भेदन करने पर साधक हृष्ट-पुष्ठ, बलिष्ठ और तेज-युक्त हो जायगा। उसका शरीर पूर्ण नीरोग हो जायगा।

इसके अनन्तर कुण्डलिनी सोमचक्र में पहुँच कर सुषुम्णा के मुख से नीचे किवाड़ के रूप में अर्धचन्द्राकार मण्डल को भेद करके जितनी ही ऊँची उठेगी, उतने ही क्रम से नाद, बिन्दु, हकारार्ध और निरालम्बपुरी प्रभृति को ग्रास कर लेगी अर्थात् वे सब कुण्डलिनी के शरीर में लय प्राप्त हो जाती हैं। इस अर्धचन्द्राकार कपाट को भेदन कर देने से कुण्डलिनी स्वयं उत्थित होकर ब्रह्मरन्ध्रस्थित सहस्रदल कमल में परमपुरुष के साथ संयुक्त हो जाती है।

विशेष इस प्रकार आद्याशक्ति कुण्डलिनी स्थूल भूत से लेकर प्रकृति पर्यन्त चौबीस तत्वों को ग्रास करके शिरस्थित सहस्रारपद्म में पहुँचकर परमपुरुष के साथ संयुक्त एकीभूत हो जाती है। उस वक्त प्रकृति-पुरुष की समरसता से उत्पन्न अमृतधारा द्वारा क्षुद्र ब्रह्माण्डरूप शरीर प्लावित हो जाता है। उसे समय साधक समस्त जगत्-विस्मृत और बाह्यज्ञानशून्य होकर जिस प्रकार अनिर्वचनीय, अभूतपूर्व अपार आनन्द में निमग्न हो जाता है, वह लिखकर बताना असम्भव है। वह आनन्द अनुभव करने से ही जाना जा सकता है, मुँह से कहकर बताया नहीं जा सकता है। उस अव्यक्त अपूर्वभाव को व्यक्त कर सकना भाषा की शक्ति से परे है। वह अनिर्देश्य, अननुभूत आनन्द अनिर्वचनीय और अनुल्लेखनीय है।

सहस्रदलपद्म में कुण्डलिनी का चिन्तन महातेजोमयी, अमृतानन्दमूर्ति के रूप में करना चाहिए इसके पश्चात् सुधा-समुद्र में निमज्जिता और रसप्लुता करके परमपुरुष के साथ समरसता का सम्भोग करते हुए पुनर्वार कुण्डलिनी को यथास्थान पहुँचाने का उद्योग किया जाता है। उस समय उसे अमृतधारा प्लावित महामृतरूपा आनन्दमयी चिन्तन करना चाहिए।

कुण्डलिनी को झुकाते या नीचे उतारते समय साधक को 'सोऽहं' मन्त्र का उच्चारण करके उभय नासा-पथ द्वारा धीरे-धीरे श्वासत्याग करना चाहिए। इससे वह नीचे उतरेगी। प्रत्यागमन के समय निरालम्बपुरी, प्रणव, नाद, बिन्दु आदि उद्‌गीर्ण करके जब कुण्डलिनी आज्ञापद्म में उपनीत हो, तब उससे मन, परम शिव, हाकिनीशक्ति और सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण मातृका वर्ण एवं पद्मस्थित अन्यान्य समस्त वस्तुयें यथास्थान सृष्ट होकर अवस्थान करेंगी। इसके पश्चात् मनश्चक्र से "हं" आकाशबीज उत्पन्न होकर उसे मुख में धारण करते हुए उस मुखद्वारा ललनाचक्र को भेदते हुए विशुद्धपद्म में उपस्थित होता है।

तत्पश्चात् यहाँ पहुँच जाने पर उसके मुख से अर्धनारीश्वर शिव और शाकिनीशक्ति एवं मातृकावर्ण, सप्तस्वरादि जिस जिस को उसने ग्रास लिया है, उन सभी के साथ अमृत आदि उत्पन्न होकर यथा-स्थान संस्थित हो जायेंगे। उस समय अपर मुख भी इस पद्म में प्रत्या-गमन करेगा। आकाशबीज 'हं' से आकाश आविर्भूत हो जायगा और आकाश से "यं" बीज उत्पन्न होकर उसके मुख में अवस्थान करेगा। उस समय वह अनाहत पद्म में इस मुख को ले जायेगी।

अनाहतपद्म में पहुँच जाने पर कुण्डलिनी के मुख से पद्मस्थित समस्त देवी देवता मातृका वर्ण और आशा प्रभृति समस्त वृत्तियां उत्पन्न होकर पूर्ववत् यथास्थान विराजमान होंगी और क्रमशः दूसरा मुख इस पद्म में उपनीत हो जायगा। 'यं' वायुबीज से वायु की उत्पत्ति होगी और उससे अग्निबीज 'वं' उत्पन्न होकर पूर्ववत् मुख के द्वारा मणिपुरपद्म में उपस्थित हो जायगा।

मणिपुर में पहुँच जाने पर कुण्डलिनी अपने मुख से इस पद्मस्थित रुद्र और लाकिनीशक्ति मातृकावर्ण एवं लज्जादि वृत्ति अथच अन्यान्य

समस्त तत्त्वों को सृष्ट कर पूर्ववत् यथास्थान स्थापित हो जायेगी। उसका अपर मुख क्रमशः इस पद्म में पहुँच जायगा। अग्निबीज "रं" से वरुण-बीज "'वं' उत्पन्न होकर कुण्डलिनी के मुख में अवस्थान करेगा।

कुण्डलिनी "वं" बीज को मुख में धारण करके अधिष्ठानपद्म में पहुँच जाने पर उसके मुख से इस पद्म पर विराजने वाले विष्णु और राकिनीशक्ति, मातृकावर्ण, अविश्वासादि वृत्तियां एवं अन्यान्य समस्त तत्त्व आविर्भूत होकर पूर्ववत् यथास्थान स्थापित हो जायेंगे। उस समय अपर मुख भी क्रमशः इस पद्म में पहुँच कर वरुणबीज 'वं' से जल उत्पन्न होगा और जल से पृथ्वीबीज 'लं' उत्पन्न होकर कुण्डलिनी के मुख में अवस्थान करेगा।

इसके पश्चात् कुण्डलिनी 'लं' बीज को मुख में धारण कर स्व-आधार मूलाधारपद्म में उपस्थित होगी। इस प्रकार उसके मुख से ब्रह्मा और डाकिनीशक्ति, मातृकावर्ण एवं अन्यान्य समस्त तत्त्व उत्पन्न होकर यथा-स्थान अवस्थित होंगे। पृथ्वीबीज 'लं' से पृथ्वीमण्डल की सृष्टि होगी। उस समय अपर मुख क्रमशः इस पद्म में पहुँच कर ब्रह्म को विवर में रखते हुए ब्रह्मद्वार को बन्द करके सुख से निद्रित हो अन्य मुखद्वार से निश्वास-प्रश्वास त्यागने लगेगी। उस समय पुनर्वार जीवात्मा भ्रान्ति और माया मोह में मुग्ध होकर जीवभाव से यथास्थान अवस्थान करेगा।

इस प्रणाली से कुम्भक के रूप में भावना द्वारा क्रमशः अभ्यास किया जाता है। कुण्डलिनी सर्वस्वरूपिणी है। अतएव कुण्डलिनी के उत्थापन के लिए सभी को प्रयत्न करना चाहिए। कुल-कुण्डलिनी सभी के शरीर में सभी के मूलस्वरूप मूलाधार में अवस्थित है। शाक्त, शैव, वैष्णव, सौर, गाणपत्य, बौद्ध, ब्राह्म, पारसी; सिक्ख, मुसलमान, ईसाई, तान्त्रिक आदि किसी भी सम्प्रदाय का साधक क्यों न हो, सभी उपर्युक्त नियम से कुण्डलिनी का उत्थापन करके सांख्ययोग का साधन कर सकते हैं।

जो स्थूलमूर्ति के उपासक हैं, उनमें भी जो शाक्त हैं—

अर्थात् शक्तिमन्त्र से उपासना करते हैं वे कुण्डलिनी को उठाते समय "हंस" कहकर उठावें और उतारते समय "सोऽहं" का जप करते हुए उतारें। इसी प्रकार कुण्डलिनी को सहस्रार में स्थापित करके गुरु उपदिष्ट-देवता अर्थात् जो जिस देवी का उपासक हो वह कुण्डलिनीशक्ति को उस देवी एवं परमपुरुष को तन्निर्दिष्ट भैरव के रूप में कल्पना करके दोनों की एकत्र समरसता-सम्भोग करे। यथा :—

**मूलाधारे वसेत् शक्तिः सहस्रारे सदाशिवः ।***

इसी प्रकार जो वैष्णव हैं, वे भी उक्त प्रकार से कुल-कुण्डलिनी को सहस्रार में पहुँचाकर पुरुष के साथ संयुक्त करते समय उसे ( कुण्डलिनी को ) परा प्रकृतिरूपिणी राधा एवं सहस्रार स्थित परमपुरुष को श्रीकृष्ण-रूप में मानकर दोनों की समरसता का सम्भोग करें। वैष्णवशास्त्रों में कहा है कि :—

---

* शक्तिसाधक स्वनामधन्य महात्मा रामप्रसाद ने इस विषय में एक भजन गाया है :--

जाग् मां आमार देहमध्ये। ( कुल-कुण्डलिनी )
( आमि ) ज्ञान-चन्दन भक्ति-जबा दिव मां तोर श्रीपादपद्मे ॥
अपूर्व छय पद्म आछे मा मेरुदण्डेर मध्ये मध्ये।
डाकिन्यादि शक्ति तोमार रयेछे तार प्रति पद्मे ॥
सुषुम्नार सूक्ष्म-पथे मा शक्ति संगे गो योगाद्ये।
चल सहस्रदलपद्म परे मा आमि ताई भाविगो भवाराध्ये ॥
परमहंसरूपे पिता, आछेन तथा शोन् विशुद्धे।
परमहंसीरूपिणी मा तुइ, एक बार युगल मिलने देखा दे।
प्रसाद बड़ भावछे गो मा, कि हवे शमनेर युद्धे।
अभय दे अभये शमनभये आर [illegible] ॥

मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम् ।
विशुद्धं च तथाज्ञां षट्चक्राण्यथ विभाव्य च ।।
कुण्डलिन्या स्वशक्त्या च सहितं परमेश्वरम् ।
सहस्रदलमध्यस्थं हृदये स्वात्मनः प्रभुम् ।।
ददर्श द्विभुजं कृष्णं पीतकौषेयवाससम् ।
सस्मितं सुन्दरं शुद्धं नवीनजलदप्रभम् ।।

—नारदपञ्चरात्र, ३७०-३७२

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा नामक छः चक्रों की हृदय में भावना करके शक्ति और कुण्डलिनी सहित सहस्रदलपद्मस्थित परमात्मा-प्रभु का ध्यान करके द्विभुज एवं पीत-कौषेयवस्त्र धारण किये हुए मन्द मुस्कानयुक्त, सुन्दर और विशुद्ध एवं नवमेघतुल्य प्रभावविशिष्ट श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन करे ।

कुण्डलिनी उत्थापन करके ब्रह्मतत्त्व साधन करने की अनेक विधि-प्रणालियाँ शास्त्रों में बताई गई हैं । उनमें सहज श्रेष्ठ और सुखसाध्य प्रणालियाँ नीचे लिखी जाती हैं । जिसे जो सुगम जान पड़े, वह उस प्रणाली का अवलम्बन करके ब्रह्मतत्त्व साधन करे । एक ही विषय की ये सब भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ वर्णन की गई हैं ।

# रसानन्द योग अथवा योनि मुद्रा साधन

योनिमुद्रा का अवलम्बन करके पूर्वोक्त प्रकार से कुण्डलिनीशक्ति को सहस्रार में उत्थापित किया जा सकता है । यथा :—

योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत् ।
सुश्रृङ्गार-रसेनैव विहरेत् परमात्मनि ।।
आनन्दमयः सम्भूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत् ।
अहं ब्रह्मेति वाऽद्वैतं समाधिस्तेन जायते ।।

योनिमुद्रा का अवलम्बन करके उस परमात्मा से अपने को शक्तिमय कल्पना करे अर्थात् अपने को प्रकृतिरूपा शक्ति एवं परमात्मा को पुरुष रूप शिव कल्पना करे। इससे प्रकृति-पुरुष या शिवशक्ति का ज्ञान होगा। उस समय स्त्री-पुरुषवत् परमात्मा के साथ अपना शृङ्गार-रसपूर्ण विहार होने की कल्पना करनी चाहिए। इस प्रकार के सम्भोग से उत्पन्न परमानन्दरस में मग्न होने से परमब्रह्म के साथ अभेदरूप से मिल जाने का ज्ञान उत्पन्न होगा। इसके पश्चात् "मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकार का अद्वैतज्ञान उत्पन्न होकर परब्रह्म में चित्तलीन हो जायगा।

पूर्वोक्तरूप से वैष्णवसाधक अपने को राधा के रूप में मान कर परमपुरुष श्रीकृष्ण के साथ रास-रस में मत्त होना चाहिए। योनिमुद्रा का क्रम इस प्रकार है :—

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तमाकुञ्च्य प्रवर्तते॥
ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं बन्धूकसन्निभम्।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम्॥
तस्योर्ध्वे तु शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला।
तयापिहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत्॥
गच्छन्ति ब्रह्ममार्गेण लिङ्गत्रयक्रमेण वै।
अमृतं तद्विसर्गस्थं परमानन्दलक्षणम्॥
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधारप्रवर्षिणम्।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत् कुलम्॥
पुनरेवाकुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा।
सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मिस्तन्त्रे मयोदिता॥
पुनः प्रलीयते तस्यां कालात्म्यादिशिवात्मकः।

योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ॥
तस्यास्तु बन्धमात्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत् ।

—शिवसंहिता, ४।२-८

प्रथम प्रकार का क्रम—

प्रथम पूरक-योग द्वारा अपने मूलाधारपद्म में वायु के सहित मन को स्थापित किया जाता है। गुह्यद्वार और उपस्थेन्द्रिय के मध्यवर्ती स्थान को योनिमण्डल कहते हैं। इस योनिस्थान को आकुञ्चित करके योनिमुद्रा के साधन में प्रवृत्त होना चाहिए। इस योनिमण्डल को ब्रह्मयोनि भी कहते हैं। इस ब्रह्मयोनि में बन्धूकपुष्प के समान रक्तवर्ण; कोटिसूर्य के समान तेजोमय एवं कोटिचन्द्रमा के समान सुशीतल स्थिरतर कन्दर्प नामक वायु हैं। जिसके ऊर्ध्वभाग में अग्निशिखा के समान सूक्ष्म एवं चैतन्यस्वरूपा परमाकला ( कुण्डलिनीशक्ति ) है। साधकगण इस रूप में उसका ध्यान करने के पश्चात् यह कल्पना करे कि आत्मा उस परमात्मकला कुण्डलिनीशक्तिद्वारा परिव्याप्त और एकीभूत हो गई है। तत्पश्चात् साधक कुम्भक योग के प्रभाव से वायु के साथ इस कुण्डलिनीशक्ति को स्वयम्भूलिङ्ग, बाणलिङ्ग और इतरलिङ्ग इन तीनों लिङ्गों को भेदकर के सुषुम्नानाड़ी के रन्ध्र में होकर ब्रह्ममार्ग में गमन करने की कल्पना करे। इस प्रकार कुण्डलिनीशक्ति अकुलस्थान में ( शिरस्थित अधोमुख सहस्रदल कमल की कर्णिका में ) उपनीत होकर विसर्गस्थित दिव्य कुलामृत पान करती रहती है। वह कुलामृत परमानन्दमय, श्वेत-रक्तवर्ण ( सत्त्व-रजोमय ) और तेज सम्पन्न होता है; उसी से दिव्य सुधा-धारा वर्षण होता है। कुल कुण्डलिनी इस प्रकार दिव्य कुलामृत पान करके पुनर्वार कुलस्थान ( मूलाधारपद्मस्थ ब्रह्मयोनिमण्डल ) में प्रत्यागमन करती है। कुल-कुण्डलिनी शक्ति का इस प्रकार गमनागमन प्राणायाम की मात्रा के द्वारा ही हो सकता है। मूलाधारपद्म में कुल-कुण्डलिनीशक्ति आत्मा के लिए प्राणस्वरूप बन कर रहती है। इस प्रकार गमनागमन के पश्चात् पुनः

कुण्डलिनीशक्ति कालाग्न्यादि शिवात्मक ब्रह्मयोनि में लीन हो जाती है। इस प्रकार के ध्यान करने का नाम ही योनिमुद्रा है। यह सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ है। इसके बन्धनमात्र से ही साधक समस्त विषयों में सिद्धिलाभ कर सकता है।

> पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले।
> उत्थाय च पुनः पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

—तन्त्रवचने

योनिमुद्राद्वारा इस प्रकार पुनः पुनः कुण्डलिनीशक्ति को कुलामृत पान कराने से फिर साधक का पुनर्जन्म नहीं होता। योगीश्वर गोरखनाथ के मतानुसार योनिमुद्रा इस प्रकार होती है :—

> सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नासामुखम्।
> अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत्॥
> काकीभिः प्राणं संकृष्य अपाने योजयेत्ततः।
> षट्चक्राणि क्रमाद् ध्यात्वा हुं हंसमधुना सुधीः॥
> चैतन्यमानयेद् देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी।
> जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य कराम्बुजे॥
> शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परः शिवेन संगमम्।
> नानासुखं विहारश्च चिन्तयेत् परमं सुखम्॥
> शिव-शक्ति-समायोगादेकान्तं भुवि भावयेत्।
> आनन्दश्च स्वयं भूत्वा अहं ब्रह्मेति सम्भवेत्।
> योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा।
> सकृत्तु लाभात् संसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि॥

—गोरखसंहिता ८१-९४

द्वितीय प्रकार का क्रम--

साधक सिद्धासन में बैठकर दोनों हाथों के अंगूठोंद्वारा दोनो कानों को, तर्जनियोंद्वारा दोनों नेत्रों को, मध्यमाद्वारा दोनों नासिकापुटों को, अनामिकाद्वय और कनिष्ठाद्वयद्वारा मुखविवरको बन्द करके; काकीमुद्राद्वारा अर्थात् दोनों होठ काकचक्षु की तरह संकुचित करके ( सीटी बजाने की तरह ) प्राणवायु का आकर्षण करते हुए अपान वायु से युक्त करें। तत्पश्चात् शरीरस्थ षट्चक्र का ध्यान करके "हुँ हंस:" इस मन्त्रद्वारा निद्रिता भुजङ्गिनीदेवी अर्थात् कुल-कुण्डलिनी को सचेत करके जीवात्मा के साथ शक्ति को शिरस्थित सहस्रदल पद्म में उत्थापित करे। सुधी व्यक्ति अपने को शक्तिमय कल्पना करके इस कमल कलिका में परम पुरुष के साथ सम्मिलित हो, स्त्री पुरुष की तरह सङ्गमासक्त होते और अपने को आनन्दमय परम सुखी अनुभव करते हैं। इस प्रकार चिन्तन करते हुए "अहं ब्रह्माऽस्मि" का ज्ञान होकर योनिमुद्रा सिद्ध हो जाती है। यह योनिमुद्रा परम गोपनीय है। अतएव देवता भी इसे प्राप्त नहीं कर सकते। इस मुद्रा को एक बार करने मात्र से ही सदा सिद्धियाँ सुलभ होकर मनुष्य समाधिस्थ भी हो सकता है।

समाधि भङ्ग होने पर फिर योगीव्यक्ति अन्तर्बाह्य कहीं भी भ्रान्ति नहीं देखता, उसी का नाम प्रकृत ब्रह्मज्ञान है।

यह प्रक्रिया अत्यन्त आनन्दप्रद एवं श्रेष्ठ है। जिस प्रकार नारी के समागमकाल में शुक्र के बहिर्गम होने में एक अनिर्देश्य आनन्द और अव्यक्त भाव का अनुभव होता है, साधक को समाधिकाल में उससे भी कोटि गुना अधिक अनुभव होता है। "शरीर और मन के उस अव्यक्त अपूर्वभाव को व्यक्त करने का कोई उपाय नहीं हो सकता।"

# ब्रह्मयोग या भूतशुद्धि साधन

भूतशुद्धि की क्रियाद्वारा भी कुण्डलिनी उत्थापित हो सकती है। नित्य प्रति के जपपूजादि में भी भूतशुद्धि परम आवश्यक है। भूतशुद्धि किए विना किसी भी कार्य का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु लाखों व्यक्तियों में से एक भी व्यक्ति प्रकृत भूतशुद्धि करना जानता हो या नहीं, इसमें सन्देह ही है। इड़ा या पिङ्गला के मार्ग से यह कार्य नहीं हो सकता किन्तु सुषुम्णापथ से शरीर के समस्त तत्त्व और समस्त वृत्तियों को कुण्डलिनी शक्ति की सहायता द्वारा एकमुखी करना ही भूतशुद्धि का मुख्य उद्देश्य है। उत्तम प्रकार से प्राणायाम का अभ्यास किये विना कोई भी भूतशुद्धि करने की शक्ति नहीं रखता। यह बात पहले कही जा चुकी है कि परब्रह्म एक ओर अद्वितीय होकर ब्रह्मानन्दरस का उपभोग करने के लिए शिवशक्ति के रूप में या प्रकृति-पुरुष के रूप में प्रकाशित होकर सृष्टि-विन्यास करता है। यहाँ शिव-शक्ति भाव को त्यागकर केवल परब्रह्म भाव का अनुभव करने से उस शिवशक्ति या पुरुष-प्रकृति को एकत्र करके चणकाकार ( चने के रूप में ) एक आवरण में प्रवेश करना चाहिए। क्योंकि ऐसा किये बिना पूर्ण ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। अतएव आजन्म प्रकृति-पुरुष ज्ञान में ही आवद्ध रहना पड़ता है। इसी कारण ब्रह्मज्ञान पिपासु व्यक्ति यत्न पूर्वक ब्रह्मतत्त्व का साधन करे। प्रकृति को एकत्र करने का नाम ही ब्रह्मतत्त्व है। यथा :—

मूलाधारे वसेत् शक्तिः सहस्रारे सदाशिवः।
तयोरैक्ये महेशानि ब्रह्मतत्त्वं तदुच्यते ॥

—तन्त्रवचन

मूलाधारकमलस्थिता कुण्डलिनीशक्ति-सहित सहस्रारस्थित परमशिव का जो सम्मिलन है। उसी को ब्रह्मतत्त्व कहते हैं। भूतशुद्धि के द्वारा इस ब्रह्मतत्त्व की साधना प्रणाली इस प्रकार है :—

साधक अपनी सुविधानुरूप आसन से उपयुक्त स्थान में बैठ कर मनको स्थिर करने के लिए कुछ क्षण नाभिदेश में दृष्टि जमावे। इसके बाद बाईं ओर गणेश तथा दक्षिण ओर गुरु की कल्पना करके उन्हें प्रणाम करे। इसके अनन्तर साधक अपने अङ्क ( गोद ) में उत्तान पाणिद्वय (ऊपर की ओर चित् हथेलियाँ) करके ध्यानावस्थित व्यक्ति की तरह प्रथमतः पञ्चप्राण, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि ये सत्रह आधार जीवात्मा को मूलाधारपद्म में विराजित कुण्डलिनी के सहित एकीभूत कल्पना करके मूलाधारपद्म और कुण्डलिनी के मानस नेत्र ( ध्यान ) द्वारा दर्शन करे। इसके बाद "यं" वाह्यबीज का उच्चारण करके सोलह बार जप करते करते वाम नासिका से वायु का आकर्षण करके मूलाधार स्थित ब्रह्मयोनि में बन्धूकपुष्प की तरह रक्तवर्ण, कोटिसूर्य के समान तेजोमय और कोटिचन्द्रमा के समान सुशीतल जो कन्दर्प नामक स्थिरतर वायु है, उसे उद्दीपित करे। तत्पश्चात् "रं" वह्निबीज का उच्चारण करके बत्तीस बार जप करते हुए दक्षिण नासिका-द्वारा वायु खींच कर कुण्डलिनी के चारों ओर की अग्नि को प्रज्ज्वलित करे। इसके पश्चात् अभिनिविष्ट मन से यह ध्यान करे कि कुण्डलिनी-द्वारा परिव्याप्त एवं एकीभूत आत्मा के जो पापादि कर्म हैं, वे अग्नि-द्वारा भस्मीभूत एवं वायु द्वारा उड़कर स्थानान्तरित हो रहे हैं। इस प्रकार वायुद्वारा वह्नि-समुद्दीपित होने पर हुँकार-द्वारा कुण्डलिनी का उत्थान करके हंस मन्त्रद्वारा पृथ्वीतत्त्व के साथ उसे अपने अधिष्ठानचक्र में उत्तोलन करना चाहिये और उसे वहाँ स्थापित कर तत्त्वसमूह को उसमें संयोजित करना चाहिये।

अभिनिविष्टचित्त से अविच्छिन्न तैलधारा की तरह किसी एक विषय का चिन्तन करना ही इच्छाशक्ति ( Will Force ) कहते हैं। साधक की उस इच्छाशक्ति को मूलाधारपद्मस्थित कुण्डलिनीशक्ति पर अभिनिविष्ट करने से वह जागरित होती है, जिस इन्द्रिय पर मन सन्नि-विष्ट किया जाता उसकी शक्ति उद्बोधित होती है। कुण्डलिनी भी

शक्ति है, अतएव उस पर मन का अभिनिवेश करने से वह जागृत हो सकती है उस समय हुंकार अर्थात् गम्भीर स्वर के विस्तारपूर्वक "हूं" शब्द का उच्चारण करने से उस स्वर के सहारे स्वाधिष्ठान से कुण्डलिनी उठ खड़ी होगी। "हंस" शब्द श्वास-प्रश्वास का मन्त्र है। इस "हंस" या श्वास-प्रश्वास के केन्द्रस्थल में मूलाधार है और इसी से वह उद्भूत हुआ है। "लं" पृथ्वीबीज और उसका अवभासक है। अतएव यह श्वास-प्रश्वास भी पृथ्वीतत्त्व से रहित होने पर कुण्डलिनी का जागृत होना असम्भव है।

कुण्डलिनी को अपने अधिष्ठान में स्थापित करते हुए पृथ्वी आदि तत्त्वसमूह को जलादि तत्त्वों में लीन किया जाता है और गन्धादि घ्राण के साथ समग्र पृथ्वी को जल में लीन करना पड़ता है। इसके बाद रसना के साथ रस-जल अग्नि में लीन करके रूपादि एवं दर्शनेन्द्रिय के साथ अग्नि को वायु में लीन किया जाता है। इसके बाद सशब्द आकाश को अहङ्कारतत्त्व में लीन करके उसको बुद्धितत्त्व में लीन करते हुए बुद्धितत्त्व को प्रकृति में लीन करके ब्रह्म में इस प्रकृति का लय करना चाहिये।

पृथ्वी आदि तत्त्व अन्य तत्त्वों में किस प्रकार लीन होते हैं, यह कुण्डलिनी उत्थापन की क्रिया में वर्णन कर दिया गया है। उक्त क्रिया का अवलम्बन करके कुण्डलिनी को सहास्रा में ले जाने से वह परमपुरुष के साथ संयुक्त और एकीभूत हो जाती है। अतः उन दोनों की समरसता से उत्पन्न अमृतधारा में अपने शरीर को प्लावित और आनन्द युक्त अनुभव करना चाहिए। उसी अवस्था में साधक को ब्रह्मतत्त्वज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसके पश्चात् "सोऽहं" मन्त्रद्वारा लय प्राप्त होकर कुण्डलिनी के साथ जीवात्मा और चतुर्विंशति तत्त्व का पुनर्वार स्वस्थान में परिचालन करना चाहिए।

शास्त्रों में भूतशुद्धि की और भी कई विधियाँ बताई गई हैं। किन्तु वे सभी प्रायः पूजादि में ही व्यवहृत होती हैं। ब्रह्मतत्त्व साधन में

उपर्युक्त प्रकार की भूतशुद्धि शीघ्र फलदात्री है। अतएव साधक-गण उक्त भूतशुद्धि की प्रणाली द्वारा ही ब्रह्मतत्त्व की साधना करें। पाठकों की जानकारी के लिए और भी एक पद्धति द्वारा भूतशुद्धि का उपाय नीचे लिखा जाता है :—

"रमिति" जल धारया वह्निप्राकारं विचिन्त्य स्वाङ्के उत्तानौ करौ कृत्वा सोऽहमिति मन्त्रेण जीवात्मानं हृदयस्थं दीप-कलिकाकारं मूलाधारस्थ-कुलकुण्डलिन्या सह सुषुम्णावर्त्मना मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरकानाहत-विशुद्धाज्ञाख्य-षट्चक्राणि भित्वा, शिरोवस्थिताधोमुख-सहस्रदलकमल-कर्णिकान्तर्गतपर-मात्मनि संयोज्य, तत्रैव पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाश-गन्ध-रूप-रस-स्पर्श-शब्द-नासिका-जिह्वा-चक्षुस्त्वक्- श्रोत्र-वाक्-पाणिपाद-पायूपस्थ-प्रकृति-मनो-बुद्ध्यहङ्कार-चतुर्विंशतितत्त्वानि लीनानि विभाव्य, "यमिति" वायुबीजं धूम्रवर्णं वामनासापुटे विचिन्त्य, तस्य षोडशवारजपेन वायुना देहमापूर्य नासापुटौ धृत्वा तस्य चतुःषष्टिवारजपेन कुम्भकं कृत्वा वामकुक्षिस्थ-कृष्णवर्णपापपुरुषेण सह देहं संशोध्य तस्य द्वात्रिंशद्वारजपेन दक्षिणनासायां वायुं रेचयेत् पुनर्दक्षिणनासापुटे रमिति वह्नि-बीजं रक्तवर्णं ध्यात्वा तस्य षोडशवारजपेन वायुना देहमापूर्य नासापुटौ धृत्वा तस्य चतुःषष्टिवारजपेन कुम्भकं कृत्वा कृष्णवर्णपाप-पुरुषेण सह मूलाधारोत्थितेन वह्निना दग्ध्वा तस्य द्वात्रिंशद्वारजपेन वामनासायां भस्मना सह वायुं रेचयेत्। ततः "ठमिति" चन्द्रबीजं शुक्लवर्णं वामनासायां ध्यात्वा तस्य षोडशवारजपेन ललाटे चन्द्रं नीत्वा नासापुटौ धृत्वा "वमिति" वरुणबीजस्य चतुःषष्टि वारंजपेन ललाटस्थचन्द्राद्गलितसुधया

मातृकावर्णात्मिकया समस्तदेहं विरचय्य "लमिति" पृथ्वीबीजं द्वात्रिंशद्वारजपेन देहं सुदृढं विचिन्त्य दक्षिणेन वायुं रेचयेत्। ततो 'हंस' इति मन्त्रेण जीवं स्व-स्व-स्थाने संस्थाप्य देवमरूप-मात्मानं विचिन्तयेत् ।।"

उपर्युक्त भूतशुद्धि प्रक्रिया की पद्धति अति कोमल एवं सहज ही बोधगम्य हो सकती है, इसी कारण उसका अनुवाद यहां नहीं दिया गया विशेषतः हमारे "योगीगुरु" नामक ग्रन्थ में इस प्रकार भूतशुद्धि का भाषानुवाद दे दिया गया है और सभी के करने योग्य सहज साध्य भूतशुद्धि की क्रिया भी लिख दी गई है। अतः जिसको आवश्यकता हो वह उपर्युक्त पुस्तक से सहज साध्य भूतशुद्धि के उपाय जान सकता है।

# राजयोग या उर्ध्वरेता-साधना

साधक प्रथमतः कुण्डलिनी उत्थापन की किसी एक क्रिया का अवलम्बन करके उसमें परिपक्व होने पर राजयोग की प्रणाली से उर्ध्वरेता बनने का साधन करे। योगशास्त्र में भी यही उपदेश किया गया है। यथा :—

पूर्वाभ्यस्तौ मनोवातो मूलाधारनिकुञ्चनात् ।
पश्चिमां दण्डमार्गन्तु शंखिन्यन्तः प्रवेशयेत् ।।
ग्रन्थित्रयं भेदयित्वा नीत्वा भ्रमरकन्दरम् ।
ततस्तु नादयेद् बिन्दुं ततः शून्यालयं व्रजेत् ।।

—योगशास्त्र

पूर्वोक्त अभ्यास के द्वारा मूलाधार निकुञ्चन ( सिकोड़ ) करके मन और प्राणवायु को दण्डमार्ग में स्थित शंखिनी नाड़ी के भीतर प्रवेश कराया जाता है। इसके पश्चात् ग्रन्थित्रय अर्थात् नाभिमूल

की ब्रह्मग्रन्थि, हृदय की विष्णुग्रन्थि एवं ललाट की रुद्र-ग्रन्थि को भेदकर भ्रमर-कन्दर अर्थात् सहस्रार में उपनीत होकर उस कमल कर्णिका में जो शक्ति मण्डल है, उसके भीतर तेजोमय विसर्गाकार मण्डल पर मध्याह्न कालीन सूर्य के समान तेजोमय विशुद्ध स्फटिक सदृश श्वेतवर्ण का जो एक बिन्दु है,* उस बिन्दु स्थान से नाद ( ॐ ) श्रवण करते हुए शून्यालय में गमन किया जाता है, अर्थात् साधक समाधिस्थ हो जाता है।

अथवा मूलसंस्थानमुद्घातैः सम्प्रबोधयेत् ।
सुप्तां कुण्डलिनीं नाम विसतन्तुनिभाकृतिम् ॥
सुषुम्नान्तःप्रवेशेन पञ्चचक्राणि भेदयेत् ।
ततः शिवे शशाङ्केन उर्ध्वनिर्मलरोचिषि ॥
सहस्रदलपद्मान्तःस्थिते शक्तिं नियोजयेत् ॥

—योगशास्त्र

मूलाधारस्थित विसतन्तुसदृश अतिसूक्ष्माकृति प्रसुप्ता अर्थात् निद्रिता कुण्डलिनी को 'रं' वह्निबीज-द्वारा मूलाधारोत्थितवह्नि की सहायता से प्रबोधित अर्थात् जागृत् करके सुषुम्नानाल में प्रवेश कराते हुए पञ्च-

*इस बिन्दुरूपी परमपुरुष का विस्तृत वर्णन हमारे "योगी-गुरु" नामक ग्रन्थ में दिया गया है। योगीगण योगबल द्वारा इस बिन्दु का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। इसी को ब्रह्मसाक्षात्कार कहा जाता है। यथा :—

सहस्रारे महापद्मे त्रिकोणनिलयान्तरे ।
बिन्दुरूपे महेशानि परमेश्वर ईरितः ॥

—लिङ्गेश्वरतन्त्र

चक्र अर्थात् अधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत; विशुद्ध और आज्ञाचक्र को भेद कर के सहस्रदल कमल के अन्तर्गत शशाङ्क सदृश निर्मलकान्ति परमात्मा परमशिव के साथ संयुक्त करना चाहिए।

अथ तत् सुधया सर्वां सबाह्याभ्यरन्तनुम्।
प्लावयित्वा ततो योगी न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥
तत उत्पद्यते तस्य समाधिर्निस्तरंगिनी।
एवं निरन्तराभ्यासाद्योगसिद्धिः प्रजायते ॥

—योगशास्त्र

इसके पश्चात् स्त्री-पुरुष की तरह शिवशक्ति के शृङ्गाररस पूर्ण विहार से जो सुधा स्रावित होती है; उसमें सर्वाङ्ग को प्लावित करने का ध्यान करना चाहिए। इसके बाद फिर कुछ भी नहीं सोचना चाहिए। इससे निस्तरंगिणी अर्थात् निर्वात् ( स्थिर ) जलाशय की तरह निश्चला समाधि सिद्ध होगी। इस प्रकार के निरन्तर अभ्यास से योगसिद्धि होती है।

महायोगी महेश्वर के वामदेव नामक उत्तर आम्नाय से ( उत्तर दिक्स्थ मुख से ) यह राजयोग कहा गया है। अधिमात्र नामक साधक राजयोग का अधिकारी होता है। राजयोग ही सब प्रकार के योगों का राजा होने से द्वैतभाव वर्जित है। यथा:—

चतुर्थो राजयोगः स्यात् स द्विधाभाववर्जितः ॥

—शिवसंहिता, ५।९

ज्ञानयोग, कर्मयोग, और भक्तियोग, ये तीनों ही अलग अलग राजयोग के अङ्ग हैं। प्राणायामादि हठयोग राजयोग के साधन में विशेषरूप से सहायता करते हैं, अतएव हठयोग को राजयोग के एक सहज उपाय के रूप में योगियों ने स्वीकार किया है। जो लोग सर्व साधारण की भांति प्राण संरोध रूपयोगाभ्यास के लिए अक्षम हैं, वे कर्म, ज्ञान, और भक्ति का आश्रय लेकर राजयोग की साधना करें।

किन्तु इसमें भी अधिकारीभेद को स्वीकार किया गया है। भगवान कहते हैं कि :—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगश्च कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ ज्ञातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।
तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीः काम उद्धवः।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत॥
अस्मिल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्ति वा यदृच्छया॥

—भागवत, ११।२०।६-११

"हमने मानव प्राणियों के श्रेय साधन अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षरूप चतुर्वर्ग की साधना के लिए ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग इस प्रकार तीन योगों की विधि कही है। इनके सिवाय श्रेयसाधन का अन्य उपाय ही नहीं है। इन तीन प्रकार के योगों में जो निर्विण्ण अर्थात् दुःखदायी होने से धर्म-कर्म के विषय में विरक्त हैं, उनके लिए ज्ञानयोग ही सिद्धिप्रद है। इसी प्रकार कर्म और कर्मफल के विषय में जो दुःखबुद्धिशून्य अर्थात् कामी ( इच्छावान् ) हैं और जिनकी संसार-भोग से तृप्ति नहीं हुई है, उनके लिए कर्मयोग ही सिद्धि प्रदान कर सकता है। साथ ही किसी प्रकार भाग्योदयवश मेरे ( ईश्वर के ) प्रसङ्ग

में जिनकी अटल श्रद्धा हो जाती है और कर्म एवं उसके फल के विषय में जो विरक्त हो चुके हैं, अर्थात् जिनकी विशेष आसक्ति नहीं रही है उनके लिए भक्तियोग सिद्धिप्रद हो सकता है। जबतक कर्मादि के विषय में विरक्ति उत्पन्न नहीं होती और न भागवत कथा में श्रद्धा ही होती है, तबतक नित्य-नैमित्तिक कर्म करना चाहिए। उद्धव ! स्वधर्म में तत्पर रहकर इच्छा परित्याग करते हुए जो व्यक्ति यज्ञादि साधन करता है और निषिद्ध कर्मों को छोड़ देता है। वह स्वर्ग या नरक में नहीं जाता। निषिद्धकर्मत्यागी और स्वधर्मानुष्ठान में तत्पर शुद्धचेता व्यक्ति इस लोक में रहकर विशुद्ध ज्ञानयोग प्राप्त कर सकता है। अथवा भाग्यवशतः मेरी भक्ति भी लाभ कर सकता है''।

अतएव किसी भी साधनप्रणाली का अवलम्बन करके राजयोग की साधना करने से साधक का श्रेय साधन हो सकता है। ऐसी दशा में जो योगशास्त्रान्तर्गत राजयोग का साधन करते हैं, उनके सौभाग्य की सीमा नहीं हो सकती। इस राजयोग में सिद्धि प्राप्त कर लेने से साधक उर्ध्वरेता या जरा-मृत्यु से परे हो जाता है। यथा :—

अभ्यासात्तु स्थिरः शान्त ऊर्ध्वरेताश्च जायते।
परमानन्दमयो योगी जरामरणवर्जितः॥

—योगशास्त्र

अभ्यास कर लेने पर राजयोग योगियों को शान्त, उर्ध्वरेता, जरा-मरणवर्जित एवं परमानन्दमय बना देता है। अतएव मैं साधकों को यत्नपूर्वक राजयोग साधने का अनुरोध करता हूँ। क्योंकि :—

दत्तात्रेयादिभिः पूर्वं साधितोऽयं महात्मभिः।
राजयोगो मनोवायुं स्थिरं कृत्वा प्रयत्नतः॥

दत्तात्रेयादि महात्माओं ने मन और प्राण को स्थिर करके यत्नपूर्वक राजयोग की साधना की है।

# नादबिन्दुयोग एवं ब्रह्मचर्य-साधन

शरीरस्थ शुक्रधातु ( वीर्य ) को अविचलित और अविकृत रखने के उपाय को ब्रह्मचर्य-साधन कहते हैं। यथा :—

वीर्यधारणं ब्रह्मचर्यम् ।—पातञ्जलदर्शन

वीर्य धारण करने का नाम ब्रह्मचर्य है। अतएव सभी अवस्थाओं में मैथुनत्याग कर के ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।*

शुकदेव जी को सभी विषयों से रहित रहकर ब्रह्मचर्य पालन के लिए नानाविध उपदेश देकर देवर्षि नारद ने कहा था कि १—

द्वन्द्वारामेषु भूतेषु य एको रमते मुनिः।
विद्धि प्रज्ञानतृप्तं तं ज्ञानतृप्तो न शोचति ॥

—महाभारत

जो अपने चारों ओर दाम्पत्य-सुख से परितृप्त असंख्य व्यक्तियों को देखकर भी उनमें स्वयं एकाकी अवस्थान करने में समर्थ होता है। वही यथार्थ में ज्ञानतृप्त है। उसे शोक क्लेश आदि कदापि स्पर्श नहीं कर सकते।

द्वन्द्वारामेषु सर्वेषु य एको रमते बुधः।
परेषामनुपध्यायंस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

—महाभारत

---

* हमारे लिखे हुए "योगीगुरु" ग्रन्थ में वीर्यधारण की आवश्यकता के विषय में विस्तार पूर्वक लिखा गया है। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में सम्पूर्ण ज्ञातव्य बातें हमारी "ब्रह्मचर्य-साधन" नामक पुस्तक में देखना चाहिए।

जो अपने चारों ओर दम्पतियों को परस्पर अनुरक्त देख कर भी स्वयं ईर्ष्या रहित हृदय से एकाकी विहार कर सकता है। देवतागण उसी को ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञ) के नाम से सम्बोधन करते हैं।

संगं न कुर्यात् प्रमदासु यस्तु, योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो, वदन्ति या निरयद्वारमस्य॥
योपयाति शनैर्माया योषिद्देवविनिर्मिता।
तामीक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम्॥

—भागवत, ३।३१।३९-४०

जो व्यक्ति योग की परमसीमा पर पहुँचने की इच्छा करता है, वह कभी रमणी का सहवास नहीं करेगा। क्योंकि ब्रह्मसिद्ध योगिगण कह चुके हैं कि जो मेरी ( परमेश्वर की ) सेवाद्वारा आत्मा को प्राप्त कर चुका है, उसके लिए नारी प्रत्यक्ष नरक के द्वार के समान है। देव निर्मित प्रमदारूपिणी माया शुश्रूषादिद्वारा धीरे-धीरे आनुगत्य ( आत्मीयता ) स्थापित कर लेती है। किन्तु ज्ञानी तृण से ढँके हुए कूएँ की तरह उसे अपनी मृत्यु के रूप में समझता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा है कि :—

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः॥
न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसस्तथा तत् सङ्गिसङ्गतः॥

—भागवत, ११।१४।२९-३०

आत्मवान् धीरव्यक्ति स्त्रियों अथवा स्त्रीसंगियों को दूर ही से परित्याग करके भयशून्य देश में एकाकी अवस्थित रहकर आलस्य छोड़कर सर्वदा मेरा ( परमेश्वर का ) ध्यान करते हैं। क्योंकि स्त्री और स्त्रीसङ्गी

व्यक्तियों का साहचर्य उसे जिस प्रकार क्लेश एवं बन्धन कारक प्रतीत होता है, वैसा अन्य किसी कारण से नहीं होता।

ज्ञानयोग के श्रेष्ठ अधिकारी श्रीमत् शंकराचार्य अपनी "मणिरत्नमाला" में प्रश्नोत्तररूप में इस प्रकार लिख गये हैं :—

**किमत्र हेयं ?—कनकञ्च कान्ता।**

मुमुक्षु व्यक्ति के लिए यहाँ त्याज्य वस्तु क्या है?—धन और स्त्री।

**का शृङ्खला प्राणभृतां हि ?—नारी।**

जीव के लिए न टूटने वाली शृङ्खला ( सांकल ) क्या है? नारी।

**त्याज्यं सुखं किं ?—रमणीप्रसङ्गः।**

कौन-सा सुख पूर्णरूप से परित्याग करने योग्य है?—स्त्रीसम्भोग।

**द्वारं किमहो नरकस्य ?—नारी।**

नरक का द्वार क्या है?—नारी।

**सम्मोहयत्येव सुरेव का ?—स्त्री।**

सुरा ( मदिरा ) की तरह मनुष्य को उन्मत्त कौन कर देती है?—स्त्री।

**विज्ञान्महाविज्ञतमोऽस्ति को वा ?**
**नार्या पिशाच्या न च वञ्चितो यः।**

इस संसार में विज्ञ से भी महाविज्ञ कौन है? वह—जिसे कि पिशाचिनीरूपी नारी ठग नहीं सकती।*

---

* इस स्थान पर नारियों को जिस प्रकार पुरुषों के लिए साधना में विघ्नरूप से वर्जन किया गया है। उसी प्रकार पुरुष भी दूसरे रूप में, स्त्रियों के लिए साधना में विघ्नरूप होते हैं। अन्यथा शास्त्रकारगण तो पुरुष जाति के पक्षपाती थे और नारियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे ऐसा नहीं समझें। क्योंकि ऐसा होने पर वे स्त्री को घर की श्री (लक्ष्मी)

अतएव जो ब्रह्मचर्यवृत्ति का सम्यक् रूप से पालन करता है, उसे शास्त्र के अनुसार ब्रह्मलोक या मोक्षप्राप्ति निश्चितरूप से होती है। स्वयं महादेवजी ने कहा है कि :—

उर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः।

—ज्ञानसंकलिनीतन्त्र

अर्थात् जो ब्रह्मचर्य की साधना में सिद्धिलाभ करके उर्ध्वरेता हो गए हैं; वे मर्त्यलोकवासी होते हुए भी मनुष्यपदवाची नहीं हैं। वे ही प्रकृत देवता हैं। क्योंकि :—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

—पा० द०, २।३८

ब्रह्मचर्य की स्थापना होने से वीर्यलाभ होता है। अर्थात् ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित व्यक्ति के देह में ब्राह्मण्यदेव की विमलज्योति प्रगट हो जाती है। सारांश, ब्रह्मचर्य पालन करने से स्वतः ही ब्रह्मज्ञान या तत्त्वज्ञान प्रगट हो जाता है। यहां हमें यह देखना चाहिए कि क्या करने से सम्यक् प्रकार ब्रह्मचर्यव्रत का पालन हो सकता है? परमयोगी श्री याज्ञवल्क्य ने इस विषय में कहा कि :—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥

—योगी याज्ञवल्क्य, १-६२

कर्म, मन एवं वाक्यद्वारा सर्व प्रकार से मैथुन की इच्छा का परित्याग करना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है।

---

पुरुष की सहधर्मिणी एवं शरीर के अर्द्धांशरूप में कभी न बताते। यहां तक कि आगमशास्त्रों में नारीमात्र को देवी के रूप में देखने का उपदेश किया गया है। विशेषतः जो सर्वत्र ही ईश्वर का अस्तित्व अनुभव करता है, वह किसी से भी घृणा नहीं कर सकता। वह तो क्या स्त्री और क्या पुरुष, सभी को ब्रह्म के रूप में देखता और जानता है।

ब्रह्मचर्य पालन के लिए कोई लक्षण या कार्य वर्तमान होते हुए भी सभी व्यक्ति प्रयत्न द्वारा केवल मैथुन त्याग करने को समर्थ हो सकते हैं। उन्हें शास्त्रकारक प्रकृत ब्रह्मचारी के रूप में निर्देश करते हैं, किन्तु केवल स्त्री सहवास को ही मैथुन नहीं कहते हैं। उसके आठ अङ्ग या आठ लक्षण हैं। यथा :—

> श्रवणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
> संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥
> एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
> विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ॥
>
> —दक्षसंहिता, ७।३२-३३

काम प्रवृत्ति की इच्छा से रमणी का स्मरण, कीर्तन, केलि (क्रीड़ा), दर्शन, गुह्य ( गुप्त ) कथन, मानसिक संकल्प, उद्योग एवं क्रियानिष्पत्ति, इन आठ कार्यों को मैथुन के अष्टांगरूप में बतलाया गया है। इसके विरुद्धाचरण या इनको त्यागने का ही नाम ब्रह्मचर्य है। अतएव मुमुक्षु व्यक्ति चेष्टा और यत्नपूर्वक इन आठ प्रकार के मैथुनों का परित्याग कर दे।

जिनकी जितनी ही दृढ़ प्रतिज्ञा है; अर्थात् जो यह दृढ़ निश्चय कर चुके हैं कि "भले ही यह जीवन नष्ट हो जाय किन्तु इन्द्रियों के वशीभूत होकर कभी धर्मपथ का उल्लंघन नहीं करेंगे। और जीवन रहते हुए कभी जितेन्द्रियता परित्याग नहीं करेंगे।" वे ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने में समर्थ हो सकते हैं। यह जितेन्द्रियवृत्ति सहज ही प्राप्त नहीं हो सकती। ब्रह्मगतप्राण हुए विना जितेन्द्रिय होना असम्भव है। ऐसे भी अनेक व्यक्ति देखने में आते हैं कि जो इन्द्रिय परितृप्ति से सर्वथा विमुख हैं, किन्तु मन के कलुष को नहीं धोते हैं। लोक-लज्जा अथवा धर्मभय के कारण सर्व-साधारण में प्रतिष्ठा पाने की आशा से ही वे प्रगट में संयतेन्द्रिय की तरह कार्य करते हैं, किन्तु अन्तर में इन्द्रियों की तीव्र अग्नि ही

धधकती रहती है। इन्द्रियासक्त व्यक्ति और उन्हीं जैसे साधु महात्मा में बहुत ही कम अन्तर होता है। क्योंकि वे दोनों ही समानरूप से इहलोक की नरकाग्नि में जलते रहते हैं। इन्द्रिय परितृप्ति की भावना मन में उत्पन्न नहीं होती अथवा जब धर्मरक्षार्थ इन्द्रिय के चरितार्थ किये जाने पर भी वे दुःख के विषय के अतिरिक्त सुखकारक प्रतीत नहीं होती—तभी समझना चाहिए कि प्रकृत इन्द्रिय संयम हो सका है। अन्यथा लोक दिखावे के लिए साधु का पाखण्ड करना निरर्थक ही है। भगवान् ने कहा है कि :—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

जो व्यक्ति कर्मेन्द्रियों का संयम करके मन ही मन इन्द्रियों के विषय-समूह का स्मरण करता है, वही मूढ़ात्मा कपटाचारी कहलाता है। अतएव मन के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों को वशीभूत करके नारी से सहवास की आसक्ति छोड़े बिना ब्रह्मचर्य-साधन नहीं हो सकता। सारांश, सभी प्रकार से अष्टाङ्ग मैथुन त्याग करना ही ब्रह्मचर्य है। जब साधक के मन में स्त्रीसहवास की इच्छा बिल्कुल ही उत्पन्न नहीं होती, तभी जानना चाहिए कि वास्तविक ब्रह्मचर्य का साधन हुआ है। अब हमें सबसे पहले यह देखना चाहिए कि पुरुष के हृदय में स्त्रीसहवास की इच्छा इतनी प्रबल क्यों होती है? जिस प्रकार रोगोत्पत्ति का कारण जाने बिना रोग का मूलोच्छेद करना असम्भव होता है, उसी प्रकार स्त्री और पुरुष के सम्मिलन की इच्छा के कारण का निश्चय किये बिना उस प्रबल आकांक्षा को समझना असम्भव है। इस जगत् में एक ऐसी आकर्षण-शक्ति है, जिसके द्वारा प्रकृति और पुरुष का सम्मिलन घटित हो सकता है। महदादि से लेकर अणुपर्यन्त सभी जीव एक नियम में गुथे हुए हैं। उस आकुल आकर्षणशक्ति के द्वारा मानव कामाग्नि की उत्तेजना को हृदय में धारण कर उछल-कूद मचाता है। नर नारी के प्रति और नारी

नर के प्रति आकांक्षा की सहस्र भुजाओं से पकड़ने के लिए दौड़ने लगते हैं। स्त्री-पुरुष परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। इतनी प्रबल आकांक्षा और ऐसा उच्छ्वास कदाचित् ही अन्य किसी विषय में होता होगा। इसका यथार्थ कारण यह है कि प्रकृति और पुरुष के सम्मिलन के कारण जो निर्मल आनन्द प्राप्त होता है, उसकी अनुभूति को स्मरण करके प्रकृति-अंशसम्भूता रमणी पर पुरुष टूट पड़ता है। इसी प्रकार प्रकृति की जो रस उपभोग कराने विषयक वासना है, उसी के कारण रमणी पुरुष की ओर आकर्षित होती है। यह सम्मिलन शक्ति ही पुराणोक्त मदन ( कामदेव ) है। इसी कारण उसका दूसरा नाम मनसिज है। अर्थात् यह सम्मिलनेच्छा मानव प्राणी के मन से उत्पन्न होती है, अतः मदन का दूसरा नाम मनसिज है। इस विषय की यहाँ कुछ विशेष आलोचना करनी होगी।

सृष्टि से पूर्व प्रकृति और पुरुष मूर्तिहीन केवल एक ज्योति मात्र थे। सृष्टि के आरम्भकाल में वह सर्वव्यापी ज्योति आत्मा अभेद भाव से नादविन्दु के रूप में प्रकट हुई। नाद और बिन्दु सगुणरूप में शिव और शक्ति हुए है। यथा :—

"बिन्दुः शिवात्मको शक्तिर्नादः" इत्यादि

बिन्दु परमशिव और पराप्रकृति आद्याशक्ति ही नाद रूपा है। इस नादबिन्दु की सहायता से ही सृष्टि का विन्यास हुआ है। यथा :—

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिरुभयोर्मेलनात् स्वयम्।
सम्प्रभूतानि जायन्ते स्वशक्त्या जड़रूपया ॥

—शिवसंहिता

बिन्दुरूप शिव और रजोरूपा शक्ति दोनों के मिलन से जड़रूपा ईश्वरीय शक्ति द्वारा जीव की उत्पत्ति होती है। इसी कारण रजः को मातृशक्ति और बिन्दु को पितृशक्ति कहते हैं। इस मातृ और पितृ-

शक्ति के संयोग से जीव प्रवाह अव्याहत हो रहा है। इसी सम्मिलन-द्वारा सृष्टि, स्थिति और लय कार्य सम्पन्न होता है।

यह मातृ-पितृशक्ति ही जीव का स्त्रीत्व और पुरुषत्व है। इसी के द्वारा स्त्री और पुरुषदेह का निर्माण होता है। संसार में जितनी भी शक्तियों का परिचय पाया जाता है वे सभी स्त्री-पुरुष से युक्त हैं। ये दोनों ही शक्तियाँ परस्पर के भावाभिभव चेष्टा अथवा आत्मलाभ के उद्देश्य से परस्पर आलिङ्गित होकर नाना स्थानों में नानाभाव से विकसित होते हैं और उनके द्वारा निखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति और लयावस्था सम्पन्न होती है। किन्तु हम प्राणिजगत् के स्त्रीत्व और पुरुषत्व की चर्चा करते हैं।

जो स्त्रीत्व और पुरुषत्व की चर्चा करते हैं वे अपनी अस्तित्व की रक्षा और परिवृद्धि के निमित्त सदैव ही परस्पर के सम्मिलन की चेष्टा करते हैं। उसके द्वारा दोनों के तेज और बल की वृद्धि होती है। ये दोनों ओजस्विनी शक्तियाँ ही मानव-मानवी को एकीभूत करती है। जिस प्रकार दो लौह-खण्डों में परिस्फुरित विरुद्ध चुम्बक शक्तियाँ मिलने की इच्छा से आलम्बित ( आश्रित ) लौह-खण्डों को साथ करके मिल जाती हैं। उसी प्रकार स्त्री-पुरुष में उद्वेलित स्त्रीत्व और पुरुषशक्तियाँ भी अपने आश्रित स्त्री-पुरुषों की मनोवृत्ति को साथ लेकर एकत्रित हो जाती है। और उसके द्वारा अनुभव की दृष्टि से स्त्री और पुरुष के मन की एकता परिलक्षित होती है। इसी कारण वेद में पुरुष स्वामी होता है और स्त्री ऋत्विक् कही गई है। स्वामी चिदाधार और स्त्री विश्व-प्रकृति, पुरुष संन्यास, स्त्री शिक्षा, अभीष्टदेवता, जन्म-संसार-मृत्यु कारिणी कही गई है। पुरुष ज्ञान है तो स्त्री प्रेम। पितृ-अंश उदासीन केवल जीवन का उन्मेषक है और मातृ-अंश देह-सृष्टि कारक कर्मफलभोग-प्रवर्तक है। स्त्रीशक्ति से मनुष्य जन्म ग्रहण करता है और स्त्रीशक्ति के ही द्वारा वह गृहस्थ बन सकता है एवं सृष्टिप्रवाह का प्रवर्तन कर अन्त को स्त्रीशक्ति में ही ध्वंस हो जाता है।

स्त्री-पुरुष के सम्मिलन के दो उद्देश्य देखने में आते हैं, प्रथम तो सृष्टिप्रवाह को अव्याहत रखना, दूसरा आत्मसम्पूर्ति। केवल मनुष्य ही नहीं, संसार के जीवमात्र सुख की इच्छा करते हैं, सुख प्राप्ति का ही दूसरा नाम आत्मसम्पूर्ति है। स्त्री-पुरुष के सम्मेलन से उत्पन्न ऐन्द्रियिक सुख में वह पूर्णसुख नहीं है। वह सुख तो अल्पक्षण स्थायी एवं पश्चात्ताप-प्रद होता है। मातृशक्ति और पितृशक्ति विभक्तभाव से क्रिया करती है। किन्तु क्रियाविशेष का अवलम्बन करके दोनों शक्तियों के मिलन से आत्मसम्पूर्ति प्राप्त हो सकती है, तभी मनुष्य पूर्ण होता है। पूर्ण होने से जगत् की जो प्रधान आसक्ति नर-नारी के परस्पर मिलन की इच्छा—होती है, वह दूर हो जाती है। उस समय भगवान् में निश्चित भाव से आत्मसमर्पण करके सभी कार्य किये जाते हैं। किन्तु एक बात का यही स्मरण रखना चाहिए कि जिस प्रकार घृत आयु और बलकी वृद्धि करता और अस्वाभाविक भोजन से उदर-पीड़ा उत्पन्न हो जाती, उसी प्रकार स्त्री पुरुष की सम्मिलन क्रिया ज्ञानपूर्वक साधित न होने पर आत्मसम्पूर्ति तो नहीं आत्महत्या अवश्य हो जाती है। ऐसी दशा में किसी प्रकार स्थायीरूप से उनका मिलन कर देने से फिर मिलनेच्छा आसक्ति में परिणत नहीं होती।

स्त्रीजाति के प्रति पुरुष का जो आकुल आकर्षण होता है और जो उन्माद कामना उत्पन्न होती है; उसका कारण हमारी समझ से प्रायः सभी लोग जानते हैं। कीट-पतङ्ग से लेकर मनुष्य तक जिसके प्रबल आकर्षण से आकर्षित हो रहे हैं—जो मातृशक्ति और पितृशक्ति के मिलन की आशा से उन्मत्त है—क्या इच्छा करने पर भी उसे कभी छोड़ा जा सकता है? जो आत्मसम्पूर्ति किये बिना ही नारी का परित्याग कर देते हैं, उनका पतन अनिवार्य होता है। क्योंकि परित्याग के कुछ ही दिन बाद फिर आसक्ति उत्पन्न होती है। विश्वामित्रऋषि के तपस्या में तल्लीन हो जाने पर भी जब केवल प्राण मज्जागत होकर धक्-धक् करता रहा, समस्त वृत्तियों को उन्होंने परित्याग कर दिया था तो भी हठात्

किसी अशुभ मुहूर्त में मेनका के आगमन के ही साथ-साथ सभी वृत्तियाँ जाग उठी और ऋषि का पतन हो गया। इसी कारण किसी आधुनिक कवि ने कहा है :—

विश्वामित्र-पराशरप्रभृतयो　ये चाम्बुपर्णाशनाः।
तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः॥
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये　भुञ्जते मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्॥

विश्वामित्र, पराशर, आदि जो महर्षिगण केवल जल पीकर और पत्ते चबाकर जीवित रहते थे वे भी जब स्त्री के मुखकमल के दर्शन से आनन्द के कारण मोहित हो गये। तब जो घृत ( घी ) युक्त शालि ( भात ) अन्न एवं दूध-दही का भोजन करने वाले अन्य मानवगण हैं, वे यदि इन्द्रिय-निग्रह कर सकें तो यही समझना चाहिए कि विन्ध्य भी सागर तैर सकता है।

विषय आधुनिक होते हुए भी विचारणीय अवश्य है। क्योंकि यथार्थ में स्त्री-पुरुष की मिलनेच्छा विधिकृत होती है, जीव की इच्छा के अधीन नहीं होती। प्रकृति-पुरुष के मिलन को समरसता के कारण जीव निरन्तर व्याकुल रहता है। इसी कारण रमणी को देखते ही पुरुष पूर्व अनुभूति का स्मरण करके प्रबल मानवेच्छा के कारण उसकी ओर आकृष्ट होता है। पतङ्ग की तरह रमणी की रूपज्वाला में वह कूद पड़ता है। यही आकुल आकांक्षा पितृशक्ति की मातृशक्ति के विकास के लिए उन्माद-कामना है। बालिका में मातृशक्ति का विकास नहीं होता और वृद्धा में वह अन्तर्हित हो जाती है। इसी कारण वृद्धा या बालिका पितृशक्ति को आकर्षण करने में असमर्थ होती हैं। युवतियों में ही मातृशक्ति का पूर्ण विकास होता है, इसी कारण गधी के समान युवती भी पुरुष के नेत्रों में अनिन्द्य सुन्दर दिखाई देती है। यहाँ तक हमने यह बताने का

प्रयत्न किया है कि कामिनी के लिए पुरुष क्यों पागल हो उठता और उन्मत्त हो जाता है। केवल एक बिन्दु पदार्थ की धारणा ही इसका कारण है और रजोबिन्दु की मिलनेच्छा ही उसका उद्देश्य है।

किन्तु मनुष्य जो साधना करना चाहता है, उसे न जानने के कारण ही बिन्दु का पतन हो जाता है। उस समय पुरुष फिर से नारी के मुख को देखने की इच्छा करता है। क्षणभर पूर्व जिस रमणी में सुधांशु का सौन्दर्य देखा है, वही अब क्लेद परिपूर्ण मांसपिण्ड प्रतीत होने लगता है। क्षणभर पूर्व जिसका निश्वास सुरभित पवन सा प्रतीत होता था, वही फिर मरुभूमि के तप्त श्वास सा जान पड़ता है। जो पुरुष घड़ी भर पहले रमणी को सुख की खान समझ रहा था, वही अब उसकी ओर आंख उठाकर भी देखना नहीं चाहता। मुहूर्त मात्र में इस प्रकार का परिवर्तन विषय-विप्लव क्यों हो जाता है? केवल इसी से कि जिस उद्देश्य से बिन्दु का आगमन हुआ है और जो आनन्द दान करने के लिए प्रस्तुत हुआ है—वह मानव की अभिज्ञता के कारण मातृ-शक्ति के साथ मिल नहीं पाता। अतः उस मिलनानन्द की कणिका उपलब्धि करने के अभिमान से गिर जाता है। किन्तु इसके बाद जब वह शक्ति उत्तेजित होती है, तब फिर रमणी में अमृत का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार पितृ-शक्ति के क्षय हो जाने पर भी वासनायें दब जाती हैं।

भारतीय आर्य-ऋषियों ने योगबल से इस तत्त्व को जान कर ज्वलित कण्ठ या अमृतधारा से स्निग्ध करने के उपाय बता दिये हैं। उन्होंने जान लिया कि आसङ्गस्पृहा को परित्याग करने की शक्ति किसी में भी नहीं है। अतएव उन महापुरुषों ने रमणी को जननीत्व में परिणत करने का उपाय खोज निकाला।* इसी प्रकार योगियों ने भी नादबिन्दु

* तन्त्रशास्त्र के मतानुसार पञ्चतत्त्व की साधना में रमणीत्व जननीत्व में परिणत हो जाता है। इसकी साधनप्रणाली हमारे "तान्त्रिकगुरु" नामक ग्रन्थ में लिखी गई है।

संयोग की प्रणाली का अवलम्बन करके प्रकृति की अग्निमयीभुजाओं से बचने का उपाय लिख दिए हैं।

प्रकृति रमणीमूर्ति या मातृशक्ति के द्वारा सर्वदा आकर्षण करती रहती और अनुरक्त को बाँध रखती है। यदि उस शक्ति को साधना-द्वारा आत्मसम्मिश्रित कर दिया जाय—अर्थात् यदि रजोबिन्दु या शिव-पार्वती का मिलन संघटित कर दिया जाय तो फिर उसे अन्य आकांक्षा नहीं रह जायगी। जिसके आकर्षण से जीव नारकीय घृणा की ओर टूट पड़ता है—वह आकांक्षा की अग्नि बुझ जाती है। बिन्दु की रक्षा होकर इस मिलन से क्षणभर के लिए जो आनन्द होता है, वही स्थायीभाव से साधक के हृदय में विराजमान हो जाता है। फिर तो कामना की अग्नि के बुझ जाने पर साधक के हृदय में स्वतः ही दिव्यज्ञान प्रगट हो जाता है; यही पूर्णतम ब्रह्मज्ञान है। यही एक मात्र ब्रह्मज्ञानी की अनन्त साधना और यही पितृ-मातृ-शक्ति की संयोजना अथवा हर गौरी का पूर्ण मिलन है। आत्मा का आत्मा में मिलन होने या बिजली के परस्पर जुड़ जाने की तरह यह सम्मिलन भी है। इसमें फिर विच्छेद नहीं होता। दो शक्तियाँ एक होकर आत्मसम्पूर्ति लाभ करती हैं। अपूर्ण मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त हो जाता है। अतएव इस रस के रसिक हुए बिना तत्त्वज्ञान समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि वह केवल बाहरी दृष्टि से ही अनुभव नहीं किया जा सकता। जो लोग योग के द्वारा साधना की प्रभा से अनन्तर-दृष्टि प्राप्त कर लेते हैं, वे ही इसे समझ सकते हैं।

रज और बिन्दु तथा साक्षात् शक्ति और शिव अथवा प्रकृति और पुरुष के मिलन से ही जीव की सृष्टि होती है। किन्तु योगी यदि इस ज्ञान को पूर्णरूप से प्राप्त कर ले तो इस मिलन से ही उसको पूर्णता सिद्धि और आत्मसम्पूर्ति घटित हो सकती है। भगवान् सदाशिव ने कहा है कि :—

अहं बिन्दू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा।
योगिनो साधनावतां भवेद्दिव्यं वपुस्तदा॥

मैं बिन्दु हूँ और रजः शक्ति है–साधनावान् योगी इस ज्ञान के द्वारा जब दोनों का मिलन कर लेता है तब उसके शरीर में देवतुल्य कान्ति उत्पन्न हो जाती है।

बिन्दुर्विधुमयो ज्ञेयो रजः सूर्यमयस्तथा।
उभयोर्मेलनं कार्यं स्वशरीरे प्रयत्नतः॥

—शिवसंहिता

बिन्दु चन्द्रमय और रजः सूर्यमय है। अतएव यत्नपूर्वक सर्वदा योगी के आत्मशरीर में दोनों का मिलन करना उचित है। रजोबिन्दु-रूपी प्रकृति और पुरुष की सम्मिलन क्रिया का नाम ही नाद-बिन्दुयोग है। उसका क्रम इस प्रकार है :—

मणिपुरपद्म की कर्णिका के भीतर विशुद्ध ताम्रवर्ण रज होता है। पूरक के द्वारा कुण्डलिनीशक्ति की सहायता से इस रज का उत्तोलन करके सहस्रदल-कमल-कर्णिका में शुद्धस्फटिकतुल्य स्वच्छ श्वेतवर्ण एवं कोटिसूर्य के समान तेजोमय बिन्दु के साथ सम्मिलन करना चाहिए।

पूर्वोल्लिखित अभ्यास के द्वारा ही यह कार्य सम्पन्न किया जाता है। इसी प्रक्रिया को नाद-बिन्दुयोग कहते हैं। इसी साधना के द्वारा पूर्ण-सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसके द्वारा प्रकृति वशीभूत होकर आत्मजय और आध्यात्मिक मरण की भीति दूर हो जाती है। यही योगी की सूक्ष्म-साधना है। इस प्रणाली के अतिरिक्त शास्त्रों में रसतत्त्व की साधना अथवा नादबिन्दुयोग के स्थूल उपायों का वर्णन किया गया है। वह बाह्यसाधना है। नारी की सहायता से ही वह सम्पादित होती है। मासिकधर्म से स्त्री के पुष्पित होने पर प्रथम के तीन दिन इस अभ्यास के लिए उपयुक्त समय होता है। ऋतुकाल ही पूर्णरस का समय और मातृशक्ति का विकास काल है, किन्तु मानवी में सदैव ही रस का विकास होता है। अतएव यहाँ सर्वदा ही माया का आविर्भाव होता रहता है। इसीलिए शास्त्रों में कहा है कि :—

स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु । —मार्कण्डेय चण्डी

सर्वदा विकास होने पर भी ऋतुकाल में वह अधिक परिपुष्ट होता है, अधिक विकसित होता है, तथा अन्य समय में अपेक्षाकृत कम। अतएव ऋतु के प्रथम तीन दिन ही साधना के लिए उपयुक्त अवसर है। उस समय साधक अमरोली मुद्रा के द्वारा योनि कुहर से लिङ्गनाल द्वारा रजः को आकर्षण करके ऊपर उठाते हुए सहस्रार बिन्दु के साथ सम्मिलीन करेगा रजःशक्तिकी सहायता से बिन्दुस्थिरभाव धारण करेगा। जिस प्रकार अत्यन्त तरल और महान् चञ्चल पारद की रक्षा करने के लिए गन्धक की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार बिन्दु धारण के लिए रजः शक्ति की आवश्यकता होती है। बिन्दु और रजः को एकत्र करने से ही बिन्दुधारण किया जा सकता है। उस आकांक्षा पदार्थ—चिर विरह की अमूल्यनिधि—प्राणों में प्रविष्ट होकर सन्तप्तहृदय को सुशीतल कर देती है। अन्यथा सैकड़ों चेष्टायें करने पर भी कोई बिन्दु को धारण करने में समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि स्त्री के स्मरण मात्र से बिन्दु चञ्चल और विकृत हो जाता है। साधक की अज्ञातावस्था में (अनजाने में) वह कब बाहर निकल जायगा, इसका क्या निश्चय है? इसी कारण मातृशक्ति की संयोजना द्वारा पितृशक्ति की रक्षा करने की व्यवस्था बताई गई है। किन्तु इस पुस्तक में उसे पूरी तरह खोलकर बताया नहीं जा सकता। अतएव शास्त्र से उसका मूल मात्र उद्धृत कर दिया जाता है।

आदौ रजः स्त्रियो योन्या यत्नेन विधिवत् सुधीः ।
आकुञ्च्य लिङ्गनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत् ।
स्वकं बिन्दुञ्च सम्बन्ध्य लिङ्गचालनमाचरेत् ।
दैवाच्चलति चेदूर्ध्वं निरोध्य योनिमुद्रया ।।

वामभागेऽपि तद्बिन्दुं नीत्वा लिङ्गं निवारयेत् ।
क्षणमात्रं योनितोऽयं पुमांश्चालनमाचरेत् ॥
गुरूपदेशतो योगी हुंकारेण च योनितः ।
अपानवायुमाकुञ्च्य बलादाकृष्य तद्रजः ॥

—शिवसंहिता

यहाँ विस्तार पूर्वक इस रसतत्त्व के विषय में अन्य गूढ़ बातें प्रगट करना असम्भव है। क्योंकि रसतत्त्व की साधनप्रणाली अत्यन्त गुह्यतम है, उसे सर्वसाधारण के सम्मुख प्रगट करना अनुचित होगा। विशेषतः इस साधना का विषय सामान्य जनता में अश्लील कहा जा सकता है। क्योंकि आजकल नई फैशन के पाश्चात्यशिक्षा से दबे हुए सुसभ्य कहलाने वाले महाशयगण कुरुचिपूर्ण कहकर पुस्तक को फेंक देंगे। और नाक भौं सिकोड़ने लगेंगे। काल की विषमता के कारण ही भय लगता है। आज "उरू" ( जंघा ) शब्द के उच्चारण करने से ही जिह्वा लज्जा के कारण बन्द हो जाती है किन्तु माता-पिता के सम्मुख युवती के गोल खिले हुए गुलाबी गाल और अधर-संयोग सुरूचि सम्मत माना जाता है। पीनस्तन द्वय को आधा खुले रखकर पुरुष का हाथ पकड़ कर नृत्य करना सुसभ्य जनानुमोदित माना जाता है। सभ्यता की बला मोल लेकर मरने का इच्छा करते हैं। जो मनुष्य को मनुष्यता प्रदान करती हो उसको शिक्षा देना या प्रचार करना सभ्यता के विरुद्ध समझा जाता है। प्राचीन काल में सभी गुरुगृह में रहकर अनेक-विध शास्त्र पढ़ने के पश्चात् अन्त में रति-शास्त्र ( कामसूत्र ) की शिक्षा प्राप्त करते थे। किन्तु आज उस शास्त्र को विलुप्त प्राय हो जाने के कारण मनुष्य स्वतः पशु से भी अधम हो गय है। किसी बात का विवेक न रखते हुए पशु की तरह स्त्री में आसक्त हो रहे हैं। इसी कारण उनकी उत्पन्न की हुई सन्तान पाशव-प्रकृति से युक्त होकर जन्म ग्रहण करती है और देश में पाप का स्रोत बढ़ाती जाती है।

विदेशी और विधर्मी राजा की कृपा से भी मानवजाति के लिए महा-मांगल्यप्रद शास्त्रों को प्रगट करने की भी कोई सुविधा नहीं है।*

इसी कारण यहाँ हमें निराश होना पड़ता है। प्रकृत साधक यदि हमारे पास आ सकें तो नली या चिलम की सहायता से उक्त क्रिया का अभ्यास किस प्रकार किया जाता है, वह हम मौखिक उपदेशद्वारा बता सकेंगे।

एक साधारण उपाय द्वारा भी अभ्यास में सहायता मिलती है। वेगपूर्वक मूत्र के निःसरण काल में गुह्य देश को आकुञ्चित करके पूरक-द्वारा वेग को रोककर मूत्र को पुनः शरीर में खींचने का अभ्यास करें। यह ठीक है कि एक ही दिन में इस कार्य में सफलता नहीं मिल सकती है। सभी शिक्षायें ही क्रमाभ्यास से सफल होती है। अतएव विशेष शीघ्रता करने से इसमें सिद्धि नहीं मिल सकती। कहे हुए अभ्यासद्वारा पारदर्शी हो जाने पर ज्ञानीव्यक्ति मूल पाठ के द्वारा भी कार्य-सम्पादन कर सकते हैं। किन्तु सावधान!—आत्मसम्पूर्ति कर आत्महत्या न करें। क्योंकि ब्रह्मगतप्राण प्रकृत निष्कामी साधक के सिवाय अन्य इस तत्त्व के अधिकारी नहीं हो सकते।

बिन्दुं करोति सर्वेषां सुखं दुःखं च संस्थितम्।
संसारिणां विमूढानां जरा-मरणशालिनाम्॥
अयं शुभकरो योगो योगिनामुत्तमोत्तमः॥

—शिवसंहिता

जरामरणशील विमूढ़ सांसारिक जीवों के लिए बिन्दु ही सुख-दुःख का कारण होता है, अतएव योगियों के लिए यह योग ही सर्वश्रेष्ठ है एवं

*कलकत्ता के एक पण्डित "कामशास्त्र" को प्रकाशन करके लाल-बाजार की पुलिसकोर्ट में अभियुक्त बन चुके हैं।

शुभकारक है। इसमें कोई सन्देह नहीं। क्योंकि इससे प्रकृति की प्रधान आसक्ति की आग बुझ जाती है। जीव जिसकी आकांक्षा से तोड़-ताड़ करता है उसकी ज्वाला कम होकर अन्त में जीव जीवन्मुक्त हो जाता है।* भगवान् सदाशिव ने कहा है कि :—

सिद्धे बिन्दौ महारत्ने किं न सिध्यति भूतले।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेद् ॥

—शिवसंहिता

जबबिन्दु धारण करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है तब पृथ्वी पर किस कार्य में सिद्धि नहीं मिल सकती ? इसी के प्रभाव से ब्रह्माण्ड में मेरी ( शिव की ) इतनी महिमा बढ़ी हुई है

अतएव पाठक ! इसे आप उपन्यासकार की कल्पना-प्रसूत प्रेम-कहानी न समझें। कई व्यक्ति "पुत्रः पिण्डप्रयोजवात्" का वाक्य पढ़कर या सुनकर यह विचार करते हैं कि पुत्र के बिना मनुष्य की मुक्ति नहीं हो सकती और यह ठीक भी है कि बिना किसी महान् कारण की बाधा के सामर्थ्य होने पर भी विवाहद्वारा प्रजा की वृद्धि न करने से भगवान् के आदेश का उल्लंघन होता है। किन्तु जो भाग्यवान् युवक पार्थिव विवाह के पूर्व ही प्रेमाधार परमेश्वर के साथ सुदृढ़ प्रणयबन्धन में आबद्ध हो जाते हैं वे यद्यपि तुच्छ पार्थिव प्रणय की उपेक्षा करके चिर-काल तक अविवाहित जीवन व्यतीत करते हैं, किन्तु इसमें उन्हें कोई दोष

---

* इस प्रणाली के अतिरिक्त वैष्णवशास्त्रों में इसका निगूढ़ साधन बताया गया है। किन्तु ब्रह्मगतप्राण प्रेमी साधक के सिवाय अन्य कोई उसका अधिकारी नहीं हो सकता। हमारे "प्रेमिकगुरु" ग्रन्थ में "शृङ्गारसाधन" "रसतत्त्व और साध्य-साधन" आदि वैष्णवशास्त्रों की गूढ़ साधनप्रणालियाँ विस्तार के साथ लिखी गई हैं।

नहीं लगता। अतएव शास्त्रकारों ने भिन्न-भिन्न अधिकारियों के लिए भिन्न-भिन्न मत प्रगट किए हैं, किन्तु उन सभी उपायों का समानभाव से प्रयोग नहीं किया जा सकता। मोक्ष परायण ब्रह्मचारियों को नरक का भय दिखलाना तो दूर शास्त्रकारों ने उल्टे उनकी देवतारूप में स्तुति की है। नारद, शुकदेव आदि अविवाहित रहकर भी त्रिलोक में पूजित और वन्दनीय हो गये हैं। इसीलिए मनु भगवान् कहते हैं कि :—

अनेकानि सहस्राणि कुमार-ब्रह्मचारिणाम्।
दिव्यं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम्॥

—मनुसंहिता, ५।१५९

हजारों अविवाहित ब्रह्मचारी सन्तानोत्पादन न करके ब्रह्मचर्यद्वारा दिव्यगति को प्राप्त हो चुके हैं। भगवान् चैतन्यदेव ने भी शिष्यों को आजीवन अविवाहित रहने का उपदेश प्रदान किया है। यथा :—

अष्टमास रहि प्रभु भट्टे* बिदाय दिल।
विवाह ना करिह बलि निषेध करिल॥

महात्मा ईसा ने भी शिष्यों को विवाह न करने का उपदेश दिया है।β जो हो किन्तु अविवाहित कुमार ब्रह्मचारी के अतिरिक्त अन्य गृहस्थ व्यक्ति भी सत्यवादी और ज्ञाननिष्ठ होने पर एवं ऋतुकाल के सिवाय अन्य समय स्त्रीगमन न करने पर ब्रह्मचारीरूप में ही परिगणित होते हैं। यथा :—

भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति वै द्विजः।

—महाभारत

---

* तपन मिश्र के पुत्र रघुनाथ भट्ट से अभिप्राय है।
β Holy Bible, St. Mathew. XIX. 10,11,12 देखिए।

# अजपा गायत्री-साधना

वर्तमान समय में हमारे देश के लोगों की जो अवस्था है, उससे अधिकांश व्यक्तियों के लिए योगाभ्यास करना निःसन्देह असम्भव है। अतएव ऐसे साधकों के लिए अजपा गायत्री का साधन लिखा जाता है। जपों में यह अजपा-जप ही श्रेष्ठ-साधना है। साधक आगे लिखी हुई विधि की सहायता से इस स्वतः उत्थित अश्रुतपूर्व आलोकमयी "हंस" ध्वनि का श्रवण करके अपार्थिव परमानन्द का उपभोग कर सकता है। अजपा-जप अर्थात् हंस-मन्त्र का जप करते हुए ही साधक के हृदय में 'सोऽहं' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ—यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

अतएव योगसाधन की अपेक्षा अजपा गायत्री जप किसी प्रकार कम नहीं है। जिनके लिए समय का अभाव रहता है और योगसाधन कठिन प्रतीत होता है; वे अजपा गायत्री का साधन करके आत्मज्ञान प्राप्त करते हुए परमानन्द का उपभोग कर सकते हैं।

मूलाधारपद्म और स्वयम्भूलिङ्ग के अधोमुख होने से चित्रिणी नाड़ी मध्यस्थिता ब्रह्मनाड़ी का मुख भी अधोभाग में ही है। दो मुँह वाली और साढ़े तीन बार लिपटी हुई कुण्डलिनीशक्ति एकमुख को इस ब्रह्मविवर में रखकर ब्रह्मद्वार को बन्द किए हुए सो रही है। और दूसरे मुखद्वारा डण्डे से पीटी हुई सर्पिणी की तरह श्वास-प्रश्वास ले रही है। यही जीव के श्वास-प्रश्वास का रूप है। श्वासवायु के निर्गमन काल में हंकार और ग्रहण काल मे सोकार का उच्चारण होता है। यथा :—

सोऽहं-हंसो पदैनैव जीवो जपति सर्वदा।

हंस के विपरीत सोऽहं का जीव निरन्तर जप करता है। इस हंस शब्द को ही अजपा गायत्री कहते हैं।

एकविंशतिसहस्रषट्शताधिकमीश्वरि ।
जपते प्रत्यहं प्राणी सान्द्रानन्दमयीं पराम् ॥
बिना जपेन देवेशि जपो भवति मन्त्रिणः ।
अजपेयं ततः प्रोक्ता भवपाशनिकृन्तनी ॥

जितनी बार श्वास-प्रश्वास होता है । हंस परममन्त्र का अजपा जप स्वयं होता रहता है एवं प्रत्येक मनुष्य दिन–रात में २१,६०० बार निश्वास को बाहर निकाल कर प्रश्वास को ग्रहण करता है । यही मनुष्य का स्वाभाविक जप है । इस अजपा गायत्रीद्वारा जीव को आत्मसम्पूर्ति लाभ होता है । "हंस" में "हं" सत्त्व के अंश को भीतर से खींचकर बाहर के जगत् में डाल देता और प्रकृति की परिपुष्टता साधन करता है, तथा "सः" बाहर के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द को भीतर खींच कर सत् के साथ सम्बन्धित कर देता है । "हं" शिव या पुरुष है और "सः" शक्ति या प्रकृति । "हंस" अर्थात् श्वास-प्रश्वास का मिलन-पुरुष और प्रकृति का मिलन है । अतएव यही आत्मसम्पूर्ति भी है । यह हंस ही जीवात्मा है । मूलाधार से हंस शब्द उत्पन्न होकर जीवाधार अनाहत कमल में ध्वनित होता है । बिना आघात के ही ध्वनि होने से इस पद्म का नाम अनाहतपद्म हुआ है । वायुद्वारा परिचालित होकर अनाहत से "हंस" नासिकाद्वारा श्वास-प्रश्वासरूप में बाहर निकलता है । अतएवं जीव के द्वारा स्वतः ही "हंस" ध्वनि उठती है । "हंस" बीज मनुष्यदेह मे जीवात्मा है । यह "हंस" ध्वनि सामान्य प्रयत्न से ही साधक को कर्णगोचर हो सकती है । इस हंस के विपरीत 'सोऽहं' ही साधक के लिए साधनारूप है । अनाहतपद्म में जीवात्मा अहोरात्र साधना या योग अथवा ईश्वरचिन्तन करती रहती है । मानव का तमसाच्छन्न विषय विमूढ़ मन उसे उपलब्ध नहीं कर सकता । सद्गुरु की

कृपा से इसे जान लेने पर फिर माला-झोला की विडम्बना नहीं करनी पड़ती।

यह अजपा-जप मोक्षदायक है। प्रतिदिन प्रातःकाल अथवा अर्धरात्रि के समय अजपा गायत्री का इस प्रकार का साधना किया जाता है :—

साधक आसन के बैठकर ब्रह्मरन्ध्र में गुरु का ध्यान करते हुए भक्ति भाव से उसे प्रमणा करे। इसके बाद अनाहतपद्म में बाणलिङ्ग में शिव के मस्तक पर निर्वात-निष्कम्प दीपकलिका आकार का "हंस" बीज-प्रतिपाद्य तेजोमय जीवात्मा का मानसनेत्र से दर्शन करके "हंस" का ध्यान करना चाहिए। वह ध्यान इस प्रकार है।—

गमागमस्थं गमनादिशून्यं चिद्रूपरूपं तिमिरान्तकारम्।
पश्यामि तं सर्वजनप्रधानं नमामि हंसं परमार्थरूपम्॥

इसके बाद अजपा जप के षडङ्ग-न्यासादि करना चाहिए।

**षडङ्गन्यास**—ॐ हं सां सूर्यात्मने तेजोवत्यै शक्तये हृदयाय स्वाहा। ॐ हं सीं सोमात्मने प्रभाशक्तये शिरसे स्वाहा। ॐ हं सूं निरंजनात्मने अविद्या-शक्तये शिखायै स्वाहा। ॐ हं सैं निराभासात्मने महाशक्त्यै कवचाय स्वाहा। ॐ हं सौं अनन्तात्मने ईक्षणशक्तये नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ हं सः अनन्तात्मने शक्तये अस्त्राय फट्।

**ऋष्यादि न्यास**—अस्य अजपा-गायत्री मन्त्रस्य हंस ऋषिः अव्यक्तगायत्रीच्छन्दः परमहंसदेवता हं बीजं सः शक्तिः। सोऽहं कीलकं परमात्मप्रीतये उच्छ्वास-निश्वासाभ्यां षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रा-जपाजपसमर्पणेन मोक्षप्राप्तये विनियोगः। शिरसि हंसऋषये नमः। मुखे। अव्यक्त गायत्री छन्दसे नमः। हृदि परमहंसाय देवतायै नमः मूलाधारे हं बीजाय नमः। पादयोः सः शक्तये नमः सर्वाङ्गे सोऽहं कील-काय नमः।

अनन्तर सहस्रार में गुरु का ध्यान, हृदय में हंस का ध्यान एवं मूलाधार में कुण्डलिनी का ध्यान करने के उपरान्त उसकी तेजोमयी मूर्त्ति का चिन्तन करना चाहिए। इसके पश्चात् इन तीनों तेजों की एकता करके उस तेज के प्रभाव से अपने को भी तेजोमय और अभिन्न कल्पना करते हुए अनाहतपद्म में जीवात्मा के प्रति लक्ष्य करके एक सौ आठ बार या इससे अधिक यथासाध्य "सोऽहं" मन्त्र का जप करे।

**जप का नियम :**—"सः" शब्द का ( उच्चारण के समय सो ) मन ही मन उच्चारण करके दोनों नासापुट से श्वास को खींचना चाहिए। उस समय यह सोचना चाहिए कि नासापुटद्वारा आकृष्ट वायु नीचे झुककर कुण्डलिनी के मुख से श्वास बहिर्गत होकर ऊपर की ओर उठता है और दोनों वायुओं को एकत्र अनाहतपद्म स्थित जीवाधार वायु-यन्त्र (यं) द्वारा आघात कर रहा है। इसके पश्चात् "हं" शब्द का उच्चारण करके श्वास परित्याग कर दे। उस समय यह सोचना चाहिए कि दोनों वायु दोनों दिशाओं में चली जा रही हैं। इस प्रकार बारम्बार करना पड़ता है। दोनों वायुओं के एकत्र सम्मिलन के समय स्वतः ही "सोऽहं" शब्द उच्चरित होता है। जब यह शब्द कर्णगोचर होने लगे तभी अजपा गायत्रीजप की सिद्धि होती है, अर्थात् उभय वायु उभय दिशाओं से आकर वायुयन्त्र में प्रविष्ट होते समय "सो" और बाहर निकलते समय "हं" ध्वनित होता है। और इसके विपरीत क्रम से जप करने से ही "हंस" जप होता है।* यह जप करते-करते जब स्वतः उत्थित अजपा गायत्री श्रुतिगोचर होगी तभी एक चित्त होकर इस नाद ध्वनि को सुनते-सुनते साधक के हृदय में सोऽहं ( मैं ही ब्रह्म हूँ ) का ज्ञान उत्पन्न हो जायगा।

---

* जो लोग इस प्रकार जप करने में असमर्थ हैं, वे साधारण जप की तरह हंसः सोऽहम् मन्त्र एक सौ आठ बार जप सकते हैं।

उपर्युक्त प्रकार से यथासाध्य जप करने के पश्चात् जपसमर्पण करना चाहिए। विधिपूर्वक जपसमर्पण न करने से साधक का जप से उत्पन्न तेज नष्ट हो जाता है।

**अजपा जप का समर्पण**—मूलाधारमण्डपे स्वर्णवर्णचतुर्दलपद्मे द्रुतसौवर्णवर्ण—'वादिसान्त'चतुर्वर्णान्विते गायत्रीसहिताय रक्तवर्णाय गणनाथाय षट्शतसंख्यमजपजमहं समर्पयामि नमः। स्वाधिष्ठानमण्डपे विद्रुमनिभे विद्युत्पुञ्ज-प्रभावे 'बादिलान्त'षड्वर्णान्विते षड्दलपद्मे सावित्रीसहिताय ब्रह्मणे अजपामन्त्रं षट्सहस्रमहं समर्पयामि नमः। मणिपुरमण्डपे सुनीलप्रभे 'महानीलप्रभ 'डादिफान्त'दशवर्णविभूषिते दशदलपद्मे लक्ष्मीसहिताय विष्णवे षट्सहस्रमजपाजपमहं समर्पयामि नमः। अनाहतमण्डपे तरुणरविनिभे महावह्निकर्णिकाभ—'कादिठान्त'-द्वादशदलपद्मे गौरीसहिताय शिवाय षट्सहस्रमजपाजपमहं समर्पयामि नमः। विशुद्धमण्डपे धूमवर्णरक्तवर्ण—'अकारादि-अःकारान्तः' षोडशस्वरान्विते षोडशदलपद्मे प्राणशक्तिसहिताय जीवात्मने सहस्रसंख्यामजपाजपमहं समर्पयामि नमः। आज्ञामण्डपे विद्युत्पुंजनिभे शुभ्र'हक्ष' वर्णान्विते द्विदलपद्मे मायासहितपरमात्मने एकसहस्रं अजपाजपमहं समर्पयामि नमः॥ ब्रह्मरन्ध्रमण्डपे कर्पूराभे नानावर्णोज्ज्वलदलविभूषिते नानावर्णसमुयदयोज्ज्वले सहस्रारे नादविन्दूपरिस्थितं-ब्रह्मरूपसशक्तिकगुरवे एकसहस्रसंख्यामजपाजपमहं समर्पयामि नमः॥

इसके पश्चात् "षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रजपेन परं देवतारूपः श्रीपरमेश्वरः प्रीयताम्" इस मन्त्र को बोलते हुए मानसिक संकल्प कर अगले दिन के लिए पुनः हंस का ध्यान करना चाहिए। वह ध्यान इस प्रकार है। :—

आराधयामि मणिसन्निभमात्मलिङ्ग

मायापुरी-हृदयपङ्कजसन्निविष्टम् ॥

श्रद्धानदीविमलचित्तजलावगाहं
नित्यं समाधिकुसुमैरपुनर्भवाय ॥

अजपा-गायत्री दो प्रकार की है। व्यक्ता और गुप्ता। उपर्युक्त प्रकार का जप व्यक्ता है, तथा भ्रामरी-कुम्भक द्वारा निश्वास को रोध करते हुए अन्तर में जो जप किया जाता है, उसका नाम गुप्ता है। * जो गुप्ता है वह अतिगुप्त होने के कारण उसे गुप्त रखना ही अच्छा है। अस्तु। इन लिखित उपायों का अवलम्बन करके प्रतिदिन श्रद्धाभक्ति-सहित इस क्रिया का अनुष्ठान करने से शीघ्र ही साधक तत्त्वज्ञान लाभ करके कृत-कृतार्थ एवं अपार्थिव परमानन्द को प्राप्त करेगा।

अजपा-गायत्री सिद्ध करके, उसके साथ गुरु के दिए हुए इष्ट मन्त्र अथवा अन्य किसी मन्त्र का जप करने से वह भी शीघ्र ही चैतन्य होकर साधक का मन्त्र सिद्ध हो जाता है। न्यासादि न करके भी साधक दिन-रात सांसारिक कार्य करते हुए भी हंस के ध्यान और सोऽहं ज्ञान में निमग्न हो सकता है।*

जीवात्मा के देहत्याग से मुहूर्त्त भर पहले तक इस अजपा परम-मन्त्र का जप किया जा सकता है। अतएव देहत्याग के समय ज्ञानपूर्वक अन्तिम "हं" के साथ देहत्याग करने पर शिवरूप में ब्रह्मलोक प्राप्त होता है।

---

* यह प्रणाली हमारे "योगीगुरु" नामक ग्रन्थ में लिखी गई है। उस पुस्तक के "नाद-साधन" शीर्षक अध्याय में देखिए।

* इसी प्रकार हमारे 'तान्त्रिक गुरु" नामक ग्रन्थ में अजपा के साथ इष्ट मन्त्र जप की प्रणाली लिखी गयी है।

# ब्रह्मानन्द-रस साधना

संसार के यावन्मात्र धर्मसम्प्रदायों में जितने प्रकार की साधन-भजन की विधियाँ प्रचलित हैं, उन सभी का मूल उद्देश्य केवल चित्त-वृत्ति का निरोध कर आत्मज्ञान प्राप्त करना ही है। इन्द्रियों के द्वारा वहिर्गत भिन्न-भिन्न विषयों में फँसी हुई एवं अनेक स्थानों में व्याप्त चितवृत्ति को यदि प्रयत्नद्वारा मार्गावरोध करते हुए एकाग्र किया जाय अथवा क्रमसंकोच प्रणालीद्वारा पुञ्जीकृत किया जाय तो उसके सम्मुख उपस्थित प्रत्येक वस्तु का विषय स्वयमेव प्रकाशित हो जाता है। जिस प्रकार विस्तृत, तरल, या विरलावयत्र सूर्यकिरण, जिसे कि हम प्रभा या प्रकाश कहते हैं—वह किसी को भी दग्ध नहीं करता, प्रत्युत् उसमें उत्ताप का (गर्मी का) अभाव ही प्रतीत होता है, किन्तु युक्ति पूर्वक और उपायों द्वारा उन तरलरूप प्रकाश रश्मियों को केन्द्रीकृत या एकत्रित (पुञ्जीकृत) किया जा सके तो वही सूर्यप्रकाश समूह का पुञ्ज स्थान में अथवा केन्द्रभवन में प्रलयाग्नि की तरह दाहिका शक्ति उत्पन्न कर देता है। आतशी शीशे के नीचे रूई अथवा सूखा हुआ घास रखने से उसमें आग लग जाती है। किन्तु अनेक बार उनमें देरी से आग लगने का कारण फोकस (Focus) का ठीक न होना ही हो सकता है। इसीलिए उस शीशे को धीरे-धीरे सूर्य की ओर लेकर जब ठीक फोकस को नीचे की रूई या घास पर गिराया जाता है तो तत्काल आग जल उठती है। इस बात को सम्भवतः अनेक व्यक्ति जानते हैं कि पत्थर या शीशे की किसी शक्ति अथवा सूर्य किरण की किसी क्षमता के द्वारा एकाएक आग जल उठती है। अर्थात् इधर-उधर विखरी हुई सहस्रमुखी विरलावयव सूर्य-किरणें आतशी शीशे की शक्ति से एक केन्द्र में एकत्र हो जाने पर उस केन्द्र स्थान को अग्नि का स्वरूप प्राप्त हो

जाता है। अतएव केन्द्रस्थान-स्थित बाह्य वस्तुमात्र को वह जला सकता है। ठीक इसी तरह इधर-उधर भटकती हुई सहस्रमुखी एक केन्द्र में स्थिर करने से भी समस्त साधनाओं में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। आर्यऋषिमुनियों ने आतशीपत्थरद्वारा सूर्यकिरण को एकत्र कर या केन्द्रीकृत करके उसके द्वारा तृणपुञ्ज को जलते देखकर ही सर्वव्यापी चित्तवृत्ति को एक केन्द्र में एकाग्र करके उसके द्वारा योग के सूक्ष्म अध्यात्मविज्ञान, व्यवधान-विशिष्ट-विज्ञान और अतीतानुगत विज्ञान का आविष्कार कर के अपनी उत्कृष्ट क्षमता का परिचय दिया है। यथा :—

यथाऽर्करश्मिसंयोगादर्ककान्तो हुताशनम् ।
आविष्करोति तूलेषु दृष्टान्तः स तु योगिनः ॥

सूर्यकिरणों के संयोग से सूर्यकान्तमणि रूई में अग्नि प्रगट करती है, इसी पर से योगियों ने सर्वज्ञत्व शिक्षा का प्रचार किया है।*

---

* हमारे पूर्वपुरुषों की ये सब महान् कीर्ति गाथाएँ तथा उनके अद्भुत आविष्कार का आजकाल के अनेक व्यक्तियों को पता नहीं है। पाश्चात्य व्यक्तियों ने रेशम के धागे में बिजली का आदेश देखकर तड़ित् विज्ञान का आविष्कार किया। चूल्हे पर चढ़ी हुई पतीली के मुँह पर रखा हुआ ढक्कन भाप के कारण उठता हुआ देखकर उन्होंने स्टीम-वर्क की सृष्टि की है और पके फल को नीचे गिरते हुए देखकर उन्हें मध्य (गुरुत्व) आकर्षण का पता लगा। पाश्चात्य शिक्षा से दीक्षित युवक अंग्रेजों के इन अद्भुत आविष्कारों को देखकर शतमुख से उनका गुणगान करते हैं। परम्परागत संस्कारों के अनुयायी अशिक्षित हिन्दू-परिवार में जन्म लेने के कारण अपने भाग्य को सौ बार धिक्कारते हैं। अर्थात् घर का हाल न जानते हुए ही वे आक्षेप करने में ही समय बिताते रहते हैं। किन्तु बाह्य विज्ञान तो दूर की बात,

यथार्थ में चित्त की एगाग्रता सिद्ध कर लेने से ही मानव जीवन की सार्थकता हो सकती है और उसी दशा में साधक के लिए समस्त सिद्धियाँ करतलगत हो जाती है। घर में वैठकर एकाग्र चित्त से अविच्छिन्न तैलधारावत् अपने किसी प्रवासी बन्धु का स्मरण करने से वह कितनी ही दूर क्यों न हो क्षणमात्र में ही उसकी मूर्ति दृष्टिगोचर होने लगती है। इसी प्रकार देवी, देवता और देवलोक का भी दर्शन किया जा सकता है। जगत् के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द के साथ अविच्छिन्न भाव में शरीरस्थ रूप-रसादि को मिलाने से अनन्त की प्रतीति होने लगती है। पाश्चात्य नर-नारी भी साधना में चित्त की एकाग्रताशक्ति (Will force) लाभ कर संसार के नर-नारियों को मुग्ध और चकित कर रहे हैं। मेडम ब्लावाटास्की, कर्नल आलकाट् प्रभृति व्यक्तियों ने इस देश में आकर कितने-कितने अद्भुत कार्यों द्वारा हमें मुग्ध किया है इसे अनेक व्यक्ति अपनी आखों से प्रत्यक्ष देख चुके हैं।

चित्त की एकाग्रता साधन करना ही योग का मुख्य उद्देश्य है। किसी भी उपाय से चित्त की एकाग्रता साध लेने पर मानव जीवन की पूर्णता हो सकती है। जो लोग भाग्य-क्रम से पूर्वजन्म के सुकर्मों के वल पर चित्त की एकाग्रता सम्पादन करने के लिए शक्ति-मान् होते हैं, उनके लिए प्राण संरोधरूप कठोर योगाभ्यास की कोई आवश्यकता नहीं होती। वे केवल आत्मज्ञान के लिए ब्रह्मचिन्तन

---

आर्यऋषियों ने कितने ही नये और अज्ञात सूक्ष्म विज्ञानों का आविष्कार करके अपनी अपूर्व शक्ति का परिचय दिया है। हम जितने परिमाण में उन विषयों से परिचित होते जाते हैं, उतना ही उन पूर्वजों की महिमा के ज्ञान के आनन्द के कारण हमारा हृदय आनन्दमय हो जाता है।

द्वारा ज्ञान अर्जन करके प्रत्यक्ष अनुभवजन्य ब्रह्मानन्द रस का साधन कर सकते हैं। यथा :—

साधक अपने (जीवात्मा) को शक्ति (राधा या दुर्गा) एवं परमात्मा को पुरुष (श्रीकृष्ण या सदाशिव) के रूप में भावना करके स्त्री-पुरुषवत् जीवात्मा के साथ परमात्मा को शृङ्गाररसपूर्ण विहार होने की कल्पना करे और इस प्रकार के सम्भोग से उत्पन्न परमानन्द-रस से मग्न होकर परब्रह्म के साथ स्वयं अभेदरूप में परम प्रेम में निमग्न होने का अनुभव करे। उस समय इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए। यथा :—

अहमात्मा परं ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तकम्।
विज्ञानमानन्दो ब्रह्म सत्तत्त्वमसि केवलम्॥
अहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्म अशरीरमनिन्द्रियम्॥
अहं मनोबुद्धि-मरुदहङ्कारादिवर्जितम्।
जाग्रतस्वप्न-सुषुप्त्यादि मुक्तं ज्योतिस्तदीयकम्।
नित्यं शुद्धं बुद्धियुक्तं सत्यमानन्दमद्वयम्।
योऽसावादित्यपुरुषः सोऽसावहमखंड ॐ।
इति ध्यायन् विमुच्येत् ब्राह्मणो भव-बन्धनात्।

इस प्रकार चिन्तन करते हुए साधक समाधिस्थ हो जाता है। समाधि भङ्ग होने के पश्चात् फिर उसको अन्तर्बाह्य कहीं भी भ्रान्ति का अनुभव नहीं होता; और तभी ब्रह्मानन्द-रस का उपभोग हो सकता है। इस साधना के द्वारा ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ व्यक्ति भव-बन्धन से मुक्ति लाभ कर सकता है। जिनका चित्त स्थिर और शान्त नहीं है, वे प्रथमतः पूर्वोक्त किसी योग का अभ्यास करके ब्रह्मानन्द-रस का साधन करें।

# विभूति-साधना

योगसिद्ध होने पर साधक नानाविध विभूतियाँ प्राप्त करता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि "जितेन्द्रिय, स्थिर चित्त, जितप्राण, मुझ (परमात्मा) में चित्त को एकाग्र करने वाले योगी के लिए यावन्मात्र सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं। यथा :—

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥

—भा० ११।१५।१

हम कल्पना की सहायता से जिस-जिस वस्तु के अस्तित्व की धारणा करते हैं, योग के द्वारा वे सब प्राप्त की जा सकती हैं। सरल-भाव से विवेचन किये जाने पर यह बात असम्भव प्रतीत होती है। किन्तु जबकि मानवात्मा परमात्मा का अंश है तो उसमें परमात्मा के गुण और शक्ति भी होनी चाहिए और उस दशा में उसके द्वारा उपर्युक्त सभी कार्य अवश्य हो सकते हैं। तब इन दोनों का तारतम्य कैसे हो सकता है? स्थान और अवस्थाभेद से ही यह तारतम्य उत्पन्न होता है; मेघ का जल, सरोवर का जल, और नदी या समुद्र का जल सभी की संज्ञा जल होते हुए भी प्रत्येक की एक न एक विशेषता अवश्य होती है। उसी प्रकार परमात्मा और मानवात्मा मूलतः एक होने पर भी स्थान विशेष में स्थापित होने से भिन्न-भिन्न गुणों को प्राप्त हो गये हैं। मानव शरीर में आबद्ध होने से आत्मा का जो एकभाव होता है, वही मानव-शरीर से बाहर होने पर बदल कर दूसरा हो जाता है। जबकि यह प्रकृत अवस्था है, तब मानवात्मा को किसी प्रकार मानव शरीर से विच्छिन्न कर सकने पर वह यदि परमात्मशक्ति को प्राप्त कर ले तो क्या आश्चर्य? योग का मुख्य उद्देश्य मानवात्मा को मानव शरीर से विच्छिन्न करके परमात्मा के

साथ संयुक्त कर देना है और जबकि योगबल से यह प्रयोग सिद्ध हो जाता है। तब मानव के लिए ईश्वरीय शक्तियों का प्राप्त कर सकना किसी प्रकार भी असम्भव नहीं कहा जा सकता। अतः एकवार मानवात्मा को मानव शरीर से किसी प्रकार विच्छिन्न कर सकने पर मानवात्मा ठीक परमात्मा की अवस्था को प्राप्त हो सकता है और यही योग का उद्देश्य भी है।

शरीर में पाँच इन्द्रियाँ प्रधान हैं। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा। इन पाँच इन्द्रियों की सहायता से हम पृथ्वी के समस्त पदार्थों की अनुभूति लाभ करते हैं :—किन्तु इसीके साथ-साथ हम यह भी जानते हैं कि बिना नेत्रों के भी देखा जा सकता है और बिना कान के भी सुना जा सकता है। इसी प्रकार बिना जिह्वा के स्वाद लिया जा सकता है। और बिना त्वचा के स्पर्श का अनुभव भी किया जा सकता है। स्वप्न में पञ्च-इन्द्रियों का अस्तित्व न रहने पर भी उनका कार्य होते हुए भी देखने में आता है। इससे स्पष्ट प्रगट होता है कि शरीर के न रहने पर भी आत्मा का अस्तित्व अवश्य रहता है। स्वप्नद्वारा हम समय-समय पर और भी एक विषय का अनुभव करते हैं, वह यह कि स्वप्नावस्था में मनुष्य को दूरदर्शिता और भविष्य का ज्ञान हो जाता है। भविष्यत् में जो घटना होने वाली है, वह हमें स्वप्नावस्था में बहुत पहले मालूम हो जाती है अथवा दूर भविष्यत् में जो बात होनी चाहिए वह बहुत पहले होती हुई दिखाई देती है।*

---

* बाल्यावस्था में विद्यासागर महाशय की "बोधोदय" नामक पुस्तक में पढ़ा था कि "स्वप्न केवल निर्मूल कल्पना मात्र होते हैं"; अतः तब तक स्वप्नदर्शी व्यक्ति को यही बात समझा कर हम अपनी विज्ञता का परिचय देते रहे। क्योंकि स्कूल की पाठ्य पुस्तकों में लिखी हुई बात मिथ्या न होने का विश्वास रहने से हृदय में अभ्रान्त

इससे यह अनुभव किया जाता है कि शरीर से आत्मा के यत्-किञ्चित् विच्छिन्न होने से उसकी शक्ति बढ़ जाती है। अतएव योग के बल से मानवात्मा को पूर्णरूप में शरीर से अलग कर सकने पर सभी प्रकार की ईश्वरीय शक्ति प्राप्त कर सकना किसी भी प्रकार असंभव नहीं कहा जा सकता।

योग में विभूतिलाभ, योग की सम्पूर्ण साधनाओं के उपरान्त होता हो यह बात नहीं है वरन् योगप्रक्रिया के साथ-साथ एक-एक के क्रम से कितनी ही प्रकार की क्षमता प्राप्त होती है, यहाँ तक कि प्रथम साधना के साथ ही कई क्षमतायें तो अपने आप प्राप्त हो जाती हैं। अन्य साधना से भी और कई प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। प्राणायाम की साधना से मानव असीम-शक्तिसम्पन्न हो जाता है। योग का उद्देश्य मुक्ति अवश्य है, किन्तु उस मुक्ति के प्राप्त होने से बहुत पहले ही विभूतियाँ प्राप्त हो जाती हैं और इन शक्तियों की प्राप्ति इतनी मनोरम लाभप्रद एवं सुखदायक प्रतीत होती हैं कि अनेक योगी इन सब क्षमता एवं शक्तियों को प्राप्त कर योग के मुख्य उद्देश्य मुक्तिलाभ को बिल्कुल भूल जाते हैं और इन्हीं सब शक्तियों के

---

ज्ञान दृढ़ हो गया था। किन्तु कार्य-कारण के प्रत्यक्षफल से आज उस वाक्य पर जरा भी श्रद्धा नहीं रह गई है; साथ ही यह अपूर्व विश्वास भी उड़ गया है। क्योंकि हमारे भाग्य से अनेक बार स्वप्न का फल प्रत्यक्ष दिखाई दिया है और अपनी आँखों से अनेक व्यक्तियों की स्वप्न में औषधि प्राप्त कर रोगमुक्त होते हुए भी देखा है। खुलना जिला निवासी एक व्यक्ति ने स्वप्न देखकर दो मील दूर से घर आकर सेंध के मुँह पर ही चोर को पकड़ लिया था। अतएव दुग्धपोष्यशिशु पाठ्यग्रन्थों में फिर किसी प्रकार की आस्था नहीं रह गई है।

व्यवहार के लिए व्यग्र रहने लगते हैं। इसी कारण वे योगभ्रष्ट हो जाते हैं।

कोई एक शक्ति को प्राप्त करके तो कोई दो या इससे अधिक शक्तियाँ प्राप्त कर योगभ्रष्ट हो जाता है और फिर उसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। ये लोग संसार में उन योगलब्ध दो एक शक्तियों का व्यवहार करके बाजीगर की तरह लोगों को आश्चर्यान्वित और मुग्ध करते हुए अर्थोपार्जन करने लगते हैं। अतएव मुमुक्षु व्यक्ति को विभूतियों की प्राप्ति ही योग-फल की पराकाष्ठा या चरमोन्नति नहीं समझ लेनी चाहिए। क्योंकि योग का अन्तिम उद्देश्य है मुक्ति; और विभूतिलाभ से भ्रम में पड़कर साधक मोक्ष या कैवल्यलाभ से वञ्चित हो जाता है। आसक्तिशून्य हो जाने से वह फिर आसक्ति की आग में दग्ध नहीं होने पाता।

अतएव जो शक्तिलाभ करके प्रतिपत्ति के विस्तार की इच्छा करता हो, उसका काम प्राणायाम तक साधना करने से ही चल सकता है। प्राणायाम की साधना करके संयम का अभ्यास करने से ही उसे अनेक शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं। और इसके बाद धारणा, ध्यान, एवं समाधि की साधना से मुक्तिलाभ हो जाता है। अतएव मुक्ति-लाभ का उद्देश्य न रहने पर भी योग में विभूतिलाभ हो सकता है।

योगसाधना द्वारा साधक अन्तर और बाहर जगत् के समस्त तत्त्वों को जान सकता है, साथ ही समस्त रसों का आस्वादन भी कर सकता है। बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् पर असाधारण प्रभुत्व स्थापित करने की अलौकिक क्षमता प्राप्त कर सकता है। और उस क्षमता के बल से योग की अनेक प्रकार की अद्भुत एवं प्रभावनीय शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। वाक्सिद्धि, इच्छानुसार गगनागमन, दूरदृष्टि, दूरश्रवण, सूक्ष्म-दर्शन, परकाया-प्रवेश, अन्तर्ध्यान, अन्तर्या-

मित्व, शून्यपथ में अवरोध एवं अनायास विचरण, कायव्यूह कायव्युहादि धारण, अणिमा आदि अष्टसिद्धियों की प्राप्ति, देवत्वलाभ, और मृत्युज्ञान आदि सुलभ हो जाता है।*

योग के आरम्भ से लेकर पूर्णावस्था तक पहुँचने का समय चार भागों में बिभक्त किया जाता है। उन चारों के नाम हैं। प्रथम-कल्पी, मधुमती, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्त भावनीय।

योग के आरम्भ करने के पश्चात् जब विशेषसिद्धि लाभ न हो, तथा संयमरत रहने पर भी जब विशेषरूप से कार्य सम्पन्न न हो— तो वह अवस्था प्रथम-कल्पी कहलाती है। उस समय योगी संयम की अवस्था में विशेष किसी अलौकिक पदार्थ के दर्शन करने की क्षमता प्राप्त नहीं कर सकता, केवल अत्यल्प आलोक अथवा सामान्य ज्ञान के विकास की उपलब्धि मात्र कर सकता है।

इस अवस्था को पार करने के पश्चात् जो अवस्था प्राप्त होती है, उसका नाम मधुमती है। मधुमती अवस्था प्राप्त होने पर योगी व्यक्ति इन्द्रियों को अपने वश में करके सभी प्रकार का अधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञता लाभ कर सकता है। इस दूसरी अवस्था के अतिक्रमण करने पर जो अवस्था प्राप्त होती है, उसका नाम प्रज्ञा-ज्योतिः है। इस अवस्था में देवता और सिद्ध पुरुषों का साक्षात्कार होता है।

चतुर्थ अवस्था का नाम अतिक्रान्तभावनीय है। इस अवस्था में

---

* अनूर्मिमत्वं देहेऽस्मिन् दूरदर्शनम्। मनोजवः कामरूपं च परकायप्रवेशनम्॥ स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सह क्रीडानुदर्शनम्। यथा संकल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहता गतिः॥ त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता। अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः। एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः :—भागवत, ११।१५।६-९

योगिगण अत्यधिक विवेक-ज्ञान-सम्पन्न हो जाते हैं और विवेक-ज्ञान के अवान्तर फल के प्रति विरक्त और जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

केवल विभूति-लाभ या अमानुषी शक्ति प्राप्त करना ही जिनका उद्देश्य होता है, उनके लिए संयम ही प्रधान अवलम्बन हो सकता है। वह संयम क्या है? धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का एकत्र प्रयोग मात्र ही तो। पहले धारण, उसके बाद ध्यान और फिर समाधि सिद्ध होती है। जब मन वस्तु के बाह्यभाग को परित्याग करके उसके आभ्यन्तरिक भाग के साथ अपने को एकीभूत करने योग्य अवस्था में पहुँच जाता है, जब दीर्घ अभ्यास के द्वारा मन केवल उसी धारणा को दृढ़ करके मुहूर्त मात्र में उस अवस्था को पहुँचने की शक्ति प्राप्त कर लेता है—उसी दशा का नाम संयम है। संयम के द्वारा साधक के लिए कुछ भी असाध्य नहीं रह जाता। सामान्य शक्ति से लेकर महान् शक्ति की साधना पर्यन्त सभी दशायें इस संयम के अन्तर्गत है। अतएव वह सामान्य से महत् और क्षुद्र से बृहत् और स्थूल से सूक्ष्म का अभ्यास करता है। संयमद्वारा विषय का अज्ञानान्धकार दूर होकर प्रज्ञालोक प्रकाशित होता है। संयम-द्वारा जो जो विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। उनका अभ्यास पातञ्जलदर्शन से यहाँ दिया गया है।

अष्टसिद्धि :—अनाहतपद्म में संयम करने अर्थात् इस पद्म का मानस नेत्रों द्वारा दर्शन करके ध्यान करने से अणिमादि अष्ट-सिद्धियाँ अथवा अष्टैश्वर्य प्राप्त हो सकते हैं। यथा :—

अणिमा, महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता॥
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति।
एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टौ च परिकीर्तिताः॥

—भागवत ११।१५।४-५

अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राकाम्य, प्राप्ति, ईशित्व, वशित्व, यत्कामावसायित्व, ये आठ प्रकार की सिद्धियां ही अष्टैश्वर्य हैं।

अणिमा :—का अर्थ है बृहत् शरीर को अणुवत् बनाने की शक्ति; महिमा :—शरीर या किसी भी अङ्ग को इच्छानुसार बृहत् करने की शक्ति; लघिमा :—शरीर को इच्छानुसार लघु या हल्का करने की शक्ति; प्राप्ति :—जगत् के समस्त पदार्थों को प्राप्त करने की क्षमता; प्राकाम्य :—दृश्यादृश्य समस्त पदार्थों के भोग और दर्शनादि करने की शक्ति; ईशित्व :—सभी पर प्रभुत्व स्थापित करने की क्षमता; वशित्व :—सबको अपने वश में रखने की शक्ति; यत् कामावसायित्व :—सभी प्रकार की मनोरथसिद्धि और सत्य संकल्प अर्थात् जैसा संकल्प वैसा कार्य करने की शक्ति है।

दैहिक, ऐन्द्रियिक और मानसिक इन तीन प्रकार से अष्ट ऐश्वर्य प्राप्त किये जाते हैं। संयम का अवलम्बन करने से भूतजयी बन जाने पर अणिमा, महिमा, लघिमा और प्राप्ति की जा सकती हैं। इसी प्रकार संयमद्वारा भूतों की स्वरूपावस्था का साक्षात्कार कर सकने से प्राकाम्य की प्राप्ति होती है। भूतसमूह की सूक्ष्म अवस्था प्रत्यक्ष गोचर होने से वशित्व लाभ होता है। भूतग्राम में अन्वयरूप से परि-दृष्ट होने से ईशित्व एवं अर्थवत्त्व, रूपजित होने से यत्कामावसायित्व लाभ हो सकता है। ईश्वर में ये आठों महा-ऐश्वर्य स्वतःसिद्ध भाव से अवस्थित हैं और साधनाबल से मनुष्य भी इन सभी को प्राप्त कर सकता है। एक व्यक्ति दो या एक अथवा इससे अधिक ऐश्वर्य प्राप्त कर सकता है। किन्तु इन सबके प्राप्त कर लेने पर तो वह भगवान् के ही तुल्य हो जाता है। इसी कारण शास्त्रों में भगवान् की संज्ञा इस रूप में लिखी गई है :—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चापि षण्णां भग इतीङ्गना।

समग्र ऐश्वर्य, समस्य वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, और वैराग्य इन छः की संज्ञा "भग" है। जिसमें ये षड्विध पदार्थ पूर्णरूप एवं अप्रतिबन्धरूप से नित्य वर्तमान हैं, वही भगवान् हैं।

किन्तु योगिगण इन ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करते, वे तो अपने आप सुलभ हो जाते हैं। स्वरशास्त्र के मतानुसार जो निःश्वास की बारह अंगुल स्वाभाविक बहिर्गति के आठ अंगुल घटाकर चार अंगुल कर लेता है, उसी को ये अष्ट महा-ऐश्वर्य प्राप्त हो सकते हैं। यथा :—

अष्टमे सिद्धयश्चाष्टौ नवमे निधयो नव।*

—पवनविजय-स्वरोदय

# अन्यान्य विभूति-सिद्धि

संस्कार साक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्—संयम के द्वारा धर्माधर्म या पाप-पुण्य संस्कारों के साक्षात् से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। अर्थात् चित्त-संस्कार के प्रति संयम करने से पूर्वाचरित कर्म और पूर्व-जन्म अवगत होता है। कायरूपसंयमाद् ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशसंयोगेऽन्तर्धानम्।—दर्शन या देखने की क्रिया में संयम करने से चाक्षुष शक्ति स्तम्भित करके अन्तर्निहित की जा सकती है। यहाँ प्रश्न होता है कि—दर्शन किसे कहते हैं?—पदार्थों के साथ दर्शनेन्द्रिय संयोग ही दर्शन है। अतएव चक्षु और दृश्य पदार्थों के मध्य दृष्टि स्तम्भनरूप संयम प्रयोग से सबके समक्ष अदृश्य हो सकते हैं। गत, प्रारब्ध, और सञ्चित संस्कार-द्वारा संयम करने से भूत, भविष्यत् प्रभृति सभी बातों का ज्ञान हो सकता है।

बलेषु हस्ति-बलादीनि ।—सिंह, व्याघ्र, हस्ति प्रभृति बलवान् जीवों के बल में संयम प्रयोग करने से उनके समान साधक भी बलशाली हो सकता है। भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ।—सूर्य में संयम प्रयोग करने से तीनों जगत् का ज्ञान हो सकता है। नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।—नाभिचक्र में संयम का प्रयोग करने से समग्र शरीर का ज्ञान होता हैं। मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ।—ब्रह्मरन्ध्र के मार्ग से विमल आलोक में संयम का प्रयोग करने से सिद्ध-पुरुष का दर्शन होता है। बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ।—चित्त और शरीर के बन्धन का कारण जानकर उन्हें शिथिल करने से परकाया (पर शरीर) में प्रवेश किया जा सकता है। शब्दार्थ प्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत् प्रविभागसंयमात् सर्वभूत-रूपज्ञानम् ।—शब्द, अर्थ और प्रत्यय के परस्पर आरोप के कारण एक रूप संकरावस्था हो जाती है, उनके प्रभेदों पर संयम करने से समस्त भूतों का शब्द-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। उदानजयाज्जल-पंककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च। उदान वायु पर विजय प्राप्त कर लेने से जल, पङ्क (कीचड़) और कण्टक आदि में मनुष्य निमग्न या फँस नहीं सकता। प्रतिभाद्वा सर्वम् ।—प्रतिभज्ञान प्राप्त कर लेने पर सर्वज्ञता प्राप्त हो सकती है। समानजयात् प्रज्वलनम् ।—समान-वायु पर विजय प्राप्त करने से ब्रह्मतेज प्रगट होता है। हृदये चित्तसंवित् ।—हृदय में चित्त का संयम करने से मनोविषयक ज्ञान होता है।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोतम् ।—कान (कर्ण) और आकाश दोनों का सम्बन्ध ज्ञात होने के पश्चात् उन पर संयम का प्रयोग करने से दिव्य श्रोत्र (श्रवणशक्ति) प्राप्त हो सकती है। कण्ठकूपे क्षुत्पिपास निवृत्तिः—कण्ठकूप में संयम करने से क्षुधा और

—क्षण और उसके क्रम से संयमी होने पर वस्तुविवेक का ज्ञान होता हैं। ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः।—इंद्रिय समूह का ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व इन पाँच प्रकार का रूप या ऐश्वर्य है। संयमद्वारा इन सब रूपों की जय करने अर्थात् प्रत्यक्ष करने से इन्द्रिय जय हो सकता है। प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।—दूसरे के शरीर में जो सब चिह्न हैं उनका दर्शन करके उन पर संयम का प्रयोग करने से उस व्यक्ति के मन का भाव जान सकते हैं। कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्।—शरीर और आकाश इन दोनों के सम्बन्ध को जानकर उस पर संयम करने से आकाश में गमनागमन किया जा सकता है।

कूर्मनाड्याम् स्थैर्यम्।—कूर्मनाड़ी का संयम करने से शरीर की स्थिरता होती है। सोपक्रमं निरूपक्रमञ्च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा।—सोपक्रम (प्रारब्ध कर्म) एवं निरूपक्रम (सञ्चित क्रम) इन दोनों प्रकार के कर्मों पर अथवा अरिष्ट नामक लक्षण समूह पर संयम प्रयोग करने से देहत्याग का समय ज्ञान हो सकता है। ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।—ध्रुवनामक नक्षत्र में संयम का प्रयोग करने से नक्षत्र समूह के स्वरूप और गति का ज्ञान हो सकता है। सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति।—सत्त्व और पुरुष को जब समभाव से शुद्धि हो जाती है, तभी कैवल्य लाभ हो सकता है। जब आत्मा अवगत हो जाती है और इस परिदृश्यमान विश्व के क्षुद्रतम अणु से लेकर देवतागण पर्यन्त किसी पर भी उसे आधार रखने की आवश्यकता नहीं रहती तब जो अवस्था प्राप्त होती है, उसी को कैवल्य या पूर्णता कहा जा सकता है। उपर्युक्त विभूतियाँ प्राप्त करने के अतिरिक्त योगीकायसम्पत् भी प्राप्त कर सकता है। वह इस प्रकार :—रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्।

—रूप, लावण्य, बल, और वज्र तुल्य दृढ़शरीर एवं वेगशीलता प्रभृति शारीरिक गुण विशेष का नाम कायसम्पत् है। ब्रह्मज्ञानहीन अमुक्त-व्यक्तिगण योगाभ्यासद्वारा इन सभी विभूतियों को प्राप्त कर सकता है। यथा :—

यस्तु चाभावितात्मादि सिद्धिजालानि वाञ्छति।
स सिद्धिसाधकैर्द्रव्यैस्तानि साधयति क्रमात्।
—योगवाशिष्ठ

जो अज्ञान व्यक्ति परमात्मा की भावना न करते हुए भी सिद्धि की इच्छा करता है, वह साधक की साधनाद्वारा विभूतियों को प्राप्त कर सकता है।

किन्तु जो व्यक्ति आत्मज्ञ है, उन्हें ये सब अविद्याएँ प्राप्ति नहीं होती। यथा :—

आत्मनात्मनि संतृप्ते नाविद्यामनुधावति।
—यो॰ वा॰

आत्मज्ञ व्यक्ति मन के द्वारा निरन्तर परमात्मा में तृप्त होता रहता है, वह अविद्या का अनुसरण कभी नहीं करेगा। अथवा इन सभी के द्वारा बुजुर्गी (वयस्कता) दिखलाकर नाम प्रगट करने की चेष्टा या इच्छा करना भी उचित नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार की क्षमता प्राप्त कर लेने से भी उन्हें नगण्य समझकर त्याग देने से मनुष्य साधनापथ पर अग्रसर हो सकता है।

# जीवन्मुक्त अवस्था

योग, याग, तप, जप सब कुछ केवल ब्रह्मज्ञान साधन के लिए ही है। ज्ञान का उदय होने पर भ्रमरूप अज्ञान की निवृत्ति हो जाती

है और अज्ञान की निवृत्ति होने पर माया, ममता, सुख-दुःख, शोक, भय, मान-अभिमान, राग, द्वेष, हिंसा, लोभ, क्रोध, मद, मोह, मात्सर्य और दया प्रभृति अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। उस समय केवल विशुद्ध चैतन्य की स्फूर्ति पा सकता है। इस प्रकार केवल चैतन्य के स्फूर्ति पाने का नाम जीवद्दशा में जीवन्मुक्ति और अन्त में निर्वाण प्राप्त करना ही है।

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत् स्मृतिम्।
अद्वैतं समनुप्राप्य जड़वल्लोकमाचरेत्॥

—माण्डुक्य कारिका, २।३६

आत्मतत्त्व का ज्ञान होने से द्वैत प्रपञ्च की निवृत्ति होकर सभी प्रकार के अनर्थों का निवारण भी हो जाता है अर्थात् उस समय फिर किसी प्रकार का द्वैतज्ञान शेष नहीं रह जाता। अतएव आत्मा अद्वैत है और आत्मा के अद्वैतरूप को जान लेने पर "सोऽहम्" अर्थात मैं भी वही ब्रह्म हूँ, इस प्रकार का ज्ञान हो सकता है। उस समय वह ज्ञानी व्यक्ति जड़वत् निश्चेष्ट हो जाता है अर्थात् फिर कोई लौकिक व्यवहार उसके द्वारा नहीं हो सकता।

निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत्॥

—माण्डुक्य कारिका, २।३७

तत्त्वज्ञ यति (जितेन्द्रिय) व्यक्ति किसी की स्तुति या वन्दना नहीं करता। स्वधा, स्वाहा, शब्दादि प्रयोगद्वारा पितृकार्यादि भी नहीं करता। वह देव पूजादि सभी प्रकार के कर्मयोग को परित्याग कर देता है। उस समय वह पारमहंस्य प्रव्रज्यादि धर्मग्रहण करके ब्रह्म-तत्त्व का अनुसन्धान करता है। उस समय उसे यह ज्ञान हो जाता है कि :—"चलं शरीरं प्रतिक्षणमन्यथाभावात्।"—देह के सर्वदा ही

अन्यथाभाव के कारण देह चल है। अर्थात् वह चिरस्थायी नहीं है। "अचलमात्मतत्त्वम्" केवल आत्मतत्त्व ही अचल है। अर्थात् वह चिरकाल पर्यन्त एक ही भाव से रहती है। अतएव आत्मतत्त्व परि-ज्ञान का पारदर्शी यति यादृच्छिक अर्थात् अयत्नलभ्य कौपीनादि और एक ग्रासमात्र भोजनादि द्वारा परितुष्ट होता है। भगवान् ने कहा है कि :—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

—गीता, २।५६

दुःख और कष्ट से जिसका मन उद्विग्न नहीं होता और सुख भोगने पर भी जिन्हें स्पृहा नहीं होती, एवं अनुराग, भय, क्रोध, प्रभृति को परित्याग करने की क्षमता जो रखते हैं, उन्हीं को यथार्थ "स्थित-प्रज्ञ" मुनि कहा जाता है। यही वास्तविक जीवन्मुक्त अवस्था है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

—योगवाशिष्ठ

जिस व्यक्ति के द्वारा लोगों को उद्वेग न हो एवं लोगों से भी जो व्यक्ति उद्विग्न न हो तथा जो हर्ष और क्रोध से मुक्त हो जाय वही जीवन्मुक्त कहाता है।

साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन् पीडयमानेऽपि दुर्जनैः।
समभावो भवेद् यस्य स जीवन्मुक्तलक्षणः ॥

—विवेकचूड़ामणि

साधुगणद्वारा पूजित होने अथवा दुर्जनों द्वारा पीड़ा प्राप्त होने

पर भी जिसका चित्त दोनों अवस्था में ही समभाव से अवस्थित रहता है, वही जीवन्मुक्त पुरुष कहलाता है।

एकाकी रमते नित्यं स्वभावे गुणवर्जिते ।
ब्रह्मज्ञानरसास्वादे जीवन्मुक्तः स उच्यते ।।

—जीवन्मुक्ति गीता

जो स्वाभाविक गुणवर्जित होकर ब्रह्मज्ञानरूप रस का आस्वादन करने के निमित्त सर्वदा ही अकेला अवस्थान करना पसन्द करता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है।

यशः प्रभृतिको यस्मै हेतुनैव विना पुनः ।
भोग इह य रोचन्ते जीवन्मुक्तः स उच्यते ।।

—योगवाशिष्ठ

रोगादिकारण के व्यतिरेक से स्वभावतः यश, पुण्य, ऐश्वर्यादि भोग में जिसे रुचि न हो, वही जीवन्मुक्त कहलाता है।

चिन्मयं व्यापितं सर्वमाकाशं जगदीश्वरम् ।
संस्थितं सर्वभूतानां जीवन्मुक्तः स उच्यते ।।

—जीवन्मुक्ति गीता

समस्त आकाश में परिव्याप्त जो चैतन्यस्वरूप जगदीश्वर है, उसे जो समस्त जीवों की अन्तरात्मा के रूप में जानता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है ।

चिदात्मन इमा इत्थं प्रस्फुरन्तीह शक्तयः ।।
इत्यस्याश्चर्यजालेषु नाभ्युदेति कुतूहलम् ।।

—योगवाशिष्ठ

संसार में जितनी वस्तुएँ प्रकाश पा रही हैं, वे सभी चिदात्मा की शक्ति के रूप में हैं, इस प्रकार के ज्ञानद्वारा जीवन्मुक्त व्यक्ति को किसी आश्चर्य कारक व्यक्ति से कुतूहल नहीं होता ।

जीवः शिवः सर्वमेव भूते भूते व्यवस्थितः।
एवमेवाभिपश्यन् यो जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

—जी० गीता

यह जीव ही शिवस्वरूप है और वही सर्वत्र समस्त भूतों में प्रविष्ट होकर विराजित है। इस प्रकार देखने वाला ही जीवन्मुक्त होता है।

तत्त्वविचार और निष्काम क्रमानुष्ठानद्वारा आवरणशक्तिसम्पन्न तमोराशि क्रमशः विदूरित होने से हृदयाकाश निर्मल होकर तत्त्वज्ञान का उदय होता है। यथा :—

ज्ञानं तत्त्वविचारेण निष्कामेनापि कर्मणा।
जायते क्षीणतमसां विदुषां निर्मलात्मनाम् ॥

—महानिर्वाणतन्त्र, १४।११२

योगसाधनद्वारा साधक हृदयस्थित द्वीपकलिकाकार जीवात्मा को मूलाधारस्थित कुण्डलिनीशक्ति सहित षट्चक्र को भेद कर शिर-स्थित अधोमुख सहस्र दल कमल कर्णिका के मध्यगत परमात्मा से संयोग करके उससे क्षरित ( टपकने वाली ) सुधा को पान करते हुए परमानन्द और परमज्ञान को प्राप्त होता है। वह समाधि अवस्था में इस प्रकार ईश्वर के स्वरूप का दर्शन कर उसके प्रति दृढ़ भक्ति और अहैतुक प्रेमभाव बढ़ाता है। उस समय सायुज्य बल, सारूप्य बल, अथवा अन्य जितने भी बल हैं, वे सभी प्राप्त किये जा सकते हैं। उस दशा में फिर उस श्यामसुन्दर चिद्घनरूप को भुला नहीं जा सकता। उस दशा में विशिष्टरूप से यह समझा जा सकता है कि पुत्र कलत्रादि अथवा धनैश्वर्य असार हैं, देह, चन्द्र, सूर्य, रूप-रस आदि कुछ भी नहीं है, मदन, वसन्त, कोकिल, मलय, आदि कुछ भी नहीं हैं—तभी योगी आदि-अन्त-मध्यहीन चराचर विश्वव्यापी विश्व-

रूप का दर्शन कर सकता है।—जिनके अनन्त मुख, अनन्त नयन, अनन्त बाँह, अनन्त उरू, अनन्त कोटि सूर्य के समान प्रभाववान्, त्रिकालस्थित, सुरासुर-नर-नागादि जिसमें भग्नांशरूप से अन्तर्भूत हैं, प्रलयादि संक्षुब्ध (प्रलय की लहर) जिसके विश्व उदर में होते हैं, जिसके करोड़ों मुख में कराल दंष्ट्रायें ( डाढ़े ) हैं, उनचास वायु जिसके निश्वास में रहती हैं, अघटन-घटना-पटीयसी माया जिसकी शक्ति के रूप में है, वही ब्रह्माण्ड भाण्डोदर विश्वरूप सनातन सुन्दर पुरुष है। सुन्दर प्रेम में असुन्दर निमग्न हो जाता है सत्यस्वरूप के सत्य-ज्ञान से असत्य दूर हो जाता है। कामना वासनारूप मलिनता गलाकर बाहर निकल जाती है। प्रकृति पुरुष के महारस में महामञ्च पर आनन्द पूर्वक मत्त होकर एकलय हो जाती हैं।

इस प्रकार का दर्शन होने पर साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। ब्रह्मज्ञान का विचार करनेवाले केवल ज्ञाननिष्ठ मनुष्य के देहत्याग से जो मुक्ति होती है, वह जीवद्दशा में ही हो सकती है। यथा :—

नृणां ज्ञानैकनिष्ठानामात्मज्ञानविचारिणाम्।
सा जीवन्मुक्ततोदेति विदेहान्मुक्ततैव या॥
—योगवाशिष्ठ

इहलोक में जो जीवन्मुक्त है, परलोक में वही निर्वाणमुक्ति का अधिकारी होता है। अन्यथा जो इहलोक में ज्ञानान्ध है, परलोक में वह उससे भी अधिक ज्ञानान्ध रहता है। अतएव पाठक! यह सोचकर कि परलोक में परमगति प्राप्त होगी, निश्चिन्तभाव से कालक्षेप करते रहिए। क्योंकि साधनाद्वारा जीवन्मुक्त होना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है।*

---

* हमारे "प्रेमिकगुरु" नामक ग्रन्थ में मुक्ति और उसकी साधना के विषय में विस्तारपूर्वक आलोचना की गई है। उक्त पुस्तक का "जीवन्मुक्त" शीर्षक देखिए।

# योगबल से देहत्याग

रोगशय्या पर सोकर रोगयन्त्रणा भोगते हुए अथवा अन्य किसी दैव दुर्विपाक से मृत्यु के ग्रास न होकर योगिगण योग के द्वारा ही देहत्याग किया करते हैं। इस बात पर विश्वास न करते हुए भी हिन्दूमात्र इस बात को जानते हैं। यदुवंश का नाश होने पर रेवती-रमण बलदेव जी ने योग के बल पर ही देहत्याग किया था। श्रीमद्भागवत ने लिखा है कि विदुर ने उद्धव से इच्छामरण की शिक्षा प्राप्तकर धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती के साथ हिमालय में योगबल से देहत्याग किया था। महापापी और दुराचारी व्यक्ति भी यदि योगबल से देहत्याग कर सके तो अवश्य ही वह इस प्रकार महामुक्ति पा सकता है :—

योगी सिद्धासन से बैठकर प्रथमतः नवद्वारों का रोध करें। अर्थात् दोनों हाथों के दोनों अंगूठों से दोनों कानों के छिद्र बन्द करें, तर्जनी अंगुलियों से दोनों नेत्रों तथा मध्यमा अंगुलियों द्वारा दोनों नासापुटों एवं अनामिका और कनिष्ठा के अंगुलियों द्वारा मुखविवर को बन्द करके गुल्फ (एड़ियों) द्वारा गुह्यस्थान का अवरोध करे। इसके बाद कुण्डलिनी उत्थापन की क्रिया के अनुसार श्वास के साधन से पञ्चप्राण पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय और मन के साथ जीवात्मा की कुण्ड-लिनी की सहायताद्वारा मूलाधारपद्म से क्रमशः अधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध एवं ललनाचक्र भेदकर भ्रुवों के मध्य आज्ञाचक्र में निरुद्ध करे। उस समय नासिका मुक्त करके बाहर की वायु को आकर्षण करते हुए गुह्य देश को संकुचित करके कुम्भक करे और योनिमुद्रा का अवलम्बन करे।* इतना करने पर उसी दण्ड (घड़ी)

---

*नयन श्रवण मुक्त लिङ्ग मलद्वार।
मुहूर्तके रोध तबे करिबे आवार॥ —श्रीमद्भागवत

मात्र में ही प्राणवायु महातेज से ब्रह्मरन्ध्र को भेदकर बाहर पर-ब्रह्म में मिल जाती है। इसी रूप से जीवात्मा की महामुक्ति साधना होती है।

इस प्रकार योगमार्ग से देहत्याग करते समय भीतर शरीर में जो-जो क्रियायें होती हैं, उन्हें योगबल से योगिगण प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। देहत्याग के समय प्रथमतः स्थूलदेह में वह वायु साधनप्रणाली का अवलम्बन करके ज्योति का स्पन्दन स्थिर करता है; अर्थात् धुआँ या माया को उत्पन्न नहीं होने देता। क्योंकि किसी भी प्रज्वलित दीपक से बहिर्वायु का संयोग होने पर धुयें की उत्पत्ति होती है; किन्तु यदि आभ्यन्तरिक एक अन्य दिव्य शक्ति के संयोग से उस धुयें के कारण को संवरण करके पूर्ण प्रदाह (ज्वाला) उत्पन्न किया जा सके तो निर्धूमज्योति स्वतः ही उपस्थित हो जाती है। इसी ज्योति का नाम ज्ञान है। यही अन्तर्निहितशक्ति या ज्वलन्त अग्नि है। जीवात्मा सुषुम्ना के आवर्त से आज्ञाचक्र में आकर इस ज्योति को खींच लेती है। इसी ज्योति का नाम कुण्डलिनी है। यही अन्तर्निहित शक्ति है जिसके द्वारा आत्मसंवरण और प्राकृतिक बाह्याकर्षण संवरण किया जा सकता है। समस्त शिक्षित व्यक्ति इस बात को भली भाँति जानते हैं कि पृथ्वी की मध्यशक्ति को प्रबुद्ध (जागृत) करके यदि किसी प्रकार सूर्यलोक में पहुँचाया जा सके तो पृथ्वी अपनी कक्षा से हटकर पिंड की तरह लीन हो जायेगी और चन्द्रमा भी आकर्षण-च्युत होकर सूर्य में मिल जायगा। किन्तु इस प्रकार की घटना अभी तक इस जड़ सौर जगत् में भी नहीं हो सकती है; हां अतीन्द्रिय सौरजगत् में अवश्य हुई है। यहाँ प्राण कुण्डलिनी-शक्ति के सहयोग से अर्चिः-पथ में पहुँच जाता है। कुण्डलिनी के दो प्रकार के स्पन्दन होते हैं, वही जीव के दो निश्वास या योग अथवा चन्द्र-सूर्य के आकर्षण हैं। एक कोन झुकाने से कुण्डलिनीशक्ति

निश्चितरूप से दोनों मार्गों में हिल-डुल सकती है। इसी के फल-स्वरूप पितृयान की सृष्टि होती है। किन्तु उद्बोधिता शक्ति स्पन्दन-मुक्त होने से ज्योतिर्वत्म सूर्यलोक में पहुँच जाती है। प्रथमतः इस प्रक्रिया द्वारा द्वादशराशि और चन्द्रादि के आकर्षण बचाकर, अथवा देश-काल प्रभृति चैतन्य से दूर रहकर दीर्घस्थानीय सूर्य-मण्डल अथवा सहस्रार में पहुँच जाती है। जहाँ वह बिजली के समान शोभा पाती है। नेत्र प्रस्फुटित होते और अन्त में ब्रह्मरन्ध्र को भेदने के समय वहाँ से श्रीगुरुरूपी महापुरुष जीवात्मा को ब्रह्मलोक में ले जाते हैं।

सारांश पूर्वोक्त अभ्यासों द्वारा पारदर्शी हुए विना कोई भी व्यक्ति देहयोग का अवलम्बन नहीं कर सकता। उपयुक्त रूप से शिक्षा-प्रणाली जान सकने पर सहज ही में देहयोग के अभ्यास द्वारा जीवात्मा को मुक्त किया जा सकता है।

# उपसंहार

अन्त में उपसंहार के समय दीन ग्रन्थकार का निवेदन यही है कि सभी लोग एक बार करके देखें कि अधर्म प्रणोदित होकर मनुष्य कितने परिश्रम से और कष्ट पूर्वक अर्थोपार्जन करता है, किन्तु जब हम उस अज्ञात प्रदेश में चले जायेंगे तो वहाँ मार्गव्यय के लिए एक पैसा भी साथ में नहीं ले जा सकेंगे। जिन स्त्री-पुत्रादिओं को सुखी करने के लिए चोटी का पसीना एड़ी तक पहुँचा कर हिताहित ज्ञानशून्य होकर अनेक प्रकार के गर्हिताहरण किये हैं; उन स्त्री-पुत्रादि में से कोई भी साथ नहीं चलता। उस समय स्त्री, पुरुष, धन, जन, सेवक, स्वामी, शास्त्री आदि किसी के द्वारा भी कोई उपकार नहीं हो

सकता। स्वतः ही यन्त्रणा भोगकर नेत्रों के जल से वक्षस्थल को भिगोना पड़ता है। इस प्रकार जब कि अधर्म का आश्रय लेकर दूसरों का अहित करते हुए अर्थ का उपार्जन और सञ्चय किया गया है; तो फिर उस द्रव्यद्वारा हमारा क्या उपकार हो सकता है? कुछ भी नहीं। प्रत्युत उसके कारण तीव्र यातना अवश्य भोगनी पड़ती है। इसी कारण शास्त्रों में कहा है कि—

वरं दारिद्र्यमन्यायप्रभवाद् विभवादपि।
क्षीणता पीनता देहे पीनता न तु रोगजा॥

दरिद्र रहकर दुःख भोगना भला है; किन्तु अन्यायपूर्ण उपाय द्वारा वैभवशाली होना भला नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार स्वस्थ क्षीणशरीर श्रेष्ठ होता है; किन्तु रोगयुक्त मुटापा भला नहीं।

शास्त्रों में यह भी कहा गया है कि धन ही बल है और जीवन ही बल। किन्तु तृण-पत्र में गये हुए जल की तरह चञ्चल होने से मनुष्य के लिए उचित है कि वह धर्माचरण करे। इससे इहकाल में कीर्ति और परकाल में मनुष्य अनन्तसुख का अधिकारी हो सकता है। इस अस्थायी किन्तु परम दुर्लभ मानवदेह को धारण करके जो व्यक्ति धर्मोपार्जन नहीं करता; उसका जीवन वृथा है और वह परकाल में दुःख भोगता है। यथा :—

यस्य त्रिवर्गशून्यस्य दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति॥

—महाभारत

धर्मोपार्जन के विना ही जिस मनुष्य के दिन आते और चले जाते हैं, वह लोहार की धौंकनी के समान निश्वास-प्रश्वास करके भी जीवित नहीं कहा जा सकता अर्थात् उसका जन्म वृथा होता है।

यथार्थ में वंशमर्यादा के कारण या विषय-वैभवाग्नि से मनुष्य उच्च नहीं कहा जा सकता, वरन् ज्ञान और गुण से ही मनुष्य की महत्ता है। क्योंकि :—

विद्या वित्तं वपुः शौर्यं कुले जन्म निरोगिता।
संसारोच्छित्तिहेतुश्च धर्मादेव प्रवर्तते ॥

—महाभारत

विद्या, वित्त (धन), शरीर, शौर्य, उत्तमकुल में जन्म और आरोग्य ये सब सांसारिक बन्धन से मुक्त होने के लिए धर्म से प्रसूत होते हैं। किन्तु आधुनिक विवेकवादीगण अपनी विकृत बुद्धि को ही "विवेक" मानकर विषम अनर्थोत्पादन कर रहे हैं। वे लोग विवेक की दुहाई देकर ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न, योगबलवाले आर्य-ऋषियों के प्रणीत शास्त्रों में अविश्वास प्रगट कर प्रत्यवाय के भागी होते हैं। प्रकृत तत्त्व जानने के लिए शास्त्र का आश्रय और शास्त्रवाक्य में विश्वास हुए बिना कोई उपाय नहीं है। जो लोग धर्म-कर्म में स्वेच्छाचारी होकर स्वकपोल-कल्पित मत को स्थापित करने के लिए प्रयास कर रहे हैं और जो पाश्चात्य देश से आई हुई "विवेकबुद्धि" को धारण करके विजातीय शिक्षा से विकृत मस्तिष्क होकर अपने आर्यशास्त्रों के प्रति अविश्वासी हैं और जो शास्त्रवचन की उपेक्षा करते हुए विषयविषविदग्ध चित्त से चञ्चल बुद्धि के द्वारा परि-चालित होकर धर्मानुष्ठान करते हैं; वे इस जन्म में सुख और पर-जन्म में परम गति प्राप्त नहीं कर सकते। जो विवेक की दुहाई देकर अपने मतलब के अनुसार कार्याकार्य का विचार करते हैं, उन्हें यथार्थ में विवेक शब्द का अर्थ ज्ञान ही नहीं है। जीव की बुद्धि उसके संस्करा-नुरूप गठित हो सकती है, अतएव उसमें कार्याकार्य विचार की शक्ति कहाँ से और कैसे हो सकती है? जो लोग विषय-सम्पत्ति और ख्याति-प्रतिपत्ति को ही प्राणतोषक और मुखरोचक जानकर उन्हीं की

आशा में पापशय्या सजाकर अनेक प्रकार के मन्द कर्म करते हैं, उनके लिए धर्म भयानक अरुचिकर और अतृप्तिकारी ही होता है। जिन व्यक्तियों का हृदय स्वार्थ परिपूर्ण होता है, उनके द्वारा किसी समय और किसी भी देश में वहां के जन-समाज का हित नहीं हो सकता। जो सुशिक्षित व्यक्ति गीता की दुहाई देकर अधर्म का प्रचार करते हैं, उन्हें भगवान् का यह. वचन सदैव स्मरण रखना चाहिए कि :—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मांचैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्धयासुरनिश्चितान्॥

—गीता

जो अशास्त्र-विहित तपस्या करते हैं एवं दम्भ, अहंकार, काम, राग आदि से युक्त होकर दुराग्रह के बल पर शरीरस्थ भूत-समूह को कष्ट देते हुए आत्मस्वरूप (मुझ) को भी कृश कर डालते हैं; उन्हें निश्चय पूर्वक विवेक-हीन असुर समझना चाहिए।

अतएव इस बात को सभी लोग भलीभाँति समझ सकते हैं कि आधुनिक सभ्यता-फैशन-के बाबुओं की खामखयाली और मनगढ़न्त उपासना किसी भी काम की नहीं है। बरन् जातीयधर्म और शास्त्रानुसार धर्माचरण करना ही सभी का कर्तव्य है। यदि कोई व्यक्ति गीता के इन दोनों ही श्लोकों को क्षेपक या स्वार्थ गाथा कहने लगे तो हम विवश हैं। यथार्थं जिसको जिस बात का अधिकार नहीं है, उसमें उसके द्वारा हस्तक्षेप किया जाना देश और समाज के लिए अनिष्टकारक ही होता है। आत्माभिमान से पूर्ण होकर वे स्वतः तो प्रवञ्चित होते ही हैं, किन्तु नाना उपायों से दूसरों को भी धोखा देते हैं। महात्मागण इन सभी व्यक्तियों को वञ्चक कहते हैं। यथा :—

गृही होके कहे ज्ञान । भोगी होके लगावे ध्यान ।
योगी होके ठोकै भग । तीनों आदमी महा ठग ।।

अर्थात् गृहस्थ होकर जो ब्रह्मज्ञान की बात कहता है और भोगी होकर ध्यान के अनुसन्धान में रत एवं योगी होकर स्त्री सहवास करता है; इन तीनों को महाठग ( वञ्चक ) समझना चाहिए ।

इनके अतिरिक्त एक श्रेणी के लोग और होते हैं जो गैरिक वस्त्र धारण कर जटाजूट बढ़ाते और विभूति या चन्दन के द्वारा तिलक छापा लगा कर बाहर से साधु-महासाधु का रूप बनाते हैं; किन्तु अन्तर में विषयचिन्तन एवं कपट-कुटिलता, स्वार्थपरता, हिंसा, निन्दा और अहंभाव से परिपूर्ण होते हैं। इस प्रकार वर्णचोर एवं पाखण्डियों में कोई कोई अन्न-भोजन त्यागकर वीरता भी दिखाते हैं। अतः अनेक अबोध व्यक्ति भ्रम में पड़ कर इन वचन-वागीश व्यवसायियों के शिष्य भी बन जाते हैं। इस प्रकार के पाखण्डी तान्त्रिक (माताल) और गौड़ीय वैरागी (वैताल) ही देशों का सर्वनाश कर रहे हैं।

अभिमानं सुरापानं गौरवं रौरवं ध्रुवम् ।
प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा त्रयं त्यक्त्वा हरिं भजेत् ।।

(अतएव) अभिमान को सुरा (मदिरा) के समान और गौरव को रौरव के समान तथा प्रतिष्ठा को शूकरीविष्ठा के समान जानकर त्याग देना और साधन भजन करना चाहिए ।

अन्यथा वसन या आसन, अशन या अनशन अथवा रसना द्वारा भाषण से और असल के अभाव में नकल से कुछ भी सफलता नहीं होगी । महात्मा कबीर दास कहते हैं :—

मुंड मुडाये जटा रखाये मस्त फिरे जैसा-भैंसा।
खाल के ऊपर खाक लगाये मन जैसा का तैसा ।।

सारांश, चित्त शुद्धि हुये विना ये सभी वेष-भूषा निष्फल ही हैं। इसीलिए कहना पड़ता है कि पाखण्डवाद में फँसकर मानव जीवन को नष्ट न करते हुए अहङ्कारादि आशाओं को त्यागने से फिर बन्धन में नहीं फँसना पड़ता और अनायास ही त्रिताप मुक्त होकर निर्वाणमुक्ति प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य अपने को मारने या तारने वाला आप खुद ही है; क्योंकि वासना ही समस्त विषयों की उत्पादिका है। अपने मन ही मन वासना का त्याग करते हुए देखने से वह अपने को भी नहीं दिखाई देगी। इसी प्रकार कामना का त्याग कर सकने से पुनः जनसाधारण की भाँति शरीर धारण न करके सर्वाधार परब्रह्म में लीन हो सकते हैं।

संसार में धर्म-कर्म, चरित्ररक्षा, अथवा साधना-तपस्या की विशेष आवश्यकता होती है। संसार के सभी भाव, सभी चिन्तन और समस्त कामनाएँ अभ्यास से ही पुष्ट होते हैं। जो काम नित्य किया जाता है, वह एक प्रकार के आत्मिक-संस्कार या प्रकृतिगत हो जाता है। अतएव जीवन में मनुष्य प्रतिदिन जो अभ्यास करेगा। जीवन की अन्तिम घड़ी तक उसी की शक्ति सबसे अधिक कार्यकारी होने की सम्भावना रहती है। कर्म और कामना के अनुसार मनुष्य के गठन में जब परिवर्तन या विकृति होती है तब मानसिक प्रकृति भी उसी के साथ विशेषरूप से परिवर्तित हो जाती है। इसे विशेष बुद्धि-पूर्वक विचार करने से भी समझना कठिन ही है।

इसके बाद यदि एक ही बात में जीवन का उद्देश्य समझने का प्रयत्न किया जावे तो यही सिद्ध होगा कि जीवन केवल मृत्यु के लिए ही आयोजित है। संसारी, संन्यासी, त्यागी, भोगी सभी आजीवन

मृत्यु के ही पूर्व-प्रवन्ध की योजना में व्यस्त रहते हैं। दाता, कृपण, विलासी, वैरागी, सबके जीवन का एकमात्र लक्ष्य मृत्यु या मनुष्य जीवन का अवसान ही होता है। कारागार में फँसा हुआ व्यक्ति भी सभी प्रकार के कष्ट सहन कर जैसे अपनी मुक्ति-स्वाधीनता-प्राप्त करता है, उसी प्रकार देहवद्ध जीव का भी जीवनक्रम भी कटता चला जाता है। संसार में दूत ने अधिक विभिन्न जातीय मनुष्यों के द्वारा प्रयत्न होते देखकर भी, उनका लक्ष्य एक ही प्रतीत होता है, वह यह कि अदृष्ट के अनुसार उनके प्रकारों में भिन्नता हो जाती है। क्या चोर और क्या साधु दोनों ही जब कामनाओं के दास होते हैं, तब उनकी कामना के स्वरूप को समझने में ही भेद हो सकता है। अतएव भला करके उत्तम (भले) मरण का आयोजन कर सकने से 'भले या श्रेष्ठ' की उपासना में ही जीवन उत्सर्ग कर देना एकमात्र अनिवार्य साधना-रूप बन जाता है। क्योंकि शुभकामना या भले विचार का जीवनी में विशेष अभ्यास होने या उनके प्रकृतिगत हुए बिना किसी के लिए भी मृत्यु की यातना अथवा अन्तिम विदाई के व्यस्त कोलाहल में मन को विचलित होने से रोक सकना असम्भव ही है। जो भोजन किया जाता है, उस पर भी डकार आती है। इसी कारण कहना पड़ता कि कामना या लालसा दो घड़ी का विचार मात्र ही नहीं है, वह तो अनन्त की परमाणु के रूप में है और संस्काररूप से वह आत्मा का आवरण बन जाती है। यह संस्कारभेद ही साधु-असाधु के बीच का व्यवधान होता है। संसार को बुरालोक मानकर कोई व्यक्ति जन्म ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार कामना या कर्म के भले बुरेपन के अनुसार अदृष्ट ( भाग्य ) की उन्नति का तारतम्य होता है। इसीलिए कामना को मनुष्य के भाग्य का दूसरा आधार माना जाता है। अदृष्ट या भाग्य क्या वस्तु है, इसे कहकर नहीं समझाया जा सकता। अर्थात् अदृष्ट अदृष्ट ही है, वह देखा—या दिखाया नहीं जा सकता। वह ख्याल या भग्नता की सफाई अथवा साक्षी नहीं माना जा सकता।

सभी लोग जानते हैं कि मृत्युपति धर्मराज के पार्श्व में चित्र-गुप्त नाम के एक पार्षद हैं और उसके विराट खाते में हमारे पाप-पुण्य, धर्माधर्म का लेखा रहता है। किन्तु इसका असल भावार्थ केवल इतना ही होता है कि चित्रगुप्त अर्थात् इस लोक में जनता की आँखों में धूल झोंककर गुप्तरूप से पापकर्म करके उन्हें पचाया जा सकता है, किन्तु वहाँ परलोक में हमारे वे सब गुप्तचित्र अङ्कित रहते हैं, अतएव उनसे सर्वथा निस्तार नहीं हो सकता। इसलिए सभी का कर्तव्य है कि अपने-अपने वर्णाश्रमधर्म का पालन करके विकारों को वशीभूत करे। अर्थात् परदारा, परद्रव्यलोभ, परस्वापहरण, परनिन्दा, द्वेष, हिंसा एवं परपीड़नादि कर्म न करके सत्य, दया, शान्ति, क्षमा आदि सदिच्छाओं के वशीभूत होकर सर्वदा परोपकार में तत्पर रहे और देव, ब्राह्मण, अतिथि, पिता, माता एवं गुरुजनों के प्रति भक्ति रख-कर उनकी सेवा करे। आहार, विहार, शयन, गमन, अथवा अन्यान्य समस्त कार्यों में प्रवृत्त होते समय तथा वैसे ही मनुष्य जब अपने काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सरादि को मन में रखते हुए भी अपने इष्टदेव के चरणों में मन-प्राण के सहित आत्म-समर्पण करना सिखाता है और जब इष्टदेव से अपने को भिन्न नहीं समझता तब समस्त सिद्धियाँ अपने आप आकर उपस्थित हो जाती हैं।

पाठक ! इस पुस्तक में लिखित विषय हमारी पुस्तकीय विद्या नहीं है अथवा किसी विशेष स्वार्थवश होकर भी हम इस पुस्तक का प्रचार नहीं कर रहे हैं; वरन् हिन्दूधर्म के अनुशीलन से हमने जो अपार्थिव परमानन्द प्राप्त किया है, अपने देशवासियों को उसका अंश-भागी बनाना ही हमारा उद्देश्य है। ईसाई, मुसलमान, शाक्त, वैष्णव बौद्ध, ब्राह्मण, सभी अपने सम्प्रदाय के भावों को यथावत् रखकर इसमें बताई हुई अनुकूल-साधनाद्वारा सिद्धि लाभ करते हुए मानव जीवन का पूर्णत्व साधन कर सकते हैं और मर्त्य जगत् में अमरत्व

लाभ कर सकते हैं। हिन्दूधर्म के किसी जटिल रहस्य को जानने की इच्छा से हमारे पास पत्र लिखने पर सप्रेम उत्तर दिया जायगा। इसी प्रकार प्रकृत अधिकारी होकर हमारे पास आने पर सप्रेम और यत्नपूर्वक योग और तन्त्रोक्त साधन-प्रणाली सिखाई जा सकेगी। देशके लिए राष्ट्रीय-जीवन प्रतिष्ठा का समय उपस्थित हो रहा है, इसीलिए हमारा यह विराट् आयोजन है। धर्मबल के सुदृढ़ हुए बिना कोई भी कभी किसी विषय में उन्नति लाभ नहीं कर सकता। जीवन का प्रथम कार्य चरित्र गठन है। जिसमें चरित्रबल नहीं है, वह कभी उन्नति के पथपर अग्रसर नहीं हो सकता। इसीलिए कहना पड़ता है कि राष्ट्रीय धर्म, जातीय आचार-व्यवहार के प्रति अविश्वास प्रगट करने से जगत् का अज्ञान तिमिराच्छन्न प्रदेश छिप नहीं सकता। केवल ग्रन्थ के अध्ययन से ही ज्ञान नहीं हो पाता, उसकी प्राप्ति साधना के द्वारा ही होती है। साधन-बलहीन, कामकलुषित जीव की विद्या केवल पक्षी ( सुग्गे ) को हरिनाम-शिक्षा देने के समान है। अनधिकारी जब शास्त्रपाठ करने में प्रवृत्त होता है तो उसकी दृष्टि में सभी बातें विकृत विश्रृङ्खल और विसंवादी प्रतीत होती है। अतएव पहले योग्य साधनबल संग्रह करके, यह देखना चाहिए कि हिन्दूधर्म किस प्रकार गम्भीर, सूक्ष्म, आध्यात्मिक विज्ञान से परिपूर्ण है। इस बात को समझने की चेष्टा करने से पता लग सकेगा कि हमारे आर्य ऋषियों के युग युगान्तर से आविष्कृत शास्त्रों में कितने अमूल्य रत्न संगृहीत हैं। हिन्दूधर्म अलंघ्य प्रमाणों की सुदृढ़ नींव पर बद्धमूल होकर स्वयं सिद्ध ब्रह्म-विद्या के रूप में चिरकाल से विद्यमान है। इतनी उदार और उच्चशिक्षा अन्य किसी भी धर्म-सम्प्रदाय में दृष्टिगोचर नहीं होती। हिन्दूधर्म के उदार-हृदय में समस्त जनता को स्थान देने के लिए गुञ्जायश है और इसीलिए वह प्रचलित किया गया है। अतएव सामान्य जनता की धर्माचरण पद्धति देखकर कोई

भी इसे कुरूढ़िग्रस्त या अज्ञानपूर्ण शून्योच्छ्वास न समझे। अपनी क्षुद्र बुद्धिद्वारा जो बात समझी न जा सके उसे मिथ्या या कुसंस्कार कहकर उड़ा देने से विज्ञजन हमें कभी अभिज्ञ नहीं कहेंगे। वरन् अनभिज्ञ कहकर ही अवज्ञा करेंगे। इस पुस्तक में लिखित साधना में यदि कोई सफल होगा तभी वह हिन्दूशास्त्रों का महत्त्व समझने के लिए सक्षम हो सकेगा।

अतएव हमें अनुसन्धानपूर्वक-साधना द्वारा सनातन हिन्दूधर्म के पूर्व गौरव को जागृत और पूर्वपुरुषों की महिमा को अक्षुण्ण रखने की चेष्टा करनी चाहिए तथा स्वयं भी दुर्लभ मानवजीवन का सदुपयोग करके कृतकृत्य ( धन्य ) होना चाहिए। अन्त में हम भी "सत्यमेव जयते नानृतम्" कहकर पूर्णानन्द से आनन्दकन्दसम्भूत दिव्यज्योतिस्वःरूप परमपुरुष के हरि-हर-विरञ्चि-वाञ्छित पदद्वन्द्वारविन्द की वन्दना करते हुए भक्त भ्रातृवृन्दों से विदा होते हैं।

आनन्दकन्दसम्भूतं ज्ञाननालसुशोभनम्।
त्राहि मां नरकाद्घोराद्दिव्यज्योतिर्नमोऽस्तु ते॥

ॐ शान्तिरेव शान्तिः ॐ

॥ सम्पूर्णम् ॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

आसाम-वङ्गीय सारस्वत मठ के प्रतिष्ठाता
परमहंस परिव्राजकाचार्य

## श्रीमत् स्वामी निगमानन्द सरस्वतीदेव प्रणीत

# सारस्वत ग्रंथावली

१. ब्रह्मचर्य-साधन या ब्रह्मचर्य पालन की नियमावली। इस पुस्तक में ब्रह्मचर्य साधना की धारावाहिक नियमावली व उनकी उपकारिता सुश्रृङ्खल और सरल भाषा में विवेचित की गई है एवं ब्रह्मचर्य रक्षाकी बहुतसी योगोक्त साधन-प्रणालियोंका भी वर्णन है।

२. योगीगुरु या योग और साधना की पद्धतियां। इस पुस्तक में सहज उपायसे योग-साधना की पद्धतियाँ सरल भाषा में वर्णन की गई हैं। यह पुस्तक चार कल्पमें खण्डित हैं—योगकल्प, मन्त्रकल्प और स्वरकल्प। योगसाधक के लिये बड़ा उपकारी पुस्तक है।

४. तान्त्रिकगुरु या तन्त्रसाधना की पद्धतियां—इस देश में तन्त्र मत में ही दीक्षा और नित्यनैमित्तिक क्रियाकलाप हुआ करते हैं। इसीलिये यह कहना वृथा है कि यह पुस्तक सर्व साधारण के लिये विशेष आवश्यक है। यह युक्तिकल्प, साधनाकल्प और परिशिष्ट—इन तीन खण्डोंमें विभक्त है। परिशिष्ट में योगिनी-साधन, सर्वज्ञतालाभ, दिव्यदृष्टिलाभ, अदृश्य होनेके उपाय, शूलरोग प्रतिकार इत्यादि बहुत विषय वर्णित है।

५. प्रेमिकगुरु या प्रेमभक्ति और साधना की पद्धतियां। इसमें मानव जीवन की पूर्णतम साधना प्रेमभक्ति और मुक्ति के विषयका विशुद्धरूप से वर्णन किया गया है। यह दो खण्डोंमें विभक्त है—पूर्वस्कंध—प्रेमभक्ति और उत्तरस्कंध—जीवन्मुक्ति।

६. माताकी कृपा—इस ग्रन्थमें एक साधकने किस तरह से साधना करके मातासे साक्षात् किया और माताने अपने श्रीमुखसे जो उपदेशामृत दिये उनका पूरा पूरा वर्णन किया गया है।

७. उपदेश-रत्नमाला—इस पुस्तकमें ऋषि और साधु महापुरुषों के कर्म, ज्ञान और भक्ति के सम्बंधमें बहुतसी आध्यात्मिक तत्त्वपूर्ण उपदेशावली निबद्ध हुई है। मूल्य ३·५० पैसे।


प्राप्ति स्थान :

**आसाम वंगीय सारस्वत मठ**
पो० हालिशहर, २४ परगणा
पश्चिम वङ्ग, ७४३१३४

**श्री काशी रामाश्रम**
D. २८।१८०, पाण्डे हवेली, वाराणसी २२१००१

**महेश लाइब्रेरी**
२/१, श्यामाचरण दे स्ट्रीट, कलकत्ता-७३

**अम्बिका पुस्तक सदन**
शङ्कर आश्रम
ज्वालापुर--२४९४०७, हरिद्वार-उ० प्र०

**धार्मिक पुस्तकालय**
विश्राम बाजार, मथुरा